WINTERNITZ

प्राचीन भारतीय साहित्य

१

प्रस्तावना

२

वेद-वेदाङ्ग

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली - वाराणसी - पटना

M. WINTERNITZ'S

INDISCHEN LITTERATUR

I. i

By arrangement with Koehler & Amelang (VOB) Leipzig
translated from the original German
and brought up-to-date, 1961,

LAJPAT RAI

@

MOTILAL BANARSIDASS
DELHI : VARANASI : PATNA

Publisher .
Sundbr Lal Jain
MOTILAL BANARSIDASS,
Bungalow Road,
Jawahar Nagar, Delhi-6

Printer :
Shanti Lal Jain
SHRI JAINENDRAPRESS,
Bungalow Road, Jawahar Nagar
Delhi-6

To be had from —

1. **MOTILAL BANARSIDASS, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Post Box 1586, Delhi-6**
2. **MOTILAL BANARSIDASS, Nepali, Khapra, Post Box 75, Varanasi**
3. **MOTILAL BANARSIDASS, Bankipur, Patna-4**

निवेदन

जैसा कि एक विज्ञप्ति मे प्रकाशको ने पहले-से ही स्पष्ट कर दिया है, प्रस्तुत योजना के अन्तर्गत ग्रन्थों का प्रकाशन ('प्राच्यविद्या' के प्रकाण्ड-पण्डितो के लिए नही) जर्मनी के साधारण-शिक्षित वर्ग को दृष्टि मे रख कर किया जा रहा है।

सो, 'प्राचीन भारतीय साहित्य की एक गाथा' प्रस्तुत करते हुए लेखक की दिशा, इतिकर्तव्यता, एवं धारा पूर्व-विनिश्चित है: क्योंकि---हमारी इस कथा का पाठक भारतीय साहित्य की गतिविधि मे सर्वथा-अपरिचित पश्चिम का वह 'अविशेषज्ञ' है जिसका उद्देश्य---फकत एक क्रम-विहीन किस्सा-कहानी पढ़ कर (अपना) फालतू-समय (जैसे-तैसे) गुजार-देना भर नही है, बल्कि---जहा तक मूल भाषाओ के परिज्ञान के अभाव मे सभव है---भारत के अन्तर्हृदय से (अर्थात् वाङ्मय की 'भारती' वृत्ति से) पूर्ण-तादात्म्य उपलब्ध कर लेना है। एक अग्रेज, जर्मन व फ्रेंच, साहित्य-सकथा का ध्येय उस-उस साहित्य का क्रमिक-विकास देकर ही परिसमाप्त हो जाता है, साहित्य के अगाग का पग-पग पर परिचय वहा अनपेक्षित है। किन्तु भारत-भारती (जिसके अनुवाद जर्मन भाषा मे, दुर्भाग्य-वश, बहुत ही कम सुलभ है) के ऐतिहासिक का गुजारा बिना मूल रचनाओं के उद्धरणों एवं कथासारो के द्वारा अपने कथानक को पुष्ट करते-चलने के असभव है। कहने का मतलब यह कि भारतीय वाङ्मय का इतिहास साथ-ही-साथ भारतीय वाङ्मय की एक रूपरेखा भी हो---जरूरी है। [उदाहरण के तौर पर---भारत का "राष्ट्रीय इतिहास-पुराण" (जिसको कि प्रस्तुत इतिकथा का एक बडा एकाश स्वतन्त्र रूपेण अर्पित भी है) बहुत-कम ही अशो मे अभी तक जर्मन रूपान्तरो मे प्रथित हो सका है, अत बिना किसी प्रकार के विशद वर्णनोपवर्णनो को यथावत् उपहृत किये इन महाप्रबन्धो की आत्मा को किचिदपि अधिगत कर सकना असभव है।]

और यही कारण है कि ग्रन्थ का कलेवर 'योजना' की पूर्व-निर्धारित परिधियो को निरन्तर लाघता ही लाघता गया यद्यपि---कुछ और कारण भी थे जिनसे कि हम एतदर्थ विवश थे, और उन कारणो मे मुख्य एक-ही वह यह कि---भारतीय वाङ्मय की सनातन-तम गतिविधि हमारे प्रस्तुत भाग का विषय है जो, कि काल-दृष्टि से विशेषत, प्राय सारी की सारी ही एक अ-विनिश्चित भाव-वृत्त की-सी

अवस्था मे अद्यावधि अनिर्णीत, अ-निरूपित, चली आती है। विपुल वेद-वाङ्मय मे, ऐतिहासिक महाकाव्यो मे, पौराणिक अनुश्रुतियो मे, शायद ही कोई कवि-कृति ऐसी हो जिसे एक निश्चयात्मक तिथि (एक निश्चित शती ही) दी जा सकती हो। वेदो के युग के सम्बन्ध मे, या महाभारत-रामायण, व पुराणो के विषय मे ही, "रचना-काल विषयक" कुछ-भी निर्णय उपस्थित कर सकना बिलकुल नामुमकिन है। किन्तु एक साधारण पाठक के संमुख यह स्वीकार कर लेने मे भी तो काम नही चल जाता कि इन प्रख्यात रचनाओ के विषय मे हमारा अ-ज्ञान "क्षन्तव्य" है, अपने अज्ञान की भी हमे कुछ निश्चित-सीमाए, आरम्भ से ही, दे-देनी होगी और अपनी उन अर्ध-निर्णीत, अ-स्थित, कल्पनाओ के वे कुछ-न-कुछ विनिश्चित आधार भी हमे दे-देने होगे। तदनुसार हमारे विवेचन का एक पर्याप्त बडा-अश स्थान-स्थान पर स्वभावत वेद, इतिहास, पुराण के तिथि-निर्णय को ही अर्पित होना था—यद्यपि वहा भी हमारा दृष्टिकोण ऐसे-स्थलो का (विशेषज्ञो के लिए कम) अपने प्रिय साधारण-पाठक के लिए कुछ सुलझा-देने का ही अधिक रहा है। इस सब के बावजूद भी यदि इन विवेचनाओ मे कुछ सामग्री ऐसी-भी आ गई है, जो स्वय विशेषज्ञो तक का—हो सकता है—कुछ-नया, कुछ अ-ग्राह्य, भी लगे—वह केवल इसीलिए कि अनुसन्धान की वर्तमान गतिविधि म ये नयी समस्याए नयी परिस्थितिया, ये नयी उद्भावनाए पिछले कुछ वर्षो से प्राच्य-शोधको का ध्यान अपनी ओर, निर्वश, आकृष्ट करती आ रही है।

टिप्पणियो मे निर्दिष्ट सकेतो व सन्दर्भो का प्रयोजन, वि-शेषेण, विशेषज्ञा के समक्ष सम्पादक के दृष्टिकोण को प्रमाण-पुष्ट समुपस्थित करने का भी रहा है, क्योकि—किसी भी देश की "शिक्षित-जनता", स्वभावत, सन्दिग्ध स्थलो के बारे मे प्रमाण-पुरुषो के निर्णय को ही यथावत् अन्तिम स्वीकार कर लिया करती है—ऐसा करना उसके लिए उचित भी है। शेष प्रसगो मे लेखक का उद्देश्य पदचन्द्रिका मे सस्कृत ग्रन्थो के उपलभ्य जर्मन (सभव हो तो अग्रेजी, फ्रेंच भी) अनुवादो का निर्देश कर देना भर है। इन विदेशी अनुवादो की सहायता हमने वही ली है जहा कि उनके रूपान्तर हमे मूल की भावना के निकट ज्यादह प्रतीत हुए है, अनिर्दिष्ट अनुवाद स्वय लेखक के (क्षम्य-प्रयास) है।

इस-सब (निवेदन) को पढ कर, अब पाठक को यह अनुभव कर सकना मुश्किल न होगा कि "प्राचीन भारतीय साहित्य" को यथा-योजनाम्—न प्र-थम कल्पम् अनतिक्रम्य यथा-स्यात्-तथा—उपस्थित कर सकना दु.साध्य था। लेखक हृदय से अपने प्रकाशको का अनुगृहीत है कि निर्धारित सीमा को परि-स्तृत करते हुए एक और, और 'एक और पूर्ण-भाग ही ग्रन्थ मे सम्पृक्त करने की

अनुमति उन्होंने सहर्ष दे-दी। प्रस्तावना के प्रथम पृष्ठ पर ही हमारी दृष्टि, सर्व-प्रथम, इस क्षेत्र-विस्तार की ओर ही, दिग्दर्शनाय-मात्रम्, गई है।

भारत के विशाल वाङ्मय का परिचयाभास "प्रागैतिहासिक" वेद-वेदाग परक प्रस्तुत निबन्ध मे आरम्भ होता है, जिसके अनन्तर महाकाव्य-पुराण के अर्ध-स्पष्ट "ऐतिहासिक पृष्ठ" हमारे ग्रन्थ के दूसरे भाग का विषय होंगे, और—अन्त मे—बौद्ध-जैन वाङ्मय के साथ ही, कही, भारत के तथा भारती के स-निथि-त, ज्ञान-काल, इति-ह-आस की भूमिका मे, अवतरित होकर ही, पाठक के समुख दृश्य कुछ विशदता के साथ उभरने-उतरने शुरू होंगे।

लेखक की अनुग्रह-आभार भूमि कितनी व्यापक है यह तो "इतिहास" के पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित टिप्पणी-गत सकेत, तत्तत्-स्थलेषु, स्वय आप कह रहे है; किन्तु वेबर के "आकादामिशे वॉर्लेसुङ्गेन उिबेर इण्डिशे लितेरातुरे-गेशिख्ते" (दूसरा सस्करण, बर्लिन, १८७६)—वह प्रमाण-ग्रन्थ कि जिसने सचमुच भारतीय-साहित्य मे इतिहास की एक नूतन (प्रथम) "प्रणाली" का ही पबत्तन कर डाला—(वेबर) का ऋण और लेपल्ड श्रेडर की स्फूर्ति-दायिनी नवोन्मेषी व्याख्यानमाला "इन्दिएन्स लितेरातुर उन्द कुल्तुर इन हिस्तोरिशेर एन्तविकलुङ्" (लाइपत्सिश १८८५) का ऋण उसका कितना है इसे पग-पग पर व्यक्त करते चलना लेखक के लिए स्वभावत असभव था। इनके अतिरिक्त ए बार्थ के "रिव् द ल्' हिस्तोये देस् रिलीजिओम् द ए ल्'इन्द" (I, III, V, XI, XIV, XXVIII, XLI, XLV, १८८०-१९०२) मे प्रकाशित "बुलेतिन्स देम् रिलीजिओम् द ल्'इन्द" का स-स्मरण भी, सर्वत्र, नही हो सका। और फिर—एच ओल्डनबर्ग के प्रतिभापूर्ण निबन्धो (दिए लितेरातुर दास आल्तेन इन्दिएन, स्तुत्तगार्त्त-बर्लिन, १९०३) की आपूर्ण भारतीय-साहित्य के प्रति एक कलाकार की भावुकता-दृष्टि—वह तो स्वभावत ही एक ऐतिहासिक की योजना के अन्तर्गत, स्वी-कृत, नही हो सकती थी। ए बाउगमार्त्तनर (गेशिख्ते देर वेरा लितेरातुर II दिए लितेरातुरेन इन्दिएन्स उन्द ऑस्तासिएन्स, ३ उन्द ४ ऑफ्ल, फ्राइबुर्ग। बॉ० १९०२) ए ए मैकडानल (ए हिस्टरी आव सस्कृत लिटरेचर, लण्डन, १९००), तथा वी हेनरी (ला' लितरातुर्स द ल्'इन्द, पारी, १९०४) की महत्वपूर्ण रचनाए भी उसी प्रकार उसकी दृष्टि मे प्रयोजन-बाह्य ही रही—उनमे कोई नयी युक्ति नही मिली, कोई नया प्रश्न नही उठाया गया। "दिए कुल्तुर देर ओरिएन्तलिशेन लितेरातुरेन" (बर्लिन-लाइपत्सिश १९०६) ग्रन्थमाला मे (भाग १, अधिकरण ७, के रूप मे) रिचर्ड पिशेल की प्रकाशित भारतीय वाङ्मय की रूपरेखाओ ("दिए ओरिएन्तलिशेन लितेरातुरेन") की सूत्रवृत्ति एक ऐतिहासिक के

लिए सचमुच एक आदर्श उपस्थित करती है किन्तु वह वर्तमान लेखक के समुख आयी-ही तभी जब कि उसके अपने विचार, पूर्ण, लिपिबद्ध हो चुके थे—और उनका अधिकाश मुद्रित भी हो चुका था। इसके अतिरिक्त लूसिअन शरमान के 'ओरिएन्तलिशे बिब्लिओग्राफिए'' की—हर प्राच्यविद् के लिए अपरिहेय—सहायता का यथास्थान स्वीकार करने मे भी हम प्राय चूके ही है। और, विशेषत वेदवाङ्मय परक (दो वर्ष पूर्व पहली बार प्रकाशित) प्रस्तुत निबन्ध के सम्बन्ध मे अपने स-हृदय, स-बोध, आलोचको का स्मरण भी तो शायद शब्दार्पण की वस्तु नही बन सकता। सो—क्षमा माग लू ?

Prag, Kgl. Weinberge.
15th October, 1907.

— **M. Winternitz**

समाधिपाद

गच्छतः	**स्खलनं**	**क्वापि**
यथावत्	तद् यावत्	१०८ ७
अथर्ववेद ६ १३०	अथर्ववेद ६	११२ २८
अन्तर्दृग्	अन्तर्विध	११३ ८
'भक्त' नही	'शक्ति' नही	११५ १
भरा हृदय	भरा	२०५ १

तत् समाधत्त सज्जना

क्रम

१ प्रस्तावना १—४०

२ वेद-वेदांग ४१—२३८

अनुक्रम

पराक्रम

१

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय साहित्य

क्षेत्र, विस्तार और महत्त्व

प्राचीन भारतीय साहित्य से हमारा अभिप्राय भारतीय साहित्य की उस गतिविधि से होता है जिसकी स्रोतस्विता मे इन तीन सहस्राब्दियो से ऊपर कोई अन्तर नही आया। वह प्रथम उन्मेष, वह प्रथम स्पन्दन, वह प्रथम उद्गार—वह लोक वाङ्मयता, और वाङ्मय का वह प्रथम स्मृति-बन्धन, लिपि-बन्धन—आज भी तथैव सजीव है, तथैव जीवल है।

सरस्वती के इस 'अ-विनशन' प्रवाह का क्षेत्र हिमालय से कन्याकुमारी तक पन्द्रह लाख वर्गमील की वह भूमि है जिसमे रूस के अतिरिक्त सारा यूरोप समा सकता है। जलवायु की दृष्टि से यह क्षेत्र उत्तर मे ८° और ३५° अक्षाश के बीच की वह कटि है जो भूमध्य रेखा के उष्णतम स्थलो से शुरू हो कर समशीतोष्ण-'बन्ध के अन्तरग तक व्याप गई है। किन्तु प्रभाव-क्षेत्र की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य, उस प्राचीन युग मे भी, देश देशान्तर के मनानभ पर, जीवन पर, छा चुका था; अर्थात्—भारत की सीमाओ का अतिक्रमण करके वह बृहत्तर भारत के बृहन्मानस का 'पर-ब्रह्म' अग-सा बन चुका था—जिसकी परिसीमा में · उत्तर की ओर—तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया, और दक्षिण में—लका, (हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर के अन्यान्य द्वीपो सहित) मलय उपनिवेश, और पश्चिम मे—मध्य-एशिया और पूर्वी-तुर्किस्तान के हृदय को स्पर्श करता-सा—आधा-विश्व आ जाता था (जहा वृद्धभारत के बौद्धिक अभ्युदय के अवशेष आज भी पाए जा सकते है), . उधर—(बोगाजकोई, तुर्फान, और खोतन के) रेगिस्तान की रेतों मे दबी, पुरानी भारतीय पाण्डुलिपिया हाल ही मे उपलब्ध भी हुई है। . .

.. विषय की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य मे वह सब-कुछ आ जाता है जो शब्द के विस्तृततम अर्थो मे 'साहित्य' के अन्तर्गत माना जा सकता है—धार्मिक तथा लौकिक साहित्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक और नीति के दोहे, तथा आख्यानात्मक एव शास्त्रीय गद्य .।

तथापि भारतीय साहित्य की सर्वकष अभिव्याप्ति मे धार्मिक साहित्य का स्थान ही प्रमुख है। और इस धार्मिक साहित्य मे योगदान वेद के रचयिता ब्राह्मणो ने

ही नहीं, तिपिटक के उपदेष्टा बौद्धों ने और, समय-समय पर भारत मे आने वाले, अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायो ने भी दिया है। इन सभी सम्प्रदायो का अपना-अपना—सूक्तात्मक, यज्ञतन्त्रात्मक, मन्त्र, उपाख्यान, स्तोत्र, उपदेश, कल्पशास्त्र, धर्मशास्त्र और कर्मकाण्ड तथा योगसाधनापरक—प्रभूत वाङमय है। और इस वाङमय मे राष्ट्र की इतनी अमूल्य सम्पत्ति भरी पड़ी है कि उसकी उपेक्षा प्रागैतिहासिक धर्म का कोई भी गवेषक नही कर सकता। धार्मिक वाङमय की यह परम्परा आज भी खत्म नही हो गई। कितनी ही सहस्राब्दियों मे प्रवहमान वीर-काव्य की धाराए सगृहीत होकर, अन्त मे, महाभारत और रामायण का रूप धारण कर गई। मध्ययुगीन भारत के कवियो ने इन दोनो महाकाव्यो के उपाख्यानो को लेकर स्वतन्त्र महाकाव्य रचे, **महाभारत** और **रामायण** लोक-वाङमय के, लोक-जीवन के, स्वाभाविक प्रतिरूप थे; परतर महाकाव्यो मे वहा कुछ कृत्रिमता, कुछ अलकारबुद्धि, कुछ अ-प्रकृतिकता का निवेश प्रत्यक्ष है। इन काव्यों की कृत्रिमता प्राय सीमोल्लघन भी कर जाती है (जो कि पाश्चात्य अभिरुचि को सभवतः अभिमत नही हो सकता), कुछ हो, भारतीय कवियो ने पर्याप्त गीतिकाव्य, नाटक आदि विश्व को उपहृत किए है जिनकी अनुभूति की उद्बलता तथा नाटकीय नव-कल्पना यूरोप के वर्तमान साहित्य की सुन्दरतम कृतियो की तुलना मे किसी भी अश मे कम नही उतरती। सूत्र शैली मे तो, विशेषत, भारतीय विद्वानो ने वह निपुणता प्राप्त कर ली थी जिसकी मिसाल दुनिया में और कही दुर्लभ है। भारतवर्ष परीकथाओ और पशुकथाओं की मूलभूमि भी है। इन भारतीय परीकथाओ की, पशुकथाओ की, तथा गद्यात्मक आख्यान-सग्रहो की—विश्व-साहित्य के इतिहास को देन कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। अनुसन्धान मे परीकथाओ की मूलभूत स्पन्दनाओ का और उनकी देशदेशान्तर यात्राओ का एक अपना-ही पृथक् विभाग अपिवा अध्याय है जिसका महत्त्व आज बेनफी के पचतन्त्र-सम्बन्धी मौलिक अनुसन्धानो की कृपा से सुनिश्चित हो चुका है।

किन्तु भारतीय मनोमय की यह एक निजी विशिष्टता ही है कि वह विशुद्ध कलाकृतियो मे तथा शास्त्रीय वाङमय मे कोई विभाजन-रेखा नही खीच पाता। भारत मे विशुद्ध साहित्य मे और नीति के दोहो मे भेद कर सकना असम्भव है। जो चीज हमे परीकथाओ और पशुकथाओ का एक सग्रह-मात्र लगती है स्वय भारतीय उसे 'युगो से' नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के 'सक्षिप्त सस्करणो' के रूप मे स्वीकृत करते आए है। इसके अतिरिक्त, इतिहास को और जीवन-कथा को लेकर भारत मे, कवियो को छोड कर, अन्य किसी ने कुछ लिखा ही नही—इतिहास और जीवन-कथा भारतीय वाङमय मे महाकाव्य के ही एक अग माने जाते है; और, ना ही—भारतीयो मे गद्य और पद्य को दो पृथक् वृत्तिया मानने की कोई प्रथा है। साहित्य में

यदि रूढ़ियों का कुछ मूल्य (मान्य) है, तो संस्कृत के कवि को किसी भी विषय को, मन की मौज के मुताबिक, पद्यबद्ध अथवा गद्यबद्ध करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। संस्कृत मे कितने ही ऐसे 'उपन्यास' है जो महाकाव्यों से इसी अंश मे भिन्न हैं कि उन्हें किसी छन्द मे नही बाधा गया। बडे पुराने समय से गद्य और पद्य के मिश्रण की एक विशिष्ट प्रवृत्ति ही चली आती है। जिसे हम आज वैज्ञानिक साहित्य कहेगे—उसके प्रतिपादन मे भी प्रमुखता भारत मे पद्य को ही दी जाती थी (उसका बहुत थोडा-सा अश दो-चार गद्यात्मक वाक्यो द्वारा सूत्रित होता था, बस)। दर्शन-शास्त्र, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, और वास्तुशास्त्र—सभी क्षेत्रों मे यही स्थिति है; यहा तक कि व्याकरण और कोश भी भारत मे छन्दो मे ही निबद्ध हुए। और यह विशेषता जैसे हद तक पहुंच चुकी लगती है जब हम सुनते हैं कि सस्कृत मे एक महाकाव्य ऐसा भी है जिसकी रचना २२ सर्गों मे व्याकरण-नियमो के सोदाहरण प्रतिपादन के लिए ही हुई थी! भारत मे, बहुत समय तक, साहित्यिक गतिविधि का आधारभूत विषय, (पहले धार्मिक वाङ्मय का अग बनकर तो पीछे स्वतन्त्र रूप से) दर्शनशास्त्र रहे हे। इसी प्रकार, उस प्राचीन युग मे भी, कानून और लोकतन्त्र, स्वय स्वतन्त्र शास्त्र बनने से पूर्व, 'धर्म' शास्त्र के अन्तर्गत माने जाते थे; और उनके निरूपण मे भी गद्य और पद्य का वही व्यामिश्रण उपलब्ध होता है। इस धर्मशास्त्रीय वाङ्मय के महत्त्व को, युगाद्-युगान्तर, धर्मशास्त्र तथा समाजशास्त्र-गत तुलनात्मक अध्ययनार्थ विश्व के मान्य धर्मशास्त्री तथा समाज-शास्त्री आज सब, एकमत्या, स्वीकार करते है। ईसा से सदियो पूर्व, व्याकरणशास्त्र का इतना पूर्ण विश्लेषण भारत मे हो चुका था कि उसकी तुलना मे कोई भी प्राचीन देश भारतीय कौशल के कही निकट नही पहुचता। कोशशास्त्र का विकास भी भारत की एक बड़ी प्राचीन सिद्धि है। परतर युगो के भारतीय कवि अपने काव्यो मे किसी 'देववाणी' को (खुदा के इलहाम को) प्रस्तुत नही करते थे—वे काव्य को देवताओ का प्रसाद नही मानते थे; अपितु, व्याकरण शास्त्र के गहन अध्ययन और कोश शास्त्रो के दुर्लभ (अ-सामान्य) कवि-समयो से उद्भूत, अलकृत उनकी रचनाओ मे अलंकार-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र के विनिश्चित वैज्ञानिक नियमो का पालन ही (कवि का) मुख्य ध्येय होता था। बडे पुराने समय से भारतीयो की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति ही रही है कि वे किसी भी (सम्भाव्य) वस्तु के पूर्ण विश्लेषण और शास्त्रीय प्रतिपादन से बाज नही आते, नही आ सकते। यही कारण है कि हमे आज भी राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, फलित तथा ज्योतिष, गणित तथा ज्यामिति के अतिरिक्त वाद्य, सगीत, नृत्य, अभिनय, इन्द्रजाल और भविष्य-कथा, तथा कामशास्त्र आदि विषयो पर भी, पूर्णत शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित 'शिक्षा-ग्रन्थ' तथा 'बटुक' देखने को मिलते हैं।

साहित्य के इन उपरिनिर्दिष्ट विभिन्न अगों मे सदियों के साथ-साथ, कितना ही वाङमय निरन्तर उपचित होता गया—जिसका एक विहंगम-पर्यवेक्षण प्रस्तुत कर सकना तक मुश्किल है; क्योंकि—धार्मिक साहित्य के प्राय: सभी विभागों में और, उसी प्रकार, काव्य तथा विज्ञान के अगोपागों मे, टीकाकारो की एक अविच्छिन्न परम्परा बडे मनोयोग के साथ प्राचीन वाङमय को विकसित करने मे पीढी-दर-पीढी जुटी रही है। इसीलिए वृद्धभारत के व्याकरण, दर्शन, एवं धर्मशास्त्र विषयक जितने भी प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रथ आज हमे मिलते है—वे, अधिकाश, प्राचीनतर 'सूत्रो' के व्याख्यान मात्र है। और प्राय: ऐसा भी हुआ कि इन टीकाओ पर अन्य टीकाए लिखी गई; भारत मे, सचमुच, यह भी अक्सर देखने मे आता है कि ग्रन्थकार अपनी ही कारिकाओं पर आप-ही एक वृत्ति जोड जाता है। सो, यह आश्चर्य की बात नही कि भारतीय साहित्य की विपुलता को देखकर बुद्धि दग रह जाती है। और, इसके बावजूद कि भारतीय पाण्डुलिपियो की विपुल सूचियां भारत तथा यूरोप के पुस्तकालयो मे, सर्वत्र महस्रो लेखको और ग्रन्थो के नाम गिनाती है, कितनी ही—सख्यातीत, अमूल्य-रचनाए (भारतीय साहित्य की) काल के गर्त मे नष्ट हो चुकी हैं—उनका निर्देश भी कहीं नही हो सका! कितने ही लेखक ऐसे है जिनका नाम हम परतर लेखको के उल्लेखो मे, या उद्धरणो मे, ही पाते हैं: उनका और उनकी कृतियों का कुछ भी चिह्न इस 'स्मृति-शेष' के अतिरिक्त —यदि था, तो,—मिट चुका है।

भारतीय साहित्य की प्राचीनता, भूगोल तथा विषय की दृष्टि से व्यापकता, उसकी आन्तरिक सम्भूति एवं कमनीयता, और मानव सस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका मूल्य—ये सब चीजे है जो पाश्चात्य जगत् को इसकी महत्ता, मौलिकता, तथा प्राचीनता की ओर बरबस आकर्षित कर लेती है। इसके अतिरिक्त, कुछ और विशेषता भी है जो केवल भारतीय साहित्य मे ही पाई जाती है वह यह कि इण्डो-आर्यन भाषाओ (तथा ईरानी भाषा) का सम्बन्ध उस महान् भाषा-परिवार मे रहा है जिसके अन्तर्गत जर्मन भाषा और यूरोप की प्रायः सभी भाषाएं एक सयुक्त परिवार की भाति आ जाती है। इण्डो-ईरानी भाषाएं वस्तुत: इण्डो-यूरोपियन मूल परिवार की ही एक सुदूर-पूर्वी शाखा है। और सच बात तो यह है कि (सस्कृत मे लिपि-बद्ध) भारत का यह प्राचीन साहित्य ही था जिसके द्वारा विश्व के इतिहास मे एक युगान्तर आया और, परिणामत, अब हम पूर्व और पश्चिम के बिसरे, प्रागैतिहासिक, सम्बन्धो को कुछ-कुछ समझने लगे है। भाषाओं की एक-वशता का सिरा पकडकर हम स्वभावत: इन विभिन्न भाषाओ के उस आदिमूल की ओर चले भी जो इण्डो-यूरोपियन भाषाओ की विभिन्न जातियों को परस्पर एकसूत्रित करता है। यह सच है कि इण्डो-यूरोपीय जातियो के

परस्पर-सम्बन्ध के विषय मे काफी गलत-फहमिया प्रचलित हैं, क्योंकि—कुछ लोगो ने भाषा-साम्य के आधार पर एक इण्डो-यूरोपियन जाति की कल्पना की जो न कभी थी और न है; और—अक्सर यह भी समझा जाता है कि हिन्दुस्तानी, पारसी, यूनानी, रोम मे और जर्मनी मे रहने वाले, स्लाव (लोग) एक ही प्रागैतिहासिक माला के जहा-तहा बिखरे-गिरे मनके है। इन परिणामो पर पहुचने मे कुछ जल्द-बाजी की गई प्रतीत होती है; फिर भी, भले ही हमे यह सन्देह बना रहे कि हमारा मूल (स्रोत) एक ही था या नहीं, कुछ हो—भाषा का एक-मूल होना निस्सन्देह हमारी सस्कृति को, एव हमारी बौद्धिक प्रगति को, परस्पर-सम्बद्ध सिद्ध करता है। यद्यपि हम यह तो नही कह सकते कि हिन्दुस्तान के लोग हमारे ही हाड-मास और जिगर के टुकडे हैं, फिर भी—हमारी बुद्धि, हमारे मन, हमारे विचार हम भारतीय बुद्धि, भारतीय मन, और भारतीय विचारो मे—अर्थात् पश्चिम को पूर्व मे—छायात्म-वत् प्रतिबिम्बित पाते है। किंतु वह हमारा इण्डो-यूरोपियन मनोलोक क्या था, हमारी इण्डो-यूरोपियन विचारधारा, चिन्तना और कवित्व-बुद्धि, वह प्रतिभा मूल मे कैसी थी, क्या-क्या विशेषताए लिए हुए थी—इस जिज्ञासा के सही समाधान के लिए अब आवश्यक है कि जो धारणा एव आस्था हमारी आज तक यूरोपियन साहित्य और कला-आदि के अध्ययन से स्थिर हो चुकी है, उसका सशोधन, अथवा परिपूरण, हम पूर्व की एतद्विषयक साक्षी द्वारा कर ले। इस दृष्टि से, विशेषत प्राचीन ग्रीस और रोम के समादृत साहित्यो के अध्ययन से जो एक-देशिता हमारे विचारो मे आ चुकी है उसकी आवश्यक सम्पूर्ति भारतीय साहित्य के अध्ययन द्वारा बखूबी हो जाएगी। यह सच है कि कला की कसौटी पर भारतीय साहित्य यूनानी साहित्य के करीब नही उतरता, और यह भी सच है कि भारतीय विचारधारा का यूरोपीय विचारधारा पर वह प्रभाव भी कभी नही पडा जो कि ग्रीक और रोमन सस्कृतियो का हम इधर पग-पग पर अनुभव करते है, किन्तु, यदि सचमुच हम अपनी सस्कृति के मूल स्रोतो से कुछ परिचय प्राप्त करना चाहते है, इन्डो-यूरोपियन सस्कृति के प्राचीनतम रूप को अवगत करना चाहते है, तो इसके लिए हमे भारत का ही मुखापेक्षी होना पडेगा—जहा कि इण्डो-यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप आज भी प्राय-यथावत् सुरक्षित है। भारतीय इतिहास की प्राचीनता के विषय मे मतभेद हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध मे दो विरोधी सिद्धान्त नही हो सकते कि भारतीयो का प्राचीनतम 'लोक-वाङमय' (ऋग्वेद) इण्डो-यूरोपियन साहित्य का भी प्राचीनतम स्मृतिशेष है—जो कि आज भी उपलब्ध है!

निकट वर्तमान मे भी भारतीय साहित्य का जो प्रभाव हमारे साहित्य पर प्रत्यक्ष है, उसका मूल्य भी कुछ उपेक्ष्य नही है; हम देखेंगे कि यूरोप का आख्यान-साहित्य, बहुत अशो तक भारतीय पशुकथा वाङ्मय से ही उद्भूत है। खास कर

जर्मन साहित्य और जर्मन दर्शन, १९ वीं सदी के आरम्भ से ही, भारतीय विचार-धाराओ द्वारा प्रभावित होने लगे, और यह प्रभाव निरन्तर बढ़ता ही चला आ रहा (दिखाई देता) है।

इण्डो-यूरोपियन भाषाओ की साक्षी से विभिन्न जातियो की जो आन्तरिक-एकता स्पष्ट होती है उसका सबसे बडा प्रमाण, शायद, यह भारतीय विचारधारा और जर्मन विचार-धारा का परस्पर साम्य है। इस साम्य की प्रमुख विशेषताओ को कई बार दिखाया भी जा चुका है। श्रेडर' का कहना है कि भारतीय यदि उस प्राचीन युग के, रसिक-आख्यानकार थे तो हम जर्मन आज के, सिद्ध रसिक तथा आख्यानकार है। ब्रैन्डीज' ने भारतीयो और जर्मनो मे सूक्ष्म चिन्तन, मनन एव सर्वात्मानुभूति के प्रवृत्ति-साम्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कई बार तो जर्मन तथा भारतीय उद्गार इतने निकट आ जाते है कि सुननेवाला दग रह जाता है। 'विश्वव्याकुलता' के गीत जर्मन कवियो ने ही सुनाए हो, ऐसी बात नही, सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का आधार भी तो यही 'सब्ब दुक्खं' ही है, और सस्कृत मे तो जैसे ससार को 'दुख के सागर' के रूप मे देखना एक कवि-सम्प्रदाय ही बन चुका प्रतीत होता है। भारतीयो की सासारिक जीवन को विनश्वर एव निस्सार समझने की यह दृष्टि, निर्वेग, हमे अपने ही महान् कवि लेनो का स्मरण करा देती है। क्या हाइने ने एक स्थान पर कहा नही है ?—

नींद कितनी मधुर होती है !
किन्तु मृत्यु नींद से भी कहीं अधिक सुखद होती है;
और सबसे बड़ा सुख है—मर कर फिर पैदा न होना।

क्या यह वही विचार नही जिसे भारतीय दार्शनिक 'मृत्यु से अपुनरावृत्ति' की पर्युत्सुकता के रूप मे प्रगट करते है। यही नही, हृदय की सवेदनशीलता और प्रकृति-प्रेम जर्मन और भारतीय कविता का एक ऐसा सामान्य लक्षण-सा है जो कि हिब्रू और ग्रीक कविता मे हमें नही मिलता। जर्मन और भारतीय कवियो को प्रकृति-वर्णन से जैसे एक मोह-सा है। दोनो ही देशो के कवि अन्त-प्रकृति और बाह्य-प्रकृति को सुख-दुख की एक-सूत्रता मे मानो पिरो देना चाहते है। एक और क्षेत्र मे भी हम दोनो देशो के मनोमय मे एक-सी प्रवृत्ति देखते है हम ऊपर सकेत कर आए हैं कि किसी भी प्रत्यक्ष को अथवा अनुभव को एक क्रम मे, व्यवस्था मे, बांध देना भारतीयो की एक विशेषता-सी है, लक्षण-सी है। यह शास्त्रीय-विश्लेषण बुद्धि यदि प्राचीन भारतीयो मे थी तो आज वही पुन., जर्मन विद्वानों मे भी सजग है ! उस पुराने जमाने मे भारतीयो ने अपने धर्मग्रन्थो का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण किया था और उस विश्लेषण के निष्कर्षों को, वैज्ञानिक रूप देते हुए, जो व्याकरण उन्होने (बाबा आदम के) उस जमाने में बनाया था वह, इतनी

सदियां बीत चुकीं, आज के भाषाविज्ञो के लिए एक आधारशिला का, मूल प्रेरणा का, काम दे सकता है, और इधर भाषाविज्ञान तथा व्याकरण के इस क्षेत्र मे, आज, जर्मन विद्वान् ही ससार के अग्रणी है।

भारतीय भाषाओ के तुलनात्मक अनुशीलन मे तथा भारतीय साहित्य के नूतन अनुसन्धान मे भी, निकट वर्तमान मे, नेतृत्व तथा नूतन दिशा, शुरू से, जर्मन विद्वान् ही देते आए है। इसमे सन्देह नही कि हम, बहुत अशो मे, अग्रेजो के अनुगृहीत हैं: क्योकि वर्षों भारत के शासक होने के नाते भारतीय भाषाओ और साहित्य का परिचय प्राप्त करना, परदेश मे, उनके अपने 'दैनिक स्वार्थ' के लिए भी आवश्यक था। और, इस प्रसग मे फ्रेंच, इटैलियन, डच, डैनिश, अमेरिकन, रशियन और— जिन्हे भुला देना कृतघ्नता होगा—स्वय भारतीय मनीषियो ने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र मे अ-संख्य, अनुपेक्ष्य, महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किए है; तथापि, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो को—प्रामाणिक संस्करणो, स्पष्टीकरणो तथा गवेषणाओ सहित—प्रकाशित करने मे, और प्रामाणिक एव तुलनात्मक शब्दकोशो तथा व्याकरणो को लिखने मे—जर्मन विद्वानो का हाथ औरो से कुछ ज्यादह रहा है। भारतीय वाङ्मय के, तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य अध्ययनो के, एक विहगमावलोकन मे ही यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाएगी।

१ Cf Leopold von Schroeder · *Indiens Literatur und Cultur*, Leipzig, 1887, p 6 f , G. Brandes· *Haupstromungen der Literatur des neunzehnten Jahrundertz*, Berlin, 1872, I, p 270.

यूरोप में भारतीय साहित्य के अनुशीलन का सूत्रपात

भारतीय साहित्य के विपुल वैभव (जो कि अनुसन्धान के लिए प्राय पिछली एक शती मे ही उपलब्ध हुआ है) का पर्यवेक्षण भी किसी अकेले आदमी का काम नहीं।

सत्रहवी सदी मे कुछ-कुछ, तो अट्ठारहवी सदी मे मनोयोग और कुछ नैरन्तर्य के साथ, विदेशी यात्री और प्रचारक इधर, थोड़े-बहुत अन्तर पर, आते ही रहे और उन्होंने भारतीय भाषाओं मे, और कुछ-कुछ भारतीय साहित्य से भी, परिचय बढ़ाना शुरू किया, किन्तु उनके ये परिचय-बीज उर्वर भूमि मे गिरे नही प्रतीत होते। १६५१ मे एब्राहम रोजर ने, जो उन दिनो मद्रास के उत्तर मे पालिअकत्ता

(पूलियत) मे एक उच्च पादरी की हैसियत से रह रहा था, सर्व प्रथम, भारतीयो के ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी वाङमय के विषय मे कुछ सूचना दी और भर्तृहरि के कुछ नीति के दोहों का अनुवाद भी प्रकाशित किया। भर्तृहरि के दोहो का यह अनुवाद रोजर के लिए एक हिन्दू ब्राह्मण ने किया था और इसी अनुवाद के आधार पर उनका जर्मन रूपान्तर, कुछ वर्ष बाद, हर्डर ने किया था। १६९९ मे जैसुइट पादरी जोहान अर्न्स्ट हैक्सलैडन भारत में आया और, तीस वर्ष तक, मालाबार मिशन मे प्रचारक रहा। हैक्सलैडन को भारतीय भाषाओं से पर्याप्त परिचय हो गया और उसका सस्कृत-व्याकरण-परक निबंध एक यूरोपियन द्वारा लिखा सर्वप्रथम सस्कृत-व्याकरण है। हैक्स का यह व्याकरण कभी मुद्रित नही हुआ, किन्तु फा पोलिनो ने अपनी पुस्तक मे इसका पर्याप्त उपयोग किया है। फा पोलिनो एक आस्ट्रियन कार्मेलाइट था; उसका असल नाम था वेस्डिन, और इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि भारतीय साहित्य को विश्व के सम्मुख लाने मे इन पादरियों मे सर्वप्रथम स्थान वेस्डिन का ही है। वेस्डिन, अर्थात् फा पोलिनो, १७७६-१७८९ तक एक ईसाई पादरी की हैसियत से भारत मे रहा, और १८०५ मे रोम मे उसकी मृत्यु हुई। इस अन्तर मे उसने दो सस्कृत-व्याकरणो के अतिरिक्त कितने ही और विद्वत्तापूर्ण ग्रथ तथा निबन्ध लिखे। वेस्डिन की इन कृतियो मे **सिस्टेमा ब्राह्मॅनिकम** (१७९२) और **राइज नाख ऑस्ट्इन्डियन** (फॉर्स्टर का जर्मन अनुवाद, बर्लिन १७९८)—ये दो ग्रथ ही—वेस्डिन के भारतविषयक ज्ञान, ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी साहित्य से परिचय, भारतीय भाषाओ मे तथा भारतीयो के धार्मिक जीवन एव चिन्तन मे उसकी अन्तर्गति की सूक्ष्मता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु वेस्डिन के इतने महत्त्वपूर्ण कार्य का भी आज प्राय कोई स्थायी चिह्न अवशिष्ट नही है।

इसी समय अंग्रेजो ने भी भारतीय भाषाओ और साहित्य की सुध लेनी शुरू कर दी। अग्रेज विद्वानो मे भारतीय वाङमय के प्रति उत्सुकता वारेन हेस्टिंग्ज की मूल प्रेरणा से प्रसूत हुई। हेस्टिंग्ज को ही भारत मे ब्रिटिश राज्य का सच्चा सस्थापक माना जाना चाहिए, खैर, हेस्टिंग्ज की यह प्रेरणा तब से लेकर कभी भी शिथिल नही हुई। वारेन हेस्टिंग्ज ने अनुभव किया था (और अंग्रेज उसके उस अनुभव को कभी नही भुला सके) कि भारत में ब्रिटेन की हकूमत तभी सुरक्षित रह सकती है जब अग्रेज भारतवासियो के सामाजिक एव धार्मिक विश्वासो को यथोचित मान्यता दे। वारेन हेस्टिंग्ज के ही परामर्श पर भारतीय-शासन कानून मे एक प्रस्ताव यह भी समाविष्ट कर लिया गया कि स्वय भारत के पण्डित न्यायालयो में अग्रेज जजो की सब कार्रवाइयो के समय उपस्थित रहा करेंगे कि जिससे निर्णय देने वक्त अग्रेज जज के हाथो भारतीय स्मृति-ग्रन्थो की उपेक्षा न हो

जाए। और जब, १७७३ में, ब्रिटिश सरकार ने हेस्टिंग्ज को भारत मे सारी अंग्रेजी सल्तनत पर पूर्णाधिकार-सा देते हुए, बगाल का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया, उसने कतिपय ब्राह्मण कानूनदानो की सहायता से पुराने धर्मशास्त्रो के आधार पर एक **विवादार्णव-सेतु** (नामक ग्रंथ) सकलित करवा लिया जिसमे उत्तराधिकार, दायभाग, आदि (भारतीय परिवार की जटिल समस्याओ के) सम्बन्ध मे प्राचीन धर्मशास्त्रों का निचोड उपस्थित किया गया था। और जब यह प्रामाणिक ग्रथ तैयार हो गया तब, उसे सस्कृत मे अग्रेजी में उतारने के लिए कोई योग्य विद्वान् मिलना मुश्किल था, सो, उसका अनुवाद पहले फारसी मे करवाया गया और फारसी से, फिर, नैदेनियर ब्रेसी हालहैड ने उसका अग्रेजी मे उल्था किया। १७७६ मे इस अनुवाद को ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने '**ए कोड आव गेन्टू ला**' के नाम से मुद्रित किया।

चार्ली विल्किन्स पहला अग्रेज व्यक्ति था जिसने वारेन हेस्टिंग्ज से प्रेरणा पा कर बनारस के पण्डितो से सस्कृत सीखी। १७८५ मे विल्किन्स ने अपने इस उद्योग का प्रथम फल **भगवद्गीता** के अंग्रेजी अनुवाद के रूप मे प्रस्तुत किया जो एक यूरोपीय भाषा में अनूदित सस्कृत की सर्वप्रथम पुस्तक है। दो साल बाद **हितोपदेश** की पशुकथाए, और १७९५ मे महाभारत का **शाकुन्तलोपाख्यान** अनूदित होकर छपे। १८०८ मे उसने एक सस्कृत-व्याकरण भी लिखी (जिसमे सर्वप्रथम देवनागरी लिपि का प्रयोग हुआ—जिसके देवनागरी टाईप विल्किन्स ने स्वय अपने हाथो से तैयार किए थे!)। विल्किन्स ही पहला यूरोपीय विद्वान् था जिसने भारतीय अभिलेखो से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया और उनमें से कुछ का अग्रेजी में उल्था भी किया।

ये सब प्रकीर्ण—परस्पर अ सम्बद्ध, और अ-नियमित—प्रयत्न थे। प्राच्यशोध की वैज्ञानिक सस्थाओं के रूप मे अभी भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू नही हुआ था। इसका श्रीगणेश करना प्राच्यविद् विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) के भाग्य में लिखा था। जोन्स १७८३ मे फोर्ट विलियम मे चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त होकर भारत मे आए।

जोन्स को युवावस्था से ही पूरब की कविता मे विशेष प्रेम था और जवानी मे, वहा, उसने कुछ अरबी और फारसी कविताओ का अंग्रेजी मे अनुवाद किया भी था। सो, इसमें कुछ आश्चर्य नही कि भारत मे आते ही उसका वह पूरब से प्रेम सस्कृत और भारतीय वाङ्मय के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो गया। अभी उसको भारत मे आए एक ही वर्ष हुआ था कि जोन्स ने '**एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल**' की स्थापना कर दी जिसने अगले ही दिन से त्रैमासिक-पत्रिकाओ का, तथा अन्यान्य भारतीय ग्रन्थो के सस्करणों का, सिलसिला

करना शुरू कर दिया। १७८९ में जोन्स का किया (संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक) **शकुन्तला** का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद के सहारे जार्ज फॉर्स्टर ने शकुन्तला का जर्मन रूपान्तर १७९१ में छापा जिस पर कि हर्डर और गेटे जैसे मनीषी और कवि तत्क्षण मुग्ध हो गए! कालिदास की एक और रचना, अर्थात् **ऋतुसंहार** (के गीति काव्य), को जोन्स ने कलकत्ता में १७९२ में मूलसंस्कृत मे प्रकाशित कराया—जो सस्कृत मे छपी सबसे पहली पूर्ण-पुस्तक है। सम्भवत: इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो जोन्स ने किया, वह था उस का मनु के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ **मनुस्मृति** का अंग्रेजी मे अनुवाद जो १७९४ मे कलकत्ता से **इन्स्टिट्यूट्स आव हिन्दू ला**, और **दी ऑर्डिनंन्स आव मनु**, के नाम से प्रकाशित हुआ। इसीका एक जर्मन रूपान्तर १७९७ मे वाइमर ने छापा। अन्त मे यह कहना भी अप्रासगिक न होगा कि जोन्स ही पहला व्यक्ति था जिसने सस्कृत का ग्रीक और लैटिन के साथ वशानुगत सम्बन्ध स्थापित किया और (साथ ही) जर्मन, केल्टिक और पर्शियन के साथ सस्कृत के सम्बन्ध की भी एक 'स्थापना' प्रस्तुत की। भारतीय तथा ग्रीक-रोमन पौराणिक-गाथाओ मे साम्य एव तुलनाए तो जोन्स बहुत-पहले ही दिखा चुके थे।

जोन्स का उत्साह यदि भारतीय साहित्य की निधियो को प्रकाश मे लाकर, मुख्यतया, विदेशी विद्वानो को उस दिशा मे प्रेरित करने का था, तो हेनरी टामस कोलब्रुक ने, विलियम जोन्स के उसी उत्साह को उत्तराधिकार मे लेते हुए, भारतीय भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्वविज्ञान की सच्चे अर्थों मे आधारशिला रखी। कोलब्रुक एक प्रकृति से गम्भीर, और अध्यवसायी युवक था जिसने १७८२ मे १७ वर्ष की कच्ची उम्र मे कलकत्ता मे आकर सरकारी नौकरी शुरू की। यद्यपि भारत मे अपने प्रवास के पहले ११ वर्षों मे उसका सस्कृत अथवा सस्कृत-साहित्य से कुछ भी ससर्ग नही बन पाया, किन्तु जोन्स की मृत्यु (१७९४) के समय कोलब्रुक ने, अभी हाल ही मे कुछ सस्कृत सीखकर, स्वय जोन्स की छत्रछाया मे भारतीय विद्वानो द्वारा भारतीय धर्मशास्त्रो के आधार पर तैयार किए गए दायभाग एव वाग्व्यवहार-परक एक महाग्रन्थ का अनुवाद शुरू कर दिया था। १७९७-९८ मे यह अनुवाद '**ए डाइजेस्ट आव हिन्दू ला औन कान्ट्रेक्ट्स एन्ड एक्सेशन्ज**' चार फोलियो वौल्यूम्स मे छपा। तभी से कोलब्रुक ने भारतीय साहित्य के अन्वेषण में अपने आप को अथक उत्साह के साथ खपा डाला: जिसका परिणाम यह है कि विद्वज्जगत्—न केवल भारतीय कानून के सम्बन्ध मे कुछ और ग्रन्थो के लिए ही, अपितु भारतीय दर्शन, धार्मिक जीवन, व्याकरण, ज्योतिष और गणित के सम्बन्ध में प्रामाणिक और मौलिक छानबीन से पुष्ट कितने ही निबंधो के लिए—कोलब्रुक का ऋणी है। इसके अतिरिक्त, १८०५ मे प्रकाशित हुआ कोलब्रुक का एक

निबंध—**औन दी वेदाज़**—ही था जिसके द्वारा हम पाश्चात्यों को भारतीयों की उस प्राचीन 'संहिता' के विषय में कुछ सच्चा, प्रामाणिक, ज्ञान प्राप्त हुआ। यही नहीं, कोलब्रुक ने अमरकोश आदि कितने ही शब्दकोशों का, और पाणिनीय व्याकरण, हितोपदेश तथा किरातार्जुनीय का सम्पादन भी किया। एक संस्कृत व्याकरण भी कोलब्रुक ने स्वतन्त्र रूप से लिखी, और कुछ अभिलेखों का अनुवाद भी किया; और जाते वक्त, वह भारतीय पाण्डुलिपियों के अपने निजी विविध-संग्रहों को (जिन पर कि उसका कोई दस हज़ार पौंड, तब, खर्च आया था) ईस्ट इण्डिया कम्पनी को उपहार रूप में देता गया। लन्दन के इण्डिया आफ़िस की लायब्रेरी में सुरक्षित साहित्यिक निधियों में इन अमूल्य हस्तलिखित प्रतियों की कीमत आज कौन लगा सकता है ?

जोन्स और कोलब्रुक की तरह एक और भी अंग्रेज था जिसने १८वीं सदी के अन्तिम दिनों में संस्कृत सीखी। संस्कृत सीख कर एलेग्जेण्डर हैमिल्टन १८०२ में फ्रांस के रास्ते यूरोप वापिस पहुंचा और कुछ समय के लिए पेरिस में रुक गया। उसी समय एक अप्रत्याशित घटना घट गई जो संस्कृत-सम्बन्धी अध्ययन आदि को बड़ी लाभकर सिद्ध हुई (यद्यपि खुद हैमिल्टन के लिए नहीं)। हुआ यह कि फ्रांस और इंग्लैण्ड की पुरानी दुश्मनी, जो कुछ समय के लिए आमीन्स की सन्धि के कारण स्थगित-सी हो गई थी, फिर से फूट उठी और नेपोलियन ने फ़रमान जारी कर दिया कि युद्ध-घोषणा के समय जो अंग्रेज फ्रांस में रह रहे है वे घर वापिस नहीं जा सकते। इन्हीं अंग्रेजों में—एलैग्जेन्डर हैमिल्टन को भी पकड़कर रख लिया गया। दैववशात्, १८०२ में ही प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रीड्रिख श्लीगल भी उन दिनों पेरिस में रहने आया हुआ था और वह, कुछ दिन छोड़ दें, १८०७ तक पेरिस में ही रहा। वैसे तो अंग्रेज विद्वानों के संस्कृत में अध्यवसाय की ओर जर्मनी का ध्यान काफी देर से खिंच चुका था, विशेष कर जोन्स के **शाकुन्तलानुवाद** के (१७९१ में) जर्मन भाषा में रूपान्तरित होने के बाद; १७९५-९७ में जोन्स के अन्य ग्रन्थों का अनुवाद भी जर्मनी में उपलभ्य हो चुका था। १७९७ में जोन्स का **मनुस्मृति** का अनुवाद भी पुन अनूदित हो चुका था। फ्रा पोलिनो तथा सेन्ट बार्थोलोमियो के ग्रन्थ भी अब जर्मनी में अज्ञात न रह गए थे, किन्तु भारतीय साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण जर्मनी में रोमैण्टिक स्कूल के कलाकारों की बदौलत प्रसृत-प्रवृद्ध हुआ। श्लीगल, और श्लीगल का भाई, दोनों रोमाण्टिक स्कूल के कर्त्ता-धर्त्ता थे। परिणाम यह हुआ कि विदेशी साहित्यों के प्रति जनता में कुतूहल जग गया। कुछ ही समय पूर्व हर्डर ने दो ग्रन्थ लिख कर जर्मन विद्वानों का ध्यान पूर्व के प्रति आकर्षित किया भी था, किन्तु सच यह है कि यह रोमाण्टिक कवियों का सुदूर एवं अद्भुत अनुश्रुतियों में अदम्य उत्साह ही था जो उन्हें भारत और भारतीय

वाङ्मय के प्रति उत्सुकता से भर गया। श्लीगल ने तो यहा तक कह डाला कि "भारत से हमे आज प्राचीन विश्व के उन पृष्ठो पर प्रकाश की आशा है जो कि आज तक अन्धकार मे आच्छादित थे। **शकुन्तला** के प्रकाशन के अनन्तर तो विशेषतः कविता-प्रेमी जगत् में एक नई प्रत्याशा-सी जग चुकी है कि एशिया के कवि आत्मा-नुभूति की इसी प्रकार की सुन्दर स्निग्ध तथा सुकुमार कृतिया हमे दे सकते हैं।"

—और यह वही समय था जब एलैग्जेण्डर हैमिल्टन मुफ्त में, बेगुनाह, कैद भुगत रहा था। हैमिल्टन के साथ प्रथम परिचय के अनन्तर ही, श्लीगल ने उससे सस्कृत सीखने का यह सुअवसर हाथ से न जाने दिया। १८०३-०४ तक उसने हैमिल्टन की पेरिस मे उपस्थिति का लाभ उठाया और शेष तीन वर्ष पेरिस लायब्रेरी की छान-बीन मे लगा दिये (क्योकि उन दिनो भी वहा दो सौ के करीब हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित थे)। इन अध्यवसायो का परिणाम फ्रीड्रिख श्लीगल की पहली संस्कृत-सम्बन्धी पुस्तक थी जिसने जर्मनी मे भारतीय भाषाविज्ञान और व्याकरण की नीव डाली। इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ मे उत्साह और प्रेरणा भरी पडी है, यही नही —वही उत्साह और प्रेरणा वह हर पढ़ने वाले मे भी डाल देती है। पुस्तक का एक भाग **रामायण**, **मनुस्मृति**, **भगवद्गीता**, के कुछ उद्धरण तथा **महाभारत** से सकलित **शकुन्तलोपाख्यान** को अर्पित है। ये उद्धरण ही वस्तुतः संस्कृत से जर्मन भाषा मे प्रथम अनुवाद कहे जा सकते हैं, क्योंकि—भारतीय साहित्य से हमारा पिछला परिचय अग्रेजी के माध्यम द्वारा ही, जो-कुछ था, था।

फ्रीड्रिख श्लीगल का कार्य जहा प्रेरणात्मक है, वहा आगस्ट विल्हेम वान श्लीगल सम्भवत. पहला ही जर्मन विद्वान् था जिसने कोलब्रुक की तरह सस्कृत-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थो, अनुवादो, तथा भाषाविषयक ग्रन्थों के लेखन-सम्पादन द्वारा जर्मनी मे एक व्यापक पैमाने पर सस्कृत अन्वेषण की आधार-शिला रखी। १८१८ मे बॉन की नई यूनिवर्सिटी स्थापित हुई थी और श्लीगल को वहा जर्मनी मे पहली सस्कृत-प्रोफेसरशिप मिली। विल्हेम ने भी सस्कृत-अध्ययन का आरम्भ अपने भाई की तरह पेरिस मे ही, १९१४ में, किया था। विल्हेम का गुरु था—ए० एल० शेजी, फ्रास का सर्वप्रथम सस्कृत विद्यार्थी तथा उपाध्याय! शेजी ही 'कालेज दे फ्रास' मे सस्कृत विभाग के सर्वप्रथम अध्यक्ष था; कितने ही भारतीय ग्रन्थो का अनुवाद तथा सम्पादन शेजी ने खुद किया था। १८२३ मे विल्हेम के भारतीय भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण के सम्बन्ध मे अन्यान्य महत्त्वपूर्ण लेख **इन्डीश बिब्लियौथेक** (त्रैमासिक) के पहले अंक मे (जिसे खुद विल्हेम ने ही निकाला था) प्रकाशित हुए। उसी साल **भगवद्गीता** का एक सुन्दर सस्करण भी लैटिन अनुवाद के साथ छपा; १८२९ मे श्लीगल का सम्भवत. सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (जिसे वह पूर्ण नही कर सका) **रामायण** सम्पादित हुआ।

विल्हेम का ही एक और समकालीन था—फ्रैंज बॉप (जन्म १७९१), जो स्वयं विल्हेम की भांति, शेजी की छत्रछाया मे, संस्कृत अध्ययन के लिए और अन्यान्य प्राच्य वाङ्मयो की गवेषणा के उद्देश्य से १८१२ मे पेरिस पहुचा; किन्तु, दोनों श्लीगल-भाइयो के विपरीत (क्योंकि दोनो ही रोमाण्टिक स्कूल के कवि थे) बॉप का भारत के प्रति प्रेम निरा एक धीर ललितप्रेमी का नही था, अपितु अन्वेषण-अध्येषण की गम्भीरता ने बॉप को एक नूतन 'विज्ञान' का सस्थापक ही बना दिया—तुलनात्मक भाषाविज्ञान तथा व्याकरण का जो भविष्य आगे चल कर निर्धारित हुआ, उसकी मूल भित्ति बॉप की प्रथम पुस्तक ने १८१६ मे खडी कर दी थी। यह नही कि भारतीय साहित्य के सम्बन्ध मे बॉप ने कुछ कम या कुछ घटिया लिखा हो; अपनी **व्याकरण** के आख्यातिक प्रकरण मे एक परिशिष्ट भी बॉप ने जोड दिया था जिसमे **रामायण** तथा **महाभारत** के कुछ उपाख्यानो के (मूल से) छन्दानुवाद प्रस्तुत थे, और साथ ही कोलब्रुक के अग्रेजी अनुवाद पर आधारित कुछ वैदिक सदर्भ भी। जिस निपुणता के साथ महाभारत की **नल और दमयन्ती** की उस अद्भुत कथा का एक सुन्दर, तुलनात्मक तथा प्रामाणिक, सम्पादन, लैटिन अनुवाद के साथ बाप ने प्रकाशित किया, वह बॉप की ही वस्तु है। महाभारत से सकलित अगख्य उपाख्यानो मे नल-दमयन्ती का यह उपाख्यान इतना स्वस्मिन्-पूर्ण है कि यह न केवल व्यास के महाकाव्य के अन्तर्गत एक सुन्दरतम कृति है अपितु भारतीय काव्य-कला का एक अद्भुततम चमत्कार भी है जो, स्वत, सस्कृत वाङ्मय के प्रति उत्साह और सस्कृत अनुशीलन के प्रति प्रेम जगाने के लिए पर्याप्त है; और इसकी भाषा भी इतनी सरल और हृदयस्पर्शी है कि पाश्चात्त्य विश्वविद्यालयो मे, जहा भी सस्कृत-अध्यापन का प्रबन्ध है, **नल-दमयन्ती** के उपाख्यान से ही उसका श्रीगणेश करने की एक प्रथा-सी तब से बन चुकी है। और भी कितने ही उपाख्यान महाभारत से उद्धृत कर, जर्मन-अनुवाद सहित, बॉप ने सर्वप्रथम छापे। बॉप के तीन सस्कृत व्याकरणो ने, और उसके सस्कृत-कोश ने, जर्मनी में सस्कृत के अध्ययन को अमूल्य प्रोत्साहन दिया।

इसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा सस्कृत अनुशीलन (की परिपाटी) का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि दोनो के उस शैशव मे ही विल्हेम वान हम्बोल्ड्ट जैसे प्रतिभावान्, सर्वतोमुखी तथा प्रभावशाली, व्यक्ति की प्राच्य-वाङ्मय के अध्ययन मे अभिरुचि जाग उठी। १८२१ मे हम्बोल्ड्ट ने सस्कृत पढ़ना शुरू किया और तभी, जैसे कि विल्हेम श्लीगल को उसने एक पत्र मे लिखा भी, हम्बोल्ड्ट को यह स्पष्ट हो चुका था कि "बिना सस्कृत के सर्वांगपूर्ण विश्लेषण के—भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध इतिहास मे किए-गए अनुसन्धानों का मूल्य कुछ-भी नही हो सकता"। और १८२८ मे श्लीगल ने भारतीय अनुशीलनों का विहगमा-

वलोकन करते हुए स्पष्ट शब्दों मे यह स्वीकार किया कि भाषाविज्ञान के नूतन शास्त्र के लिए सचमुच यह खुशकिस्मती ही है कि उसे हम्बोल्ड्ट जैसे मित्र और सरक्षक का सहयोग प्राप्त हो सका। **भगवद्गीता** के श्लीगल-कृत अनुवाद ने हम्बोल्ड्ट का ध्यान इस धार्मिक कविता की ओर खीचा। परिणामत', हम्बोल्ड्ट ने कितने ही निबन्ध गीता पर लिखे और फ्रंज गेन्त्स (१८२७) को लिखे एक पत्र मे उसने स्वीकार भी किया कि गीता सम्भवत. विश्व की सर्वश्रेष्ठ, उदात्त एव हृदयस्पर्शिनी रचना है। १८२८ मे उसने गेन्त्स को भगवद्गीता पर छपे अपने निबन्ध भी भेजे जिनकी कि, इसी बीच मे, हीगल ने कुछ कटु आलोचना की थी। हम्बोल्ड्ट ने लिखा कि "हीगल के विचार गीता के सम्बन्ध मे भले ही कुछ हो, मुझे भारत की यह दार्शनिक कविता बहुत भाती है। मेरी दृष्टि में इसका मूल्य बहुत है और मेरे लिए यही पर्याप्त है। मैंने इस सुन्दर कृति को पहले पहल सिलीशिया मे पढा था, और, पढते वक्त, मेरा हृदय तब क्षण-क्षण कृतज्ञता से भर आता था कि इस ग्रथ से परिचय प्राप्त करने के लिए भाग्य ने मुझे इतने दिन जीवित रखा।"[१]

जर्मन साहित्य के एक और महारथी को भी भुलाया नही जा सकता जिसमे, भाषाविज्ञान के सौभाग्य से, भारतीय कविता की ओर अभिरुचि उद्बुद्ध हुई। जर्मन कवि फ्रीड्रिक रैकर्ट अनुवाद-कला मे एक सिद्धहस्त कलाकार था। भारतीय काव्यो तथा गीतियो मे कितने ही मनोहर रत्न है, जो—

> **हजारों बरस हुए,**
> **भारत के ताल-वृक्षो के शिखरो पर**
> **झिलमिलाते थे**

और जो—रैकर्ट के अनुवादो के माध्यम से—आज जर्मन लोक वाङमय की सामान्य सम्पत्ति बन चुके है।

१८३० तक अवस्था प्राय' यह थी कि यूरोपीय विद्यार्थियो का ध्यान (उन दिनो) सस्कृत साहित्य के तथाकथित "लौकिक" अंश की ओर ही लगा रहता! **शकुन्तला, भगवद्गीता, मनुस्मृति, भर्तृहरि, हितोपदेश** और **महाभारत** तथा **रामायण** के कुछ उपाख्यान—बस, इन्ही में ही हमारा अनुसन्धान, हमारा गवेषण पर्यवसित था, और इसी को हम भारतीय साहित्य का 'मूल धन' समझे थे; अभी भारतीय इतिहास के मूर्धा एव मूलोद्गम, **वेद**, की महत्ता न हमे ज्ञात थी और न-ही हमे बौद्ध वाङमय से तनिक भी परिचय प्राप्त था। वैदिक वाङमय के सम्बन्ध मे, १८३० तक, जो कुछ अधूरा एव नगण्य ज्ञान हमे था वह भारत के सम्बन्ध मे हमारे पुराने लेखको द्वारा प्रकट किए गए उद्गारो पर ही आश्रित था। वेदों के सम्बन्ध मे पहली प्रामाणिक सूचना जो हमे मिलती है वह कोलब्रुक के १८०५ के **'मिस्सेले-निअस एस्सेज'** (मद्रास १८७२) से मिलती है। उपनिषदो के सम्बन्ध मे तथा

वेदांगों की दार्शनिकता के सम्बन्ध मे अलबत्ता हमें कुछ सही ज्ञान था। इन उपनिषदों का एक अनुवाद, फारसी मे, १७वी सदी में कभी (मुगल बादशाह शाहजहां के पुत्र और औरंगजेब के भाई) दाराशिकोह[2] ने किया था। इसकी फारसी के आधार पर १९वी सदी के शुरू मे प्रसिद्ध फ्रेंच मनीषी पेरों ने उपनिषदो का एक लैटिन रूपान्तर पश्चिम मे प्रकाशित किया। यद्यपि इस लैटिन अनुवाद में कितनी ही अपूर्णताएं, कितनी ही गलतियां मौजूद हैं, ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से इसका महत्त्व काफी है, क्योंकि—शेलिंग और शोपनहा'र सरीखे जर्मन दार्शनिक, भारतीय दर्शन के प्रति, इसी ग्रंथ के द्वारा आकृष्ट हुए थे। पेरो के ग्रन्थ मे हम उपनिषदो का वह स्वरूप नही पाते जो भारतीय भाषाविज्ञान तथा भारतीय दर्शन की व्यापक भूमिका पर आज हमे स्पष्ट है, किन्तु पेरो के अनुवाद के विषय मे ही शोपनहा'र का उद्गार था कि "यह ग्रन्थ मानवी चेतना का उत्कृष्टतम चमत्कार है।" और साथ ही मजा यह था कि जिस समय जर्मनी मे शोपनहा'र, उपनिषदो से कुछ नई चीज सीखने की बजाय, अपने ही दार्शनिक विचारो को, उलटे, उन्हीमे घसेड रहा था, उसी समय भारतवर्ष मे ब्राह्म-समाज की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। ब्राह्म समाज के संस्थापक राममोहन राय की गिनती सचमुच भारत की सर्वकालीन महान् विभूतियो मे होनी चाहिए।

ब्राह्म समाज एक नई धार्मिक संस्था है जिसमे हिन्दुओ तथा यूरोपीय धर्मों के श्रेष्ठ विचारों को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। राममोहन ने ब्राह्म-समाज की स्थापना उपनिषदो के विशुद्ध एकेश्वरवाद पर आधारित की और उपनिषदो के आधार पर ही अपने देशवासियो को यह समझाया कि यद्यपि भारत के वर्तमान सम्प्रदायों मे मूर्तिपूजा मे विश्वास कोई अच्छी वस्तु नही है, तथापि **इसी कारण** हमे ईसाइयत कबूल करने की जरूरत नही, क्योंकि—धर्म के सच्चे स्वरूप को हम अपने ही धर्मग्रन्थो (वेदों) मे भी पा सकते है, आवश्यकता है सिर्फ उन्हे समझने की। अपने इस विचार की सत्यता को सिद्ध करने के लिए (जो कि एक नया विचार था भी और नही भी, क्योकि प्राचीन साहित्य मे यह पहले से संस्कृत मे अनुस्यूत है-ही) १८१६-१९ मे बहुत-सी उपनिषदो का एक अंग्रेजी अनुवाद (राममोहन राय ने) छापा जिसके साथ दो-चार उपनिषदो के मूल शब्द भी अन्त मे संकलित थे। इस अनुवाद का एक ध्येय और भी था. वह यह कि राममोहन के दिल मे ईसाई धर्मोपदेशको एवं पादरियो के प्रति बड़ा आदर था और उन्हे भी वह यह बता देना चाहते थे कि ईसाई धर्म का 'आत्म'-गौरव भारत की इन उपनिषदों मे पहले से ही विद्यमान है।

किन्तु भाषा-विज्ञान की कसौटी पर वेदो के सच्चे अनुसन्धान की परम्परा १८३८ मे लन्दन मे छपे फ्रीड्रिख रोज़ेन के ऋग्वेद के प्रथम आष्टक के साथ होती

है। दुर्भाग्य से रोज़ेन अपने संस्करण को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्ग सिधार गया; सो, यूरोप में वैदिक अनुशीलन की आधारशिला का श्रेय फ्रांस के महान् प्राच्यविद् (जो १९ वीं सदी के पंचम दशक मे 'कालेज दे फ्रांस' मे संस्कृत प्रोफेसर थे) यूजीन बर्नूफ को है। यूजीन ने संस्कृत तथा वैदिक मे शिष्यो की एक विशिष्ट परम्परा तैयार किया जो आगे चल कर सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् बन गए। बर्नूफ के इन्ही शिष्यो में एक रूडोफ रोथ था जिसने १८४६ मे जर्मनी मे वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई। यही नही, अगले दो-तीन दशक रोथ का ध्येय भी इसी शिष्य-परम्परा को आगे बढाने का ही रहा, जिससे कि उनमे पश्चिम और पूर्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रति एक अदम्य अनुराग प्रज्वलित रहे। बर्नूफ का एक और विश्व-विख्यात शिष्य मैक्समूलर था जिसने 'वेदारम्भ की दीक्षा' रोथ के साथ ही पाई थी। बर्नूफ से प्रेरणा पा कर मैक्समूलर ने **ऋग्वेद** के सूक्तों को सायण-भाष्य सहित प्रकाशित करने की एक योजना बनाई : ऋग्वेद का यह संस्करण (जो १८४९-७५ मे प्रकाशित हुआ) वेद-सम्बन्धी अगले सारे अनुसन्धानों के लिए अपरिहेय है। इस संस्करण के छपने से पूर्व भी, वैदिक अनुसन्धान की जो अमूल्य सेवा थिओढोर औफ्रेक्त ने **ऋग्वेद** का एक पूर्ण किन्तु लघु संस्करण निकाल कर की, उसे कौन भुला सकता है?

बर्नूफ ने जहा वैदिक अनुशीलन को शिशुवत् (मातृ-हृदय की उद्भावनाओ के साथ) पाला, वहा उसने साथ ही—(लैस्सन के सहयोग से) पालि तथा बौद्ध साहित्य गवेषणा की आधारशिला भी रखी।

वैदिक वाङ्मय की, इस प्रकार एक स्वतन्त्र विभाग के रूप मे, प्रतिष्ठा के साथ, तथा बौद्ध वाङ्मय के उद्घाटन के साथ, भारतीय शोध का शैशव-काल समाप्त हो जाता है। अनुसन्धान मे अब यह स्व-त' एक विपुल विभाग बन चुका है जिसमे प्रतिवर्ष नए-से-नए सहयोगी हाथ बटा रहे है। अब तो कार्य की गति इतनी तीव्र हो चुकी है कि प्रमुख ग्रन्थो के प्रामाणिक संस्करण तो आए-दिन प्रकाशित हो ही रहे है, साथ ही—इन ग्रन्थों को स्पष्ट करने मे जैसे विश्व के सभी राष्ट्र परस्पर-प्रतिस्पर्धी दीख पड़ते है। पिछले दशको मे भारतीय वाङ्मय के, विभिन्न क्षेत्रों मे जो कुछ हो चुका है उसका उल्लेख, अधिकाश, प्रस्तुत इतिहास के विभिन्न अधिकरणो मे किया जाएगा। यहा तो भारतीय शोध की प्रगति मे मुख्य-मुख्य सोपानो—एव उस शोध के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण घटनाओ—का संक्षेप मे जिक्र ही किया जा सकता है।

इस प्रसंग मे सम्भवत. सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विल्हेम श्लीगल के शिष्य क्रिस्टियन लैस्सन ने किया है, जिसने अपनी **इण्डीश आल्तेरथुमस्कुन्दे** मे भारत के विषय में उपलब्ध सम्पूर्ण तात्कालिक ज्ञान को संगृहीत करने का प्रयत्न किया

था। १८४३ मे इस महान् ग्रंथ का पहला भाग प्रकाशित हुआ और १८६२ मे चौथा और अन्तिम भाग। यदि आज लैस्सन के निष्कर्ष कुछ पिछड़े हुए जंचते हैं तो इसमे दोष लेखक का नही, अपितु यह इस बात का प्रमाण है कि १९वीं सदी के उत्तरार्ध मे हमारा तुलनात्मक विज्ञान कितनी अविश्वसनीय प्रगति कर चुका है।

किन्तु इस प्रगति का सर्वाधिक शक्तिशाली स्रोत, और सम्भवतः संस्कृत अनुसन्धान के इतिहास की मुख्यतम घटना, व्हिट्लिङ् और रोथ का संस्कृत-कोश **संस्कृत वेर्तेरबुख** थी जिसे 'एकेडमी आव आर्ट्स एण्ड साइन्सेज इन सेन्ट पीटर्स-बर्ग' ने १८५२-७५ मे सात फॉलियो वौल्यूम्स मे प्रकाशित किया। यह प्राच्य-स्वाध्याय मे जर्मन उद्योग का जीवित-जागरित स्मारक है।

१८५२ में ही, जब कि **सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी** छपनी शुरू हुई, आलब्रेख्त वेबर ने भारतीय साहित्य का एक 'परिपूर्ण' इतिहास लिखने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। १८७६ मे इसका द्वितीय सस्करण भी प्रकाशित हो गया जिससे भारतीय-शोध के इतिहास मे इसकी महत्ता स्वतः-प्रमाणित हो जाती है, क्योकि—शैली आदि के व्यक्तिगत दावो के बावजूद (जो इसे एक साधारण पाठक के लिए कही-कही दुर्बोध कर देते है) कितने ही दशको से भारतीय वाङ्मय के सम्बन्ध मे वेबर की यह पुस्तक अब भी पूर्ण-नम है और सम्पूर्ण प्रामाणिक-तम सामग्री—एक ही स्थान पर—उपस्थित कर देती है।

भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन ने इतनी आश्चर्यजनक प्रगति कैसे की, और इतने थोडे समय मे—इसका कुछ परिज्ञान पाठक को विन्हेम श्लीगल के १८१९ मे छपे एक निबन्ध से बखूबी हो सकता है जिसमे लेखक ने दर्जन से ऊपर ऐसे (प्रकाशित) सस्कृत-ग्रन्थो का परिगणन किया है जो, सस्करणो अथवा अनुवादो के माध्यम से, हमारे सम्पूर्ण अनुसन्धान का स्रोत रहे हैं। इसके अनन्तर १८३० मे सेन्ट पीटर्सबर्ग मे प्रकाशित फ्रीड्रिख आदेलुङ् की एक पुस्तक मे इन प्रामाणिक ग्रन्थों की सख्या ३५० तक पहुच गई है, और तभी—वेबर के १८५२ मे प्रकाशित इतिहास मे जिन ग्रन्थो की आलोचना अथवा विवेचना हुई है उनकी सख्या—५०० हो जाती है। १८९१-१९०३ मे मुद्रित आफ़ेल्त के **कैटालोगस कैटलोगोरम** के तीन भागों पर यदि दृष्टि डालें तो बुद्धि दग रह जाती है, क्योकि—१९०३ तक उपलब्ध सभी हस्तलिपियो की सूचियो पर चालीस वर्ष के निरन्तर अध्यवसाय का परिणाम यह है कि भारत मे तथा यूरोप मे जहा-कही भी पाण्डुलिपियों की खबर मिली उनका नाम-सकेत इस बृहत् **कैटालोगस** मे दे दिया गया! किन्तु इस बृहत् 'सदर्भ-ग्रंथ' मे भी अभी बौद्ध साहित्य का उल्लेख नही हुआ और ना-ही भारत की सस्कृतेतर अन्य भाषाओ की गतिविधि का ही।

और—१९०३ के बाद तो कितनी अन्य 'नई' रचनाओ के बारे मे हमें खबर मिल चुकी है।

बौद्ध साहित्य के अनुसन्धान को उचित दिशा मे प्रोत्साहित करने का श्रेय १८८२ मे राईज डेविड्स द्वारा सस्थापित 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' को है। वेबर ने पुन. १८८३-८५ में जैन धर्म-ग्रन्थो के सम्बन्ध मे दो बृहत् निबन्ध प्रकाशित करके प्राच्य अनुसन्धान के लिए वाङ्मय की एक और महती शाखा, 'जैन-साहित्य शोध' (जो स्वय बौद्ध धर्म के समान ही प्राचीन है), भी खोल दी।

प्राचीन भारतीय साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थो की सख्या दिनों-दिन इतनी बढती जा रही है, यहा तक बढ चुकी है, कि आज एक ही विद्वान् के लिए उसके सभी क्षेत्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना असम्भव है। इसीलिए यह आवश्यक अनुभव हुआ कि भारतीय शोध की विभिन्न शाखाओं मे आज तक जो कुछ भी हो चुका है, उस सब को एक विश्वकोश की सक्षिप्त दृष्टि से एक ही स्थान पर उपस्थित कर दिया जाए। इसी उद्देश्य से एक विश्वकोश की योजना इन पिछले दशको के सर्वाधिक प्रतिभावान् तथा विश्वतोमुख विद्वान् जार्ज-ब्यू'लर, ने बनाई थी—जिसके प्रश्रय मे १८९७ से प्रस्तुत 'इतिहास योजना' का प्रकाशन जारी है। जर्मनी, आस्ट्रिया, इग्लैण्ड, हालैण्ड, भारत और अमेरिका के तीस विद्वान् इस **विश्वकोश** के विभिन्न भागो को सम्पादित करने के लिए, सबसे पहले ब्यू'लर की अध्यक्षता मे, उसके बाद फ्रंज कीलहार्न की, और अब ल्यूडर्स तथा वाकरनागेल की अध्यक्षता मे, सहयोगी हुए। इस प्राच्य शोधकोश का प्रकाशन सचमुच भारतीय शोध-विकास के इतिहास मे अभिनव एव 'आधुनिक'—सब से महत्त्वपूर्ण एव सर्व-अभिमत—पग है। **ग्रुन्ड्रिस** की यह प्रकाशन-योजना अनुसन्धान के इतिहास मे कितनी महत्त्व-पूर्ण घटना है यह हम लेस्सन के **इण्डिश आल्तेरतुमस्कुन्दे** मे सगृहीत 'भारत तथा भारतीय साहित्य के सम्बन्ध मे तत्कालीन तथ्यो' की तुलना ब्यू'लर के इस 'विश्वकोश के आज तक प्रकाशित भागो के साथ करके 'प्रत्यक्ष' अनुभव कर सकते है और, ,अ-मिथ्या, गर्व कर सकते है कि कितने थोड़े समय मे हमारे भारतीय शोध-विज्ञान ने कितनी अधिक प्रगति तथा उन्नति कर ली है!

१ Schriften von Friedrich von Gentz : *Heransgegeben von Gustav Schlester*, Mannheim, 1840, V, 291, 300.

२ L. von Schroeder . *Dara oöder Schah Dschehan und Seine Sohne* (Milan 1891).

भारतीय साहित्य की काल-परम्परा

भारतीय साहित्य के ग्रन्थ तो नए से नए प्रकाश मे आ रहे है किन्तु उनका ऐतिहासिक क्रम अभी प्राय अन्धकार मे ही विलीन है जिसका अन्वीक्षण अपेक्षित है। इस कालानुपूर्वी की अस्तव्यस्तता को देख कर कभी-कभी मन आतकित हो उठता है। प्राय. सभी समस्याओ का समाधान अभी अपेक्षित है। कितना ही अच्छा होता, और कितनी सुगमता इससे हो जाती, यदि हम भारतीय साहित्य को तीन या चार कालो मे कुछ निश्चित तिथियो के साथ विभाजित कर सकते और —उन कालों मे इन साहित्यिक कृतियो को मोटे तौर पर स्थापित कर सकते। परन्तु हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे ऐसा कोई भी प्रयत्न सफल होता नही दीखता; हां, कुछ काल्पनिक तिथिया ही रखी जा सकती है, परन्तु वह तो एक भ्रान्ति ही, लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक, उपस्थित करेगी। बेहतर यही होगा कि हम यह मान ले कि भारतीय साहित्य के इतिहास की प्राचीनतम अवस्था को हम निर्धारित नही कर सकते और यह कि, उसके बाद के युगो मे भी, कुछ ही तिथियो के सम्बन्ध मे हम कुछ निश्चय से कह सकते है। बरसो हुए व्हिटनी' ने एक बार कहा था, और व्हिटनी के वे शब्द कितनी ही बार दोहराए जा चुके है, कि "भारतीय साहित्य के इतिहास की सारी तिथिया ऐसी ही है जैसे हम कुछ पिन खड़े करके एक योजना को रूप देना चाहे किन्तु बार बार हमे नक्शा बदलना ही पड़े।" आज भी स्थिति प्राय. वही है। भारत के प्राचीन साहित्य की तिथियो के सम्बन्ध मे प्रमुख गवेषको मे पर्याप्त मतभेद है—वर्षों व दशको का नही, सदियो का—और कभी-कभी तो सहस्राब्दियों का—मतभेद है। यदि हम कुछ निश्चय के साथ किसी तथ्य पर पहुच सकते है तो वह तथ्य भी इस कालानुपूर्वी के सम्बन्ध मे एक आपेक्षिक तिथिपत्र के अतिरिक्त और कुछ बन नही पाता। प्राय हम यही कहते भी है कि फला पुस्तक अथवा साहित्य का फला अग फला पुस्तक अथवा साहित्य के फला अग से पुराना है, लेकिन उसकी सही तिथि के विषय मे बस एक कल्पना-भर ही पेश कर सकते है, और हमारे इस सापेक्ष काल-विभाजन का आधार अब तक मुख्यतया भाषा-विकास ही होता है। शैली की युक्ति हमारे प्रश्न पर कोई बहुत प्रकाश नही डाल सकती, क्योकि—भारतवर्ष मे लेखक प्राय प्राचीन साहित्य की शैली का अनुकरण करते आए है कि जिससे उनके ग्रन्थो मे 'प्रामाणिकता' का कुछ आभास आ सके। और अक्सर तो यह आपेक्षिक तिथिक्रम भी स्थिर नही रहता, क्योकि—भारतीय साहित्य मे जो-जो ग्रन्थ लोकप्रिय होते गए समय के साथ-साथ उन्ही की सुरक्षा को भारतीयो ने अपना कर्त्तव्य समझा—लेकिन, साथ ही साथ, साहित्य के ये सरक्षक इन प्राचीन ग्रन्थो मे यत्र-तत्र परिवर्तन-सशोधन भी करते

रहे ! उदाहरणतया जब हम **रामायण** या **महाभारत** का एक उद्धरण किसी पुस्तक में पाते हैं—किसी ऐसी पुस्तक मे पाते है जिसकी तिथि के सम्बन्ध मे कि प्रायः सन्देह नहीं होता, तो हमारे मन मे स्वभावतः सबसे पहला प्रश्न यही उठा करता है कि क्या यह उद्धरण हमारी हस्तगत पुस्तक के इसी सस्करण मे है या मूल (रामायण तथा महाभारत) मे भी था। और हमारी यह अनिश्चितता और भी बढ जाती है जब हमारे अनुसन्धान का विषय कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ हो जिसके रचयिता के विषय में हमें कुछ भी (नाम-धाम तक का) परिचय न हो। इन प्राचीन ग्रन्थो पर (जैसे कि हमे ये मिलते है) वशों, सम्प्रदायों, आश्रमो या बाबा आदम के युग के पौराणिक ऋषि-मुनियो की मोहर लगी होती है। और अन्त मे जब हमारे अध्ययन का विषय कोई अपेक्षया-आधुनिकतर लेखक होता है तब भी हमे लेखक के अपने नाम की बजाय उसके वश-नाम का ही किंचित् परिचय होता है; ऐसी अवस्था मे भारत का ऐतिहासिक कोई निष्कर्ष निकाले भी, तो कैसे ? यह तो ऐसे ही है जैसे जर्मन साहित्य के इतिहास मे मेयर, शुल्स, मूलर आदि दो-चार वंशानुगत नाम ही हमे पता हो किन्तु किसी भी लेखक का अपना निजी नाम हमे अज्ञात रहे। उदाहरण के तौर पर, जब भी हमे कालिदास के नाम की कोई कृति मिलती है हम निश्चय मे नही कह सकते कि यह भारत के प्रसिद्ध महाकवि की ही कृति है।

सन्देहो और अनिश्चयो के इस सागर मे जो दो-चार स्थिर-बिन्दु हमे ज्ञात है, उनका उल्लेख अब पाठक के परिज्ञान के लिए सावसर प्रतीत होता है।

मुख्यतया भाषा की साक्षी पर अब यह सिद्ध ही समझ जाना चाहिए कि वेद के सूक्त, और गान मन्त्र और यजुष् निस्सन्देह भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अवशेष है। दूसरी बात जो बगैर किसी शक के कही जा सकती है वह यह कि बौद्ध-धर्म मे (जिसका अभ्युदय ईसा से प्राय. ५०० वर्ष पूर्व हुआ था) सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को (उसके सागोपाग रूप मे) परिनिष्ठित स्वीकार किया जा चुका है। अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का युग एक प्रकार से पाच सौ ईसवी पूर्व तक समाप्त हो चुका था। बौद्ध और जैन साहित्य की स्थिति उतनी अनिश्चित नहीं है जितनी कि ब्राह्मण-धर्मी वैदिक साहित्य की। बौद्धो मे तथा जैनो मे उनके प्राचीन एवं प्रामाणिक धर्मग्रन्थो के रचना-काल, संग्रह-काल तथा व्यवस्था-काल के सम्बन्ध मे जो परम्पराए प्रचलित है, वे बहुत कुछ विश्वसनीय है। इसके अतिरिक्त, बौद्ध तथा जैन विहारो, चैत्यो और स्तूपो आदि पर जो धार्मिक अभिलेख मिलते है उनसे भी उनके धार्मिक साहित्य का काफी अच्छा तुलनात्मक समीक्षण सम्भव है।

तथापि भारतीय इतिहास के सम्बन्ध मे निश्चित तिथिया हमे स्वय भारतीय ऐतिहासिको से नही मिलती। भारत के प्राचीन इतिहास मे यदि कोई एक निश्चित

स्थिर-तिथि है तो वह है ३२६ ई० पू० में एलेग्जेण्डर का भारत पर आक्रमण। विशेषतः, भारत के साहित्य के सम्बन्ध में सिकन्दर के आक्रमण का यह साल एक ऐसी कसौटी है कि जिस पर हम किसी भी भारतीय ग्रन्थ पर अथवा कलाकृति पर यूनानी प्रभाव की सत्यता परख सकते है; और यह भी हमे यूनानी लेखकों मे ही पता लगता है कि चन्द्रगुप्त ने ऐलेग्जेण्डर के सामन्तों के खिलाफ एक सफल बगावत की थी और उसके बाद पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) पहुच कर, नन्दो की वंशानुगत गद्दी हथिया कर, मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। और प्राय इसी समय, या उक्त घटना के कुछ-ही वर्ष पश्चात्, सैल्यूकस के प्रतिनिधि रूप मे मेगास्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में पहुचा था। मेगास्थनीज के भारतीय उल्लेखो मे जो-कुछ बच सके है उनसे चौथी सदी ईसवी पूर्व की भारतीय संस्कृति का चित्र बखूबी हमारे सामने आ जाता है और उसके सहारे हम कितनी ही भारतीय साहित्यिक कृतियो का काल प्राय निर्धारित कर सकते है। सम्राट् अशोक इसी चन्द्रगुप्त का ही एक पोता था जो २६४ ई० पू०[२] मे राजसिंहासन पर बैठा। भारत के प्राचीन-तम अभिलेख भी, जिनकी तिथि हम निश्चयपूर्वक जानते है, (वे भी) अशोक के ही हैं। शिलाओ तथा स्तूपो पर अंकित इन लेखो की लिपि भारत की प्राचीनतम (उपलब्ध) लिपि है। इन अभिलेखो के आधार पर हम यह कह सकते है कि यह शक्तिशाली सम्राट् बौद्ध धर्म का संरक्षक था; उत्तर मे दक्षिण तक व्याप्त साम्राज्य की शक्ति को उसने पूर्णरूपेण बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ लगा दिया, किन्तु अन्य राजाओ की तरह वह इन धर्मलिपियो मे अपनी विजयो और कारनामो को नही बखानता अपितु शिलाओं और स्तूपो की अविनश्वरता मे मानव प्रेम एवं सहिष्णुता, और निष्पाप परार्थ-जीवन के उपदेशो को ही अंकित करता है। पत्थरो पर खुदे सम्राट् अशोक के ये आदेश एक राजा के हृदय-परिवर्तन के 'स्मारक' तो है ही, एक ऐतिहासिक के लिए उनकी लिपि और भाषा की उपयोगिता भी कुछ कम नही है, भारतीय वाङमय और धर्म के विकास मे उनका अपना स्थान है। १७८ ई० पू० मे (अर्थात् चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के १३७ साल बाद) मौर्यो के अन्तिम वंशज को पुष्यमित्र ने पदच्युत कर दिया। और कालिदास के एक नाटक मे सम्राट् पुष्यमित्र का उल्लेख अपने-आप मे भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थो की तिथि निर्धारित करने मे एक महत्त्वपूर्ण युक्ति है। यही अवस्था ग्रीक-बैक्ट्रियन सम्राट् मेनाण्डर की है जो प्राय १४० ईसवी पूर्व मे जीवित था और जो बौद्ध धर्म के **मिलिन्दपञ्हो** मे मिलिन्द के नाम से अमर है।

यूनानियो के अतिरिक्त, भारतीय साहित्यिक इतिहास के तिथि-निर्धारण मे हम चीनी लेखको के भी अनुगृहीत है। ईसा की पहली सदी से ही बौद्ध भिक्खुओ ने चीन की ओर धर्म-यात्राओ का सिलसिला, और बौद्ध धर्मग्रन्थो का चीनी मे

अनुवाद शुरू कर दिया था; और, उधर से, चीन और भारत में दूतावासों, तीर्थ-यात्राओं के परस्पर सांस्कृतिक दानादान की परम्परा भी शुरू हो चुकी थी। भारतीय साहित्य के कितने ही ग्रन्थ हमें चीनी अनुवादों में ही मिलते हैं और इन अनुवादों की निश्चित तिथियां हमें मालूम हैं। बौद्ध तीर्थों के दर्शनार्थ, विशेषत, तीन चीनी यात्री, भारत में आए फा-हीन ३९९ ई०; च्वान च्वाङ—जो-६३०-४५ में कितनी ही बार भारत में आया, और इ-त्सिङ जिसने ६७१-९५ में सम्पूर्ण भारतवर्ष की 'परिक्रमा' की। इन तीनों यात्रियों के यात्रा-संस्मरण आज भी मौजूद हैं और इनमें भारत के प्राचीन वाङमय तथा इतिहास के सम्बन्ध में अमूल्य सामग्री सगृहीत है। भारतीयों के विपरीत, चीनियों की काल-बुद्धि—काल-'रक्षा-बुद्धि'—आश्चर्यजनक है, और सच्ची है। भारतीय ऐतिहासिकों के विषय में अरबी यात्री अल्बेरुनी ने १०३० में जो कुछ लिखा था वह आज भी कितना सच है: "दुर्भाग्य से हिन्दू लोग अपने मुल्क के वाकयात की तवारीख के बारे में कुछ ध्यान नहीं देते—वे अपने ही राजाओं को आगे पीछे धकेलते रहते हैं, और जब कोई ऐतिहासिक उनसे सही सही वाकयात मालूम करना चाहता है और वो कुछ बता नहीं सकते, तब उनके पास एक ही रास्ता रह जाता है—वो किस्से घडना शुरू कर देते हैं।"[1]

फिर भी पाठक यह न समझ लें (जैसा कि एक विश्वास-सा ही साधारणतया आजकल बन चुका है) कि भारतीयों में इतिहास-बुद्धि का सर्वथा अभाव है। भारत में भी इतिहास-सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गये, और कम-से-कम अभिलेखों तथा शिलालेखों की एक विपुल संख्या तो ऐसी है ही कि जिनकी तिथियां निश्चित रूप में अंकित हैं। यदि भारतीयों में सचमुच ऐतिहासिक बुद्धि न होती, तो इन अभिलेखों में भी हम उसे प्रमाणित देखते, यद्यपि यह सच है कि इतिहास लिखते हुए भारतीय कवि इतिहास तथा आख्यान में भेद नहीं करते, उनकी दृष्टि में स्वयं घटनाओं का महत्त्व, सदैव, घटनाओं के अनुक्रम से अधिक होता है. सो, जब वे साहित्य-क्षेत्र में उतरते हैं तो इन्हीं घटनाओं की पूर्वोत्तरी को वे सर्वथा भुला देते हैं। भारतीय कवि 'सत्य, शिव, सुन्दर' को हमेशा प्राचीनता की ओर उठा ले जाता है, और यदि यही लेखक अपने किसी सिद्धान्त को कुछ विशेष प्राचीनता, आदर और लोकप्रियता देना चाहता हो तो वह, बड़ी सरलता के साथ, किसी पुराण, ऋषि मुनि का नाम अपनी कृति को देकर स्वयं 'अ-पौरुषेय' हो जाता है। भारत में यह प्रक्रिया आज भी चल रही है, और प्राचीन शतियों में स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं थी। यही कारण है कि कितनी ही वर्तमान रचनाएं—मुहावरा उलटा दें तो 'पुरानी बोतलों में नई शराब'—'उपनिषदों और पुराणों' के रूप में हमारे सामने आती हैं। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यह सब हमें धोखा देने के लिए

किया गया है। विशेषतः प्राचीन भारतीयों में साहित्यिक नाम और शोहरत की हवस बिल्कुल न के बराबर ही थी। परवर्ती कृतियों में ही हम यह देखने लगे हैं कि लेखक, खैर से, अपने—नाम, धाम, वश, माता-पिता, पितामह, शिष्य-परम्परा (किंचित्—'आत्म-निवेदन' के साथ) देने लग गए हैं। ज्योतिष-शास्त्र के लेखक तो प्राय अपने ग्रंथ की समाप्ति की सही घडी तक अंकित कर गये हैं। छठी सदी ईसवी के बाद ऐतिहासिक अभिलेखों में अनेक साहित्यिकों का परिचय हमें मिलना शुरू हो जाता है। पिछले दशकों में इन अभिलेखों को पढने में पर्याप्त उन्नति हुई है जिसका प्रमाण **कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इन्डिकेरम** की बृहत् ग्रन्थमाला तथा त्रैमासिक **ऍपिग्राफिआ इण्डाइका** का अविरत सम्पादन है। ये अभिलेख मात्र भारत के प्राचीन साहित्य की कुछ तिथियां सुलझाने के लिए ही सहायक सिद्ध हुए हों—ऐसी बात नही है, इनमे भारतीय इतिहास को अन्यान्य अद्यावधि-असमाहित समस्याओं पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडने की हमें आशा है।

१ Intro to his *Sanskrit Grammar*, Leipzig, 1879.
२ JRAS, 1912, 239.
३ E C. Sachau : *Alberuni's India*, II, 10 ff.

भारतीय साहित्य की सुरक्षा और लिपि का प्रश्न

इन ऐतिहासिक अभिलेखों का मूल्य बहुत अधिक है, क्योंकि—ये भारतीय इतिहास से सम्बद्ध एक ऐसे प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं जिसका महत्त्व भारतीय (वाङमय के) इतिहास की दृष्टि से भी कुछ कम नही है। प्रश्न है—भारत में लेखनकला का उद्भव। और, जैसा कि हमें शायद आभास मिल ही चुका है, भारतीय वाङमय का इतिहास भारतीय लिपि के इतिहास के साथ ही शुरू नही होता, भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचनाएं, लिपिबद्ध हो कर नहीं, मुख-परम्परा में सदियों सुरक्षित रही। फिर भी इस प्रश्न का समाधान—कि कब से भारतीय वाङमय लिखित रूप मे आना शुरू हुआ—वाङमय के इतिहास में उपेक्षित नही रह सकता। आज जो भारतीय अभिलेख प्राचीनतम रूप मे हमें मिले है, वो ईसा से पूर्व तीसरी सदी में उल्लिखित सम्राट् अशोक की उपरिनिर्दिष्ट धर्मलिपियां ही हैं। किन्तु इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना—जैसा कि मैक्समूलर ने किया भी है—कि भारत में लिपि-कला अशोक से पूर्व नही थी,

अनुचित होगा। पुरातत्त्व की साक्षी अकाट्य है कि लेखन-कला भारत मे अशोक के समय से शुरू नही होती, अशोक के पूर्व भी उसका काफी पुराना इतिहास होना चाहिए। भारत की प्राचीनतम लिपि—जिससे कि देवनागरी लिपि (और इसमें प्राय सभी भारतीय हस्तलेख पाए जाते है) और भारत की अन्यान्य लिपिया निकली—भारत से ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रचलित है (क्योकि भारतीयो की आस्था है कि इसका निर्माण प्रजापति-ब्रह्मा ने किया था)। जार्ज ब्यू'लर' की गम्भीर गवेषणाओ के अनुसार—ब्राह्मी का उद्भव उत्तरी सेमेटिक अक्षरो के वे प्राचीनतम रूप है जो लगभग ८९० ई० पू० एक शिला पर फिनीशन अभिलेखो मे मिलते है। सम्भवत ८०० ई० के करीब उधर से आने वाले व्यापारी अपने साथ अपनी लिपि भी भारत मे लेते आए। और यह भी सम्भव है कि बहुत समय तक उस प्राचीन लिपि का प्रयोग व्यापार, हिसाब-किताब, पत्र-व्यवहार और दस्तावेज आदि के लिए ही होता रहा हो। और जब आगे चलकर दूतावासो के आदेश, घोषणापत्र तथा व्यवहार भी लिपिबद्ध होने लगे, राज्याधिकरणो मे पढ़े-लिखे वैयाकरणों और ब्राह्मणो को नियुक्त किया जाने लगा, ताकि—इस विदेशी लिपि को भारतीय ध्वनियो के अनुकूल बनाया जा सके। मूल सेमेटिक वर्णमाला मे २२ अक्षर थे और भारत के प्राचीनतम अभिलेखो मे हमे ४४ अक्षर मिलते है। फिर भी इस बारे मे निश्चय से कुछ नही कहा जा सकता कि कब से भारतीय साहित्य लिखित रूप मे पेश होने लगा; इस सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है। पुराने हस्तलेखो के सम्बन्ध मे कुछ प्रामाणिक सूचना हमे नही मिलती कि वे कब लिखे गए। विशेषत वैदिक साहित्य के बारे मे तो अब तक उसके लिपिबद्ध होने का प्रमाण, वेद के सरक्षको मे लिपिज्ञान का प्रमाण—कोई नही मिल सका। बौद्ध धर्मग्रन्थो मे (जो ३४० ई० पू० तक पूर्ण हो चुके थे) कही भी हस्तलेखो का जिक्र नही मिलता—यद्यपि लेखन-कला के परिचय और व्यापक उपयोग के प्रमाण उसमे जहा-तहा प्रकीर्ण है। इन ग्रन्थो मे लेखन-कला का शिक्षाशास्त्र मे एक विशिष्ट स्थान है और, खास तौर पर बौद्ध भिक्खुनियो को इस कला मे निपुणता प्राप्त करने के लिए आदेश भी है, बौद्ध ग्रन्थो मे कई स्थलों पर ऐसे भिक्खुओ का उल्लेख मिलता है जिन्होने आत्महत्या की 'लिखित रूप मे (धर्मानुसार!)' प्रशसा करते हुए कितनो को ही मौत की राह दिखाई! और वहा यह भी लिखा है कि कोई आदमी, जिसकी चोरी का जिक्र एकबार सरकारी रजिस्टर मे हो चुका, सघ का भिक्खु नहीं बन सकता! एक अक्षरो-के-खेल का भी जिक्र है, और यह भी कहा गया है कि माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चो के लिए लिखाई-पढाई और हिसाब-किताब का प्रबन्ध करें। किन्तु बौद्ध धर्मग्रन्थों मे कही भी इस बात का जरा सकेत नही मिलता कि पुस्तके भी

लिखी और पढ़ी जाती थी, और यह तब जब कि बौद्धों के इन ग्रन्थों मे उनके भिक्खुओ के जीवन की छोटी से छोटी घटनाए अंकित है। "सुबह से शाम तक इन धर्म-भिक्खुओ की दैनिक चर्या कैसी होती थी, वे कहा-कहा जाते थे, कैसे आराम करते थे, कब एकान्त सेवन करते थे और अन्य भिक्खुओ तथा गृहस्थो के बीच मे वे क्या उपदेश देते थे, उनके आवास मे क्या-क्या सामान रहा करता था, उनके बर्तन, उनके स्टोर-रूम—सब का खूब बारीकी के साथ वर्णन हम पढ सकते है; किन्तु—क्या वे अपने ही धर्मग्रन्थों को पढते-लिखते भी थे ? उनके पास, उनके आश्रमो मे कुछ लेखन-सामग्री भी रहा करती थी ?—यह जानने के लिए हमारे पास कोई उपाय नही है। विहारों मे पुस्तकालय का काम इन 'बहुश्रुत'—'बहु-पठित' नहीं—भिक्खुओं की स्मृति-शक्ति द्वारा ही चला करता था। और यदि कभी सघ मे किसी प्रामाणिक सदर्भ का ज्ञान आवश्यक आ पडता, ऐसे मौको पर—उदाहरणतया जब कि सघ के अधिवेशनो मे पूर्णिमा अथवा प्रतिपदा के अवसर पर 'शील-ग्रहण' की उपेक्षा असम्भव होती थी, ऐसे मौको पर—उसी पुरानी रीति का अनुसरण किया जाता और वही घिसे-पिटे पुराने शब्द दोहरा दिये जाते 'उन भिक्खुओं मे से एक को अविलम्ब प्रत्यन्त सघ मे भेज दिया जाएगा; और उसे कहा जाएगा—जाओ भाई, जब तुम्हे 'शील-ग्रहण' का यह मन्त्र याद हो जाए तभी वापिस लौटना।'"[२] और जब-जब भगवान् बुद्ध के सुत्तो को सुरक्षित करने का प्रश्न उठता है, कही भी बुद्ध-वचन को लिखने या पढने का जिक्र नही आता हमेशा सुनने और याद करने पर ही ज़ोर दिया गया है।

इन तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि पाचवी सदी ईसवी पूर्व तक भारतीय साहित्य को लिपिबद्ध करने का विचार सम्भवत. अभी नही उठा था। लेकिन किसी भी परिणाम पर पहुचने मे हमे जल्दबाजी नही करनी चाहिए, क्योकि —भारत मे बहुत पुराने समय से, और आज भी, गुरु-वाणी[३] का महत्त्व लिखित शब्द की अपेक्षा—साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र मे—कहीं[४] अधिक है—आज जब कि भारतीयो के पास लेखन के सभी साधन, उपकरण सदियो से मौजूद है, कितनी ही अमुद्रित पाडुलिपिया अभी ऐसी पड़ी है जिन्हे कि वे बडे आदर और श्रद्धाभाव से देखते है, कितने ही पुराने ग्रन्थो के सस्ते सस्करण उपलब्ध है, आज इन अवस्थाओं मे भी, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक, सम्पूर्ण व्यवहार भारत मे उच्चरित शब्द पर ही आधारित है। प्राचीन ग्रन्थो का अध्ययन आज भी हजारो बरस पुरानी उसी मौखिक परम्परा के अनुसार ही होता है, हस्तलेखो को तो कोई छूता तक नही। इन हस्तलिखित प्रतियो की उपयोगिता केवल वैयक्तिक स्मृति को बस 'समर्थित' करने मे ही होती है, किन्तु, —उन्हे प्रामाणिक नही माना जाता। और यदि भाग्य से आज सारे के सारे हस्तलेख और मुद्रित ग्रन्थ

नष्ट भी हो जाएं, तो उसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि भारतीय साहित्य पृथ्वी से ही लुप्त हो गया, क्योंकि—वंशानुगत वाचक तथा अध्यापक इस साहित्य के अधिकांश को अपनी याददाश्त के जरिये फिर से वापिस ला सकते हैं। कवियों की रचनाएं भी भारत में (मूल में)—पाठकों के लिए नहीं—श्रोताओं के लिए लिखी गई थीं। भारत के आधुनिक कवियों की आकांक्षा भी यह नहीं होती कि लोग उनके काव्य को पढ़ें बल्कि यह होती है कि वह श्रोताओं का कण्ठाभरण बन सके।

इसलिये पुराने साहित्यिक ग्रन्थों में जब हम इन हस्तलिखित पुस्तकों का कोई उल्लेख नहीं पाते तो उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि भारतीय वाङ्मय लिखित रूप में था ही नहीं। शायद लेखनकला तथा लिखित ग्रन्थों का अनुल्लेख इसी बात को सिद्ध करता है कि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में लिखित की अपेक्षा 'प्रोक्त' वचन का महत्त्व अधिक था। यों, यह असम्भव नहीं कि पुराने जमाने में भी शिक्षा में—सहायतार्थ—प्रामाणिक ग्रन्थों की लिखित प्रतियां साथ मौजूद रहती हों; ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है भी। एक बात की ओर ध्यान दिलाना इस प्रसंग में, अलबत्ता, हम आवश्यक समझते हैं: वह यह कि—परतर पुराणों में, बौद्ध महायान ग्रन्थों में, तथा महाभारत के आधुनिक परिशिष्टों में, ग्रन्थों की प्रतिलिपियां सुरक्षित रखना एक धार्मिक कृत्य माना गया है जब कि ऐसा कोई संकेत हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता· यहां तक कि प्राचीन वर्णोच्चारण शिक्षा,व्याकरण आदि विषयक ग्रन्थों में, और दूसरी सदी ईसवी पूर्व पतंजलि के महाभाष्य में भी, लेखन-कला के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। इन ग्रन्थों में लिखित शब्दों का अथवा वर्णमाला का जैसे कोई मूल्य ही न हो! उनकी परिभाषाओं का अभिधेय भी मुखोच्चरित शब्द ही होता है।—ये तथ्य हैं जिनके आधार पर हमारी यह धारणा बनी है कि प्राचीन भारत में लिखित ग्रन्थों का अभाव था।

लेखनकला तो हो, किन्तु सदियों उसका साहित्यिक उपयोग न हो सके, इस अद्भुत परिस्थिति के भी अनेक कारण सम्भव हैं। पहला कारण तो यह कि शायद यहां लेखन सामग्री का अभाव था; किन्तु सामग्री उपलब्ध हो सकती थी यदि उसके लिए तीव्र आवश्यकता अनुभव होती, तब! न केवल ऐसी आवश्यकता अनुभव ही नहीं हुई, अपितु उसका अभाव स्वयं वेदों तथा अन्यान्य 'ब्राह्मण'-साहित्य के ठेकेदार ब्राह्मणों के हित में ही था क्योंकि—ये धर्म-ग्रन्थ उन्हीं के गुरुकुलों में ही पढ़ाए जाते थे, और उनका लोक-सुलभ होना ब्राह्मणों को कभी इष्ट न था! (क्योंकि—प्राचीन साहित्य पर इस एकाधिकार से ही उनकी रोटी जो चलती थी।) जिसे भी वेद पढ़ने की इच्छा हो वह उनके पास चलकर जाए और उन्हें प्रभूत दक्षिणा दे; और जब ये ब्राह्मण-आचार्य समझते कि समाज में कुछ ऐसे

वर्ग भी हैं जिन्हें इस ज्ञाननिधि की अभिरक्षा ही इष्ट है तो ऐसे वर्गों को वैदिक ज्ञान से वंचित रखना भी तो उनके अपने अधिकार में ही था। ब्राह्मणीय स्मृति-ग्रन्थों में इस बात के हम स्पष्ट आदेश ही पाते हैं कि वेदों तथा तद्विध अन्य धर्मग्रन्थों को शूद्रों तथा चाण्डालों के स्पर्श से, अकारण, पतित न होने दिया जाय ! —क्योंकि शूद्र उतना ही अस्पृश्य होता है जितना कि एक शव अथवा श्मशान घाट ! शूद्रों के सम्मुख वेदपाठ का निषेध भी इन स्मृतियों में विहित है। गौतम धर्मशास्त्र (१२ ४-६) में लिखा है "यदि वेद के शब्द शूद्र के कानों में (किसी की गलती से) पड़ जाए, तो उसके कानों को पिघले रांगे या लाख से भर दिया जाय, और यदि कोई शूद्र वेदोच्चारण करने की धृष्टता करे तो उसकी जबान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाय, यदि वह कोई मन्त्रांश कण्ठस्थ कर ले तो उसकी बोटियां उड़ा दो।" सो, इन परिस्थितियों में यह कैसे सम्भव था कि वेदों का पठन-पाठन खुले-आम होता और अनधिकारी व्यक्ति उनकी पवित्रता को दूषित कर सकते ? इसके अतिरिक्त वेदों के पठन-पाठन और अध्यापन की मुख-परम्परा बाबा आदम के जमाने से चली आ रही थी। उसे कैसे एकदम से बदल दिया जाय ? लेखन-कला का, धार्मिक ग्रन्थों के लिए, भारत में प्रचलन जो नहीं हुआ उसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि भारतीयों का इस कला से परिचय किसी ऐसे युग में हुआ जब मौखिक परम्परा द्वारा प्रचलित साहित्य उनके यहां प्रचुर मात्रा में सञ्चित हो चुका था।

इस प्रकार यह निश्चित ही है कि भारतियों के सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य का, ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य का, उदय लिपिकला की सहायता के अभाव में ही हुआ, और उसका प्रचार भी सदियों, उसी प्रकार, मुखात्-मुख ही होता रहा। इन धार्मिक ग्रन्थों में तथा लौकिक ग्रन्थों से परिचय प्राप्त करने का एक ही ढंग था—श्रुति। इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य में हम बार-बार यह पढ़ते हैं कि कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिय जब विद्या-ग्रहण के लिए उन्मुक हो तो वह देश देशान्तर यात्रा करके, अनेकों दुःख और कष्ट सहन करके, और कुर्बानियां करके ही, कुछ हासिल कर सकता है ! और शायद इसीलिए प्राचीन धर्म तथा साहित्य के रक्षक होने के नाते भारतीय धर्मशास्त्रों में आचार्यों का स्थान बहुत ऊंचा है—आचार्यदेवो भव ! भारतीय, लोग गुरु की पूजा माता-पिता से भी अधिक करते है, वे उसे साक्षात् ब्रह्मा का अवतार समझते हैं और परम विनम्रता के साथ उसकी शुश्रूषा-परिचर्या करते हैं। ब्रह्मलोक ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है, और ब्राह्मण वह होता है जिसने ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ली है—जिसने गुरु के चरणों में बैठ कर दीक्षा ली है। इसीलिए हिन्दुओं में चूडाकर्म तथा वेदारम्भ का बहुत महत्त्व है, अन्यथा—नियम भंग करने वाले को, अ-दीक्षित को, जाति-बाह्य कर दिया जाता है ! खैर, कोई ग्रन्थ तभी तक सुरक्षित रह सकता था जब तक उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले थे। आज हम जिसे साहित्य

की विविध शाखाएं, धार्मिक तथा दार्शनिक विभाग, एक ही संहिता के अनेकों चरण अथवा परिषद् कहते हैं, वे—सचमुच प्राचीन भारत मे वस्तुत विभिन्न गुरु-शिष्य परम्पराए ही थी जिनमें विशेष-विशेष ग्रन्थ ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान-दान के रूप मे संक्रमित चलते आते थे ! भारत के प्राचीन साहित्य का विकास हम समझ ही तभी सकते हैं जब हम भारतीय अध्ययन-अध्यापन के इस अनुक्रम को भी ध्यान में रखें, अन्यथा नही ।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रहे कि धार्मिक ग्रन्थों को सुरक्षित करने का ढग लौकिक साहित्य को सुरक्षित करने के ढग से कुछ भिन्न था । धार्मिक ग्रन्थो के प्रति आस्था का पहला तकाजा होता है कि उन्हे बड़े ध्यानपूर्वक पढा जाय और याद कर लिया जाय । उनको अक्षरश -सस्वर उच्चारण के साथ दोहराना होता है और उसी-तरह—कही भी जरा-सी गलती न आने पाए—स्मृतिपट पर उतारना होता है । इसमे कोई सन्देह नही कि हस्तलिखित ग्रन्थो की प्रतियो के अनन्तर प्रतिया उतारने मे इस मौखिक परम्परा का इतिहास मे बड़ा सहयोग रहा है । सचमुच, और जैसा कि हम आगे देखेंगे भी, हमारे पास इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि **ऋग्वेद** के सूक्त आज के मुद्रित सस्करणो मे अक्षरश , स्वरश -शब्दश , उसी रूप मे विद्यमान है जिस रूप मे कि वे पाचवी सदी ईसवी पूर्व थे ! किन्तु लौकिक साहित्य के सम्बन्ध मे, **महाभारत** और **रामायण** के सम्बन्ध मे विशेषत , हम यही बात नही कह सकते । हर अध्यापक, हर पाठक, और हर श्रावक—जैसे अपना यह अधिकार ही समझता आया है कि "जहा चाहूं, मूल ग्रन्थ मे काट-छाट और परिष्कार कर सकता हूं !" परिणाम यह है कि मूल महाकाव्य क्या था, उसका प्राचीनतम रूप क्या था · (आज तक) समीक्षक के लिए यह निश्चित कर सकना प्राय· असम्भव ही रहा है । कुछ हो, विशेषकर वेदो के मूल, प्राचीन, रूप के सम्बन्ध मे (प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थो तथा प्रातिशाख्यो की सहायता से, और कभी-कभी टीका-ग्रन्थो की सहायता से भी) (वेदो के) मूल रूप निश्चित करने मे मौखिक परम्परा—जहा भी उपलब्ध हो सकी—प्राय· निश्चायक ही रही है । बात यह है कि हस्तलिखित प्रतिया बहुत कम ही सचमुच बहुत पुरानी होती है, और प्राचीन लेखन-सामग्री भी भारत मे बहुधा तालपत्र तथा भूर्जपत्र ही तो हुआ करती थी; इसके अतिरिक्त, स्वय भारतीयो की अपने प्राचीन ग्रन्थो के प्रति श्रद्धा उन्हे—यद्यपि आज कागज़ आम है, और छापेखाने भी है—उन प्राचीन धर्मग्रन्थों को तालपत्रो पर ही लिखने के लिए जैसे मजबूर करती है ! दोनो ही पत्र जल्दी भुर जाने वाले होते है और–'नीम चढ़ा' —भारतीय जलवायु ही कुछ ऐसा है कि ये चीजे बहुत देर तक टिक नही सकती । इस प्रकार उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थो मे अधिकाश (जिन पर कि हमारे मुद्रित सस्करण निर्भर है) कुछ ही सदी पुराने है । बहुत कम पाण्डुलिपिया १४वी सदी की

है; और इने-गिने हस्तलेख ही ११वी या १२वी सदी के होगे। भारतीय ग्रन्थों के प्राचीनतम लिखित रूप नेपाल, जापान और पूरबी-तुर्किस्तान मे—नेपाल में ७वी सदी तक, तो जापान मे भूर्जपत्रो पर लिखे छठी सदी के प्रथमार्ध तक, पुराने—मिलते हैं। १८८९ मे काशगर मे और उसके आस-पास हमे ५वी सदी से पुराने हस्तलेख भी मिले, और १९०० मे औरेल स्टाइन ने खोतन के पास तक्लमका के रेगिस्तान मे खुदाई करके ५०० छोटे-छोटे काष्ठफलक अर्जित किए—जिन पर चौथी सदी, या उसमे भी कुछ पूर्व, कुछ लिपिबद्ध किया गया था! इनके अतिरिक्त, तुर्फान मे एक जर्मन अन्वेषक दल की सहायता मे और स्वय औरेल स्टाइन की नई खोजो से पहली और दूसरी शताब्दी ईसवी के लेखो के कतिपय अश भी हमे मिल चुके है।[1]

बौद्ध ग्रन्थों मे लकड़ी की लेखपत्र के तौर पर इस्तेमाल करने का उल्लेख मिलता है। पहली सदी ईसवी पश्चात् के भूर्जपत्र भी उपलब्ध हो चुके है, किन्तु—रूई, चमडा और धातु या पत्थर का लेखन-सामग्री के रूप मे प्रयोग भारत मे बहुत कम होता था। बौद्ध ग्रन्थो मे, सरकारी कागजात ही नही, श्लोक और उपदेश भी, स्वर्ण-पत्रो पर लिखे जाने के उल्लेख मिलते है (और एक स्वर्ण-पत्र तो ऐसा अब भी सुरक्षित है जिस पर कुछ स्तोत्र-सा अभिलिखित है)। चादी के पत्रो पर शासन, सन्धि आदि अथवा अन्य लघु लेख तो प्राय यहा मिलते ही रहे है, ताम्रशासन, अलबत्ता, जिन पर कि प्राय भूमिदान वगैरह का जिक्र होता है, प्रभूत मात्रा मे अब भी सुरक्षित है। चीनी यात्री ह्वान च्वाङ के यात्रा-वर्णनो मे कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्मलेखो का ताम्रपत्रो पर खोदने का उल्लेख मिलता है। हम नही कह सकते कि ह्वान च्वाङ का यह वर्णन सत्य पर आधारित है या नही, किन्तु इस पर शक करने की कोई गुजाइश भी प्रतीत नही होती, क्योंकि—कुछ साहित्यिक कृतिया भी इन ताम्रपत्रो पर अकित हमे अब मिल चुकी है। अन्यथा—इस बात पर सहसा विश्वास करना कि भारत मे साहित्यिक कृतियो को शिलाओ पर भी अमिट करने का रिवाज था शायद मुश्किल ही होता (यदि—कुछ वर्ष पूर्व अजमेर मे पत्थरो पर खुद एक भारत सम्राट् के, सम्भवत उसके राजकवि के, कुछेक पूरे-के-पूर नाटक हमे उपलब्ध न हो चुके होते)।

किन्तु—भारतीय हस्तलेखो का बहुत बडा भाग कागज पर ही लिखा मिलता है, और यह कागज हिन्दुस्तान मे पहले-पहल मुसलमान लोग ही लाए थे। पुराने से पुराना कागज, जिस पर कुछ लिखा गया, १२२३-२४ ई० मे ही शुरू-शुरू मे यहा पहुचा था।

फिर भी, भारतीयों की मौखिक अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति के बावजूद, भारत मे हस्तलेखो के संचयन तथा पुस्तकालयों मे रक्षण का काम भी कितनी ही सदिया पहले से शुरू हो चुका था। ये सरस्वती-भाण्डागार प्राय मन्दिरो तथा

विहारों में हुआ करते थे, और स्थिति आज भी कोई बहुत बदल नहीं गई; कभी-कभी राजगृहों में भी तथा सम्पन्न वैयक्तिक घरानों में भी, ये पुस्तकालय हुआ करते थे। कहते है महाकवि बाण (६२० ई० पू०) ने अपना एक निजी 'स्वाध्याय-सहायक' रखा हुआ था : जिसका अर्थ सिर्फ यही हो सकता है कि बाण का अपना पुस्तकालय काफी बड़ा था। ११वी सदी मे धार के राजा भोज के प्रसिद्ध पुस्तकालय का जिक्र तो हम पढ़ते ही है। किस प्रकार सदियों के साथ इन पुस्तकालयों का निरन्तर विस्तार होता गया : इसका मूर्त प्रमाण प्रसिद्ध विद्वान् जार्ज ब्यू'लर की काम्बे में दो जैन पुस्तकालयो तथा दक्षिण भारत मे तजोर के राजकीय पुस्तकालय की प्रत्यक्ष-साक्षी है; इनमे क्रमश तीस हजार और बीस हजार ग्रन्थ एक स्थान पर ब्यू'लर ने देखे। इन भारतीय पुस्तकालयो की सुव्यवस्थित छान-बीन १८६८ से, प्राचीन हस्तग्रन्थों की खोज के प्रसग मे, शुरू हुई। यद्यपि कोलब्रुक तथा अन्य पाश्चात्य शोधक-गवेषक भारतीय पाण्डुलिपियो के विपुल-सग्रह उस तिथि से भी पूर्व यूरोप मे पहुचा चुके थे, तथापि—१८६८ मे ही यह काम उचित दिशा मे तब शुरू हुआ जब कि केल्टिक के प्रसिद्ध विद्वान् व्हिट्ली स्टोक्स (जो उन दिनो शिमला मे इन्डियन कौसिल के सेक्रेटरी थे) ने भारत मे उपलब्ध सभी सस्कृत पाण्डुलिपियो की एक क्रमिक सूचि बनानी शुरू कर दी—जिसके पश्चात् भारत की सरकार सालो से अपने बजट मे "सस्कृत पाण्डुलिपियो की खोज" पर चौबीस हजार रुपया सालाना खर्च करती आ रही है। और यदि हमे इन उपलब्ध पाडुलिपियो की इतनी बडी राशि का कुछ परिचय निश्चित रूप मे आज प्राप्त है तो वह भारतीय सरकार की उदारता तथा अंग्रेज, जर्मन, और भारतीय विद्वानो के अथक श्रम की बदौलत ही।

१ *Indische Palaeographie* (Grundriss, I, 2); *On the Origin of the Indian Brāhma Alphabet*, Strassburg, 1898.
२ H. Oldenberg · *Aus Indian und Iran*, Berlin, 1889, 22 f.
३ Luders : *Ueber die literarischen von Ostturkestan*, SBA, 1914, 90 ff.

भारतीय भाषाओं और भारतीय साहित्य का परस्पर सम्बन्ध[1]

यह विपुल साहित्य, जो विश्व को विरासत के रूप मे मिलता है, यद्यपि अधिकाश संस्कृत मे ही ग्रथित है, तथापि भारतीय-साहित्य और सस्कृत-साहित्य (ये दोनो शब्द) पर्यायवाची न समझ लिये जाय। शब्द के व्यापक अर्थो मे—काल

तथा क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से—भारतीय साहित्य का इतिहास कितनी ही भाषाओ मे, कितनी ही सस्कृतेतर पद्धतियो मे, बिखरा पड़ा है। इण्डो-यूरोपियन परिवार की ये भाषाए विकास के तीन सोपानों मे से (काल की दृष्टि से) कुछ अनुक्रम मे तो कुछ समानान्तर—गुजरीं; जिन्हे हम, तदनुसार, निम्न तीन भागो मे बाट सकते है :

१. 'प्राचीन' भारतीय भाषा(एं);
२. 'मध्य कालीन' भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं;
३. 'आधुनिक' भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं।

१. प्राचीन भारतीय भाषा

भारत के प्राचीनतम साहित्य—अर्थात् वैदिक सूक्तो, मन्त्रो एवं तन्त्रों—की भाषा को हम प्राचीन भारतीय भाषा कहते है। किन्तु यह नामकरण उसका 'भारती' को बहुत सकुचित कर देता है। कभी-कभी हम उसे वैदिक भी कह लेते है (वैदिक सस्कृत कहना तो सर्वथा अनुपयुक्त है)। यद्यपि इस भारती का आधार कोई बोलचाल की भाषा थी, किन्तु (जिस भारती को उसके प्राचीनतम रूप मे पीढी-दर-पीढी पुराने ब्राह्मणो ने सुरक्षित रखा और जान-बूझ कर साधारण जनता से पृथक् रखा) वह सचमुच कोई बोलचाल की भाषा न थी। भारती बोल-चाल की भाषा तब थी जब कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिम के रास्ते भारत मे आए, यह भारती प्राचीन पर्शियन अथवा अवस्ता की भाषा से इतनी मिलती है कि दोनो को हम प्राचीन ईरानियन कह सकते है। प्राचीन भारती तथा प्राचीन ईरानियन मे, अर्थात् वेद और आस्ता की भाषा मे, फर्क बहुत कम है, स्वय सस्कृत और पालि मे भी इतना निकट सम्बन्ध नही। सस्कृत तथा वैदिक मे केवल कुछ वर्णमाला-गत उच्चारण का भेद ही नही है अपितु भाषा की प्राचीनता तथा प्राचीन व्याकरण-सम्मत रूपो तक का बहुत ही अधिक भेद है। उदाहरण-तया—वैदिक मे उपलब्ध 'लेट्' लकार सस्कृत मे प्रयुक्त नही होता; वैदिक के बारह (विविध) तुमर्थीयों मे सस्कृत मे केवल एक ही बच सका है; इसी प्रकार वैदिक 'लृङ्' के भेदोपभेद सस्कृत मे क्रमश लुप्त ही होते गए। नामिक तथा आख्यातिक विभक्तिया भी सस्कृत की अपेक्षा प्राचीन भारती मे, सख्या तथा परिपूर्णता की दृष्टि से, बहुत अधिक है।

इस भारती का अर्वाचीन रूप ऋग्वेद के दसवें मण्डल में, अथर्ववेद के कुछ भागों मे और यजुर्वेद-संहिता में, स्पष्ट प्रयोग मे आना शुरू हो चुका है, जबकि ब्राह्मणो, आरण्यकों तथा उपनिषदों के गद्य मे प्राचीन भारती के कुछ ही अवशेष उपलब्ध होते हैं; इनकी भाषा आपूर्ण प्राय संस्कृत ही है, और वेदांगों की भाषा तो एकाध वैदिक अपवाद को छोड़ कर (सूत्रों की) विशुद्ध संस्कृत शैली मे ही है— वैदिक सूक्तों से उद्धृत मन्त्र, छन्द, यजुष् ही इन वैदिक गद्य ग्रन्थो मे तथा सूक्तों मे प्राचीन (अथवा वैदिक) कहे जा सकते है।

प्राचीन भारतीय गद्य की संस्कृत मे—अर्थात् ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदो और सूक्तो की भाषा में—और पाणिनीय (५वी सदी ई० पू०) की अष्टाध्यायी मे उपदिष्ट सस्कृत में बहुत कम अन्तर है। ज्यादह-से-ज्यादह हम उसे "प्राचीन संस्कृत" ही कह सकते हैं। यह भाषा पाणिनि के समय, और सम्भवत. पाणिनि से कुछ पूर्व, ब्राह्मणो तथा विदग्धो-शिष्टो की बोलचाल की भाषा थी। इसी संस्कृत के बारे मे दूसरी सदी ईसवी पूर्व में पतञ्जलि का कहना है कि सस्कृत को सही-सही सीखने के लिए साहित्य मे अधिकृत शिष्ट-ब्राह्मणों के सम्पर्क के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नही है। किन्तु संस्कृत बोलने वाले इन शिष्टो का क्षेत्र बहुत व्यापक था, क्योकि—स्वय पतञ्जलि के ही एक किस्से मे हम एक वैयाकरण और एक रथी के बीच मे शब्द-व्युत्पत्ति पर एक अच्छा खासा वाद-विवाद सुनते है। वस्तुस्थिति का सच्चा परिज्ञान शायद हमे भारतीय नाटकों से ही कुछ होता है, जहा—राजाओ, ब्राह्मणो तथा शिष्ट-जनो के लिए सस्कृत बोलने का और साधारण लोगो और औरतो के लिए (भिक्खुनियो और वेश्या आदि कुछ शिक्षित वर्ग के अपवाद के साथ) प्राकृत बोलने का विधान है, यही नही, कई बार तो बे-पढे लिखे ब्राह्मण भी इन बोलचाल की प्राकृतो का ही प्रयोग करते है नाटको मे प्रस्तुत यह स्थिति ईसा की पहली दो-एक सदियो से भी पुराने समय की होनी चाहिए जबकि नाटक-साहित्य का प्रणयन आरम्भ हो चुका था। सस्कृत यद्यपि साधारण बोलचाल की भाषा नही थी तथापि इसके बोलने वाले शिष्ट वर्गों का क्षेत्र पर्याप्त व्याप्तिमान् था और उसे समझ सकने वालो का तो उससे भी कही अधिक। क्योकि जिस प्रकार नाटको मे सस्कृत और प्राकृत बोलने वाले समाज के विभिन्न वर्ग संवादो मे अपना काम-धाम चला सकते हैं, सो जीवन मे भी सस्कृत न बोल सकने वाले व्यक्ति संस्कृत-भाषियो के अभिप्राय को न समझते हो—यह असम्भव है।[२] इसके अतिरिक्त, भारत के कथावाचको को भी जो रामायण तथा महाभारत के लोकप्रिय अंशो को राजाओ तथा धनियों के दरबारों मे सुनाया करते थे— आम लोग समझ सकते होगे। महाभारत और रामायण की भाषा सस्कृत ही है, यद्यपि पश्चिम मे उसे वीरगाथाओ की सस्कृत कहने की प्रथा है: इन वीरकाव्यो

की भाषा में तथा पाणिनीय सस्कृत मे भेद प्राय. नगण्य ही है, और यदि कुछ है भी तो वह इतना ही कि उसमे प्राचीन भारती के अवशेष कही-कही बच रहे हैं और प्राय. शास्त्रीय नियमो की अवहेलना करके वह साधारण भाषा के निकट आ जाती है—सो, इसे सस्कृत का ही एक लोकसम्मत रूप कहना अधिक उचित होगा। दो लोकप्रिय महाकाव्यों को सस्कृत मे कभी भी निबद्ध न किया जाता यदि साधारण लोग उन दिनो इसे समझने मे कुछ-भी कठिनाई अनुभव करते'; जैसे कि आज के जर्मनी मे 'शिष्ट जर्मन' का प्रयोग ही सर्वसाधारण के लिए किया जाता है (सर्वसाधारण उसे समझ सकते है) यद्यपि बोलचाल की विभिन्न उप-भाषाओ से वह पर्याप्त भिन्न होती है।

सस्कृत को हम सर्वसाधारण मे प्रचलित भाषाओ की तुलना मे शिष्ट-भाषा अथवा साहित्यिक-भाषा भले ही कह ले, स्वय भारतीय उसे सस्कृत ही कहते है : सस्कृत—अर्थात् सुघड, नियमबद्ध, पूर्ण, शुद्ध, अभिपूजित। शब्द की इस व्युत्पत्ति का अर्थ केवल इतना ही होता है कि लोगो की (मूल) स्वाभाविक साधारण भाषा को कुछ परिष्कार दे दिया गया है, बस।

फिर भी—सस्कृत को एक मृतभाषा अथवा शृखलाओ मे जकडी भाषा कहना, किसी भी अवस्था मे, उपयुक्त न होगा। शृखलित का अर्थ, जो साधारणत समझा जाता है, यह होता है कि एक खास अवस्था मे पहुच कर वैयाकरणो के नियमो ने सस्कृत के विकास मे एक गतिरोध उत्पन्न कर दिया है, यद्यपि—यह सच है कि ५वी सदी ई०पू० मे लिखी पाणिनीय अष्टाध्यायी की कृपा से सस्कृत के लिए एक निश्चित मानदण्ड बन गया जो सदियो लेखको के लिए एकमात्र कसौटी बना रहा। और यह भी सच है कि स्वय भारत मे पाणिनीय नियमो के अनुसार लिखी सस्कृत ही सदा सस्कृत समझी जाती थी। किन्तु इस सब के साथ यह भी सच है कि पाणिनीय व्याकरण की इन शृखलाओ के बावजूद सस्कृत मे अपनी कुछ सजीवता थी जिसके कारण ही कम-से-कम एक सहस्र वर्ष इसी सस्कृत के माध्यम से काव्य-एव-शास्त्र की परम्परा मे विशाल साहित्य फला और फूला। सस्कृत आज भी मृत नही है। भारत मे पर्याप्त मासिक और पाक्षिक सस्कृत मे निकलते है जिनमे दैनिक विषयो तथा घटनाओ का सस्कृत मे ही वर्णन होता है। आज भी महाभारत का पठन-श्रवण खुली सभाओ मे होता है (तो उसे भी साधारण जनता कुछ न कुछ समझती ही है)। [लेखक ने अपनी आखो से मुद्राराक्षस तथा उत्तररामचरित के ('अलकृत' सस्कृत मे) कुछ दृश्यो का प्रयोग शान्तिनिकेतन के एक प्राकृतिक मच पर १९२६ मे अपनी आखो से देखा था और बडी प्रसन्नता और आश्चर्य के साथ देखा था कि किस प्रकार साधारण विद्यार्थी (जिनमे लडकिया भी शामिल थी) उसे बखूबी समझ रहे थे !] आज तक सस्कृत मे काव्य तथा अन्य रचनाए लिखने की प्रथा

अक्षुण्ण है और भारतीय विद्वान् वैज्ञानिक प्रश्नों पर सस्कृत में परस्पर सवाद-विवाद आज भी कर सकते हैं। भारत में सस्कृत की स्थिति प्राय: वही है जो मध्ययुगीन शतियो मे यूरोप मे लैटिन की थी या हिब्रू की यहूदियो मे आज भी है।"

सक्षेप मे प्राचीन भारती की स्थिति भारतीय साहित्य की व्यापक योजना मे इस प्रकार रखी जा सकती है :—

१ **भारती** :

(क) प्राचीनतम सूक्तो तथा मन्त्रो की, विशेषत. ऋग्वेद की, भाषा;

(ख) उत्तर वैदिक सूक्तो तथा मन्त्रो की, शेष तीनो वेदो की, भाषा (जिसका कुछ स्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा सूत्रो मे भी अवशिष्ट मिलता है)।

२ **संस्कृत** :

(क) प्राचीन संस्कृत, (जो कि वैदिक गद्य-ग्रन्थो की तथा स्वयं पाणिनि की भाषा थी),

(ख) रामायण, महाभारत की तथा लोकप्रिय वीरगाथाओ की भाषा;

(ग) लौकिक सस्कृत (जो, पाणिनि के अनन्तर, सम्पूर्ण लौकिक वाङ्मय (की गतिविधि की) एकमात्र भाषा बन गई!)।

२. मध्ययुगीन भाषाएं तथा विभाषाएं

सस्कृत के विकास के प्राय: साथ ही साथ और समानान्तर बोलचाल की आर्य भाषाओं का, अधिक स्वाभाविक, विकास भी चल रहा था। जिन्हें हम मध्ययुगीन भारतीय भाषाएं कह कर पृथक् करते है वे सीधे सस्कृत की उपज नही है, अपितु प्राचीन भारती तथा सस्कृत की मूल-भूत प्राचीन लोकभाषाओ से प्रसूत हैं (प्रसूत नही, तो कम-से-कम अनुबद्ध तो हैं ही)। इतने बडे देश मे, आर्यों के पश्चिम मे पूर्व एवं दक्षिण की ओर प्रसार मे इन विभिन्न बोलियो का उदय कुछ आश्चर्य की बात नही है। बोलचाल के इस वैविध्य की कुछ झलक हम प्राचीनतम भारतीय अभिलेखो से भी पा सकते है, क्योकि—इन अभिलेखो की भाषा सस्कृत न हो कर मध्ययुगीन भारती है। ये बोलचाल की भाषाएं, कितनी ही, आगे चल कर साहित्यिक माध्यम के रूप मे भी प्रयुक्त होने लगी। इन्ही साहित्यिक बोलियो का भी कुछ उल्लेख यहा इष्ट है :—

१. मध्ययुगीन भारत की साहित्यिक भाषाओ मे सबसे अधिक महत्त्व **पालि** का है जो सिंहल, बर्मा तथा स्याम के बौद्धों की 'धार्मिक' भाषा थी—और

जिसमे **बौद्धों के धंमसुत्त** संकलित है। स्वयं बौद्धधर्मी हमे बतलाते है कि बुद्ध ने —ब्राह्मणों की भाति शिष्ट संस्कृत मे नही, अपितु—लोगो की अपनी भाषा मे ही 'धंमपवत्तन' किया था। और क्योकि बुद्ध का यह धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मगध (दक्षिणी बिहार) मे शुरू हुआ, इसलिए बौद्धो का यह भी कहना है कि पालि और मागधी एक ही भाषा के दो भिन्न नाम है। लेकिन यह सच नही है, क्योकि—मागधी प्राकृत का जो रूप हमे अन्यथा मिलता है वह पालि से मेल नही खाता। शायद पालि कोई 'व्यामिश्र' भाषा थी जो कि मागधी का भी मूल थी। पालि का शब्दार्थ है—पंक्ति, क्रम, नियमबन्धन, और, इसी प्रकार—लिपिबद्ध धर्म-ग्रन्थ और, उसी युक्ति से पुन, धर्म-ग्रन्थो की भाषा। बौद्ध धर्मग्रन्थो की यह भाषा प्राचीन सिहली के मुकाबले मे ही पालि कही जा सकती है, क्योकि—प्राचीन सिहली मे ही बौद्ध धर्म-ग्रन्थो पर टीका-साहित्य लिखा गया था।

२ पालि-साहित्य के अतिरिक्त बौद्धों का साहित्य संस्कृत मे भी मिलता है। परन्तु इन बौद्ध ग्रन्थो मे गद्य-भाग तो संस्कृत मे होता है जब कि पद्य-भाग भारत की किसी मध्ययुगीन प्राकृत मे होता है (जिसे, इसीलिए, **गाथा** भी कहते है)। अलबत्ता, बौद्ध पद्यो की इस भाषा को गाथा कहना उपयुक्त नही है, क्योकि—इसका प्रयोग कभी-कभी गद्यांशो के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण गद्य-पुस्तकों के लिए भी किया जाता रहा है। असल मे यह कोई प्राचीन प्राकृत अथवा विभाषा थी जिसमे संस्कृत की विभक्तिया तथा अन्य विशेषताए जुड जाने से कुछ बेढबपना आ गया, और सेनार ने इसके लिए 'मिश्र संस्कृत' का नाम देना सुझाया भी है।

३ बौद्धों की भाति जैनो ने भी संस्कृत को तिलांजलि दे कर दो मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं का ही अपने आम्नाय-ग्रन्थों मे प्रयोग किया है·

(क) **जैन प्राकृत** (जिसे अर्धमागधी अपि वा आर्ष भी कहा जाता है) अर्थात् प्राचीन जैन-साहित्य की भाषा,

(ख) **जैन महाराष्ट्री**—जिसमे प्राचीन जैन वाङमय पर टीकाए लिखी गई तथा जैनो से सम्बद्ध अन्य लौकिक साहित्य लिखा गया (यह बहुत कुछ साहित्यिक माध्यम के रूप मे प्रयुक्त 'जैन' प्राकृत मे मिलती भी है)।

४ **महाराष्ट्री**—अर्थात् महाराष्ट्र देश की प्राकृत :

—यह सर्व-सम्मति से श्रेष्ठ प्राकृत मानी जाती है। अक्सर तो प्राकृत कहने से ही अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत मे होता है। इसका उपयोग गीतिकाव्यो—विशेषत नाटको मे गीति-खण्डो—के लिए हुआ करता था। कुछ और महत्वपूर्ण प्राकृतें भी नाटको मे प्रयुक्त हुआ करती थी :—

५ **शौरसेनी**—जिसे नाटक के गद्य अंशो मे, मुख्यतया, कुलीन स्त्रिया बोला करती थी। यह मूलत. (मथुरा के आसपास) शूरसेन देश की भाषा थी।

६. नाटको मे निम्न वर्ग के लिए मगध की भाषा **मागधी** का विधान है।

७. और समाज के निम्नतम वर्ग के लिए **पैशाची** में बातचीत करने का नियम है। सम्भवत यह किसी पिशाच (नामक) वर्ग की अपनी भाषा थी। यद्यपि भारतीय कोशो मे तथा लोकगाथाओ मे पिशाचो की गणना राक्षसो तथा भूतों मे होती है, प्राचीन लोककथाओ का प्रसिद्ध महाग्रन्थ, गुणाढ्य-कृत **बृहत्कथा**, मूलतः पैशाची भाषा मे ही लिखा गया था।

८. अन्त मे **अपभ्रंश**-वर्ग आता है जिसका प्रयोग साहित्यिक दृष्टि से जैनियों ने अपने किस्से-कहानियो मे, और कभी-कभी नाटको मे भी, किया। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अपभ्रंश—प्राकृतो तथा आधुनिक भारतीय बोलियो के बीच की कड़ी है; और माना भी यही जाता है कि भारतीय साहित्य के कुछ प्राकृत मुहावरे बोलचाल की भाषाओ मे जिस रूप मे पहुचे वही 'अपभ्रंश' है।

३. आधुनिक भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं[1]

११वी शताब्दी ईसवी तक पहुचते-पहुचते भारत की आधुनिक भाषाए मध्ययुग में निकल कर अपने विशिष्ट रूपो मे निश्चित होने लगती है और १२वी सदी के पश्चात् तो उनका साहित्य भी विकसित होना शुरू हो चुका है (यद्यपि इस साहित्य की प्रथम अवस्था कुछ-कुछ संस्कृत साहित्य पर भी अवलम्बित थी)। इन भाषाओ मे मुख्य स्थान **हिन्दी** का है जो प्राचीन मध्यदेश (अर्थात् हिमालय और गगा-यमुना के बीच की सारी तलहटी) की मूल भाषा थी और वह फैलते-फैलते दक्षिण मे नर्मदा की तलहटी तक और, देहली लाघ कर, पश्चिम मे राजस्थान, और पूरब मे कानपुर तक जा पहुचती है। हिन्दी की विभाषाओं मे—कन्नौजी और बुन्देली ने, और खास-कर मथुरा जिले की ब्रज भाषा ने—पर्याप्त प्रशस्त साहित्य भारत को दिया है। हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू—पर्शियन, अरबी अशो से आकुल हो कर भी—हिन्दी का ही एक रूपान्तर है, और कुछ नहीं—जो १२वी सदी मे देहली के आसपास (तब देहली मुसलमानी हकूमत का केन्द्र थी) सिपाहियो के खेमो मे पैदा हुई और कैम्प मे पैदा होने के कारण ही उसे 'कैम्प की जुबान' (अर्थात् उर्दू) नाम भी दिया गया। १६वी सदी मे यह एक साहित्यिक भाषा बन गई और आज यह उत्तरी-भारत की एक तरह से सर्व-साधारण भाषा है। शुद्ध हिन्दी का अर्थ होता है गंगा-यमुना की मूलभाषा का 'पुनरुद्धार' जिस पर कि

अभी फारसी का असर नही पड़ा। इसके अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों की—उत्तर-पश्चिम में **पंजाबी**, पश्चिम मे **राजस्थानी** और **गुजराती**, ओर पूरब मे **पहाड़ी** (जिसके अपने ही पूर्वीय, मध्यदेशीय और पश्चिमीय तीन उपरूप है)—बोलियां भी मध्यदेश की हिन्दी से ही सम्बद्ध है। राजस्थानी और गुजराती का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, यहां तक कि—राजस्थानी की एक उपभाषा **मारवाड़ी** को तो गुजराती से पृथक् करना बड़ा मुश्किल प्रतीत होता है। तुलसीदास की भाषा, **पूरबी हिन्दी**, उत्तरापथ की 'बहिरंग कटि' (में सम्मिलित पश्चिमी पंजाब की **लहंदा**, उत्तर-पश्चिम की **सिन्धी**, दक्षिण की **मराठी**, तथा पूरब की **बिहारी**, **उड़िया**, **बंगाली** तथा **आसमी**) की विशेषताओं से बहुत ही मेल खाती है। **मैथिली** बिहारी की ही एक उपभाषा है। १९वी शती के प्रारम्भ से साहित्यिक बंगला में संस्कृतांश इतना अधिक बढ़ चुका है कि वह अब बोलचाल की बंगला से जैसे सर्वथा पृथक् ही हो चुकी है। यही बात बनारस की शिष्ट हिन्दी में भी पाई जाती है (यद्यपि आज बंगला और हिन्दी के अच्छे लेखक अपनी भाषा को संस्कृत के प्रभाव से मुक्त ही रखने की कोशिश कर रहे है)।

पिशाचों की भाषाए, जो आज **दर्द भाषा वर्ग** के नाम से ज्ञात है, काश्मीरी साहित्य की वाहिनियां है। यह भाषा-वर्ग भारत की अन्यान्य भाषाओं से सर्वथा पृथक् है।

और अन्त मे सिंहल द्वीप की भाषा **सिंहली** का उल्लेख भी आवश्यक है जो कभी मध्ययुगीन भारत की एक इण्डो-जर्मानिक बोली से निकली थी। बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य जब सीलोन मे पहुंचा तभी से सिंहली की साहित्यिक गति-विधि का सूत्रपात हो जाता है (यद्यपि प्रारम्भ में सिंहली का प्रयोग बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की व्याख्या के लिए ही होता रहा, अगली सदियों में इस व्याख्या-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत काव्यों के अध्ययन से लौकिक वाङ्मय का प्रचलन भी होने लगा)।

यहां तक जितनी भी भारतीय भाषाओं का जिक्र हमने किया है वे विश्व के केवल इण्डो-जर्मानिक परिवार से ही सम्बद्ध है। मध्यप्रान्त की महादेव पहाड़ियों में और छोटा नागपुर के सन्थाल परगनों में विकीर्ण **मुण्डा-भाषाएं**, ओर भारत के उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी छोर पर अवस्थित **तिब्बती-बर्मी** भाषाएं, और इन सबसे बढ़ कर दक्षिण-भारत की **द्राविड़** भाषाए—किन्हीं और ही परिवारों की भाषाएं हैं। इनमें द्राविड़-भाषाओं का क्षेत्र किसी पुराने समय मे उत्तर तक भी व्याप्त रहा होगा क्योंकि इण्डो-आर्यन भाषाओं मे पर्याप्त द्राविड़ प्रभाव मिलता है। मुख्य द्राविड़ी भाषाएं चार है—**मलयालम**, **कन्नड़**, **तेलुगु** और **तमिल**। यद्यपि उत्पत्ति की दृष्टि से इन चारों भाषाओं का इण्डो-जर्मानिक वंश से कुछ सम्बन्ध नहीं, तब भी संस्कृत की कितनी ही विशिष्टताएं इनमे घर कर चुकी

हैं—इनका भी अपना स्वतन्त्र—और कुछ कम-महत्त्वपूर्ण नही—साहित्य है जो बड़े अशों मे संस्कृत साहित्य से अनुप्रेरित तथा प्रभावित भी है ।

किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में हमारा विषय सस्कृत, पालि तथा प्राकृत साहित्य का ऐतिहासिक विकास ही होगा, वर्तमान भारतीय साहित्य पर ज्यादह-से-ज्यादह एक परिशिष्ट ही शायद जोड सके ।

१ R. C. Bhandarkar, JBROS 16, 245 ff; G. Grierson: BSOS I, 3, 1920, 51 ff.

२ भाषा-भेद परस्पर-बोध मे अवरोध नही डाल सकता—यह तथ्य सस्कृत-नाटको तक ही सीमित नही, अपितु बगला के १३-भाषा बोलने वाले एक परिवार के सदस्यो मे भी ग्रियर्सन ने स्वय प्रत्यक्ष किया था: (*Indian Antiquary* 30, 1901, 556.

३ क्या **महाभारत** और **रामायण** की मूल रचना किसी 'विलुप्त' प्राकृत मे हुई थी? Cf H Jacobi. ZDMG, 48, 407 ff.

४ सस्कृत प्रकृति थी अथवा विकृति? क्या वह कभी बोलचाल की भाषा रही भी? फिर—टीकाकारो की आवश्यकता ही क्या थी? क्या सस्कृत मे चिन्तना की नयी परिस्थितियो को वाग्बद्ध करने का सामर्थ्य है? शिष्ट-अशिष्ट की मूल विभाजक रेखा क्या है? Buhler (*Ep Ind.* I, 5), Windisch (*Ueber der Sprachlichen Charakter des Pali* (OC, XIV, Paris, 1906, 14 ff), Thomas (JRAS, 33, 1913, 145 ff.) W Peterson (JAOS, 32, 1912, 414 ff), I. Michelson (JAOS, 33, 1913, 145 ff), Paul Deussen (*Erinnerungen in Indien*, Kiel, 1 04, 2 ff), S Krishnavarmā (OC, V, Berlin, 1881, II b, 222), R G Bhandarkar (JBROS, 16, 1885, 268 ff, 327 ff), Windisch (OC, XIV, Paris, 1897, I, 257, 266), Herlet (*Tantrākhyāyikā*, I 8 ff, HOS, XII, 80 ff) —का विचार-विनिमय आजतक सस्कृत को राष्ट्रभाषा नही बना सका ।

५ वही अनिश्चयात्मकता पालि (तथा प्राकृतो, अपभ्रशो के उद्भव के विषय मे अब तक बनी आती है: Windisch (*Ueber dir Sprachhi-chen*, OC XIV, Paris, 1906) Grierson (*Bhandarkar Com. Vol.*, 117 ff), Sten Konow (ZDMG, 64, 1910, 114 ff), *Pischel* (*Grammatik der Prakrit-Sprachen*), Jacobi (A Bay A XXIX, 4, 1918, 53 ff 81A, *Festschrift für Wackernagel*, 124 ff)

६ Grierson: BSOS I, 1, 1918, 47 ff; Rapson: *Cambridge History* I, 37 ff.

२

वेद-वेदाङ्ग

वेद अथवा वैदिक वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम संग्रह के रूप में, तथा इण्डो-यूरोपियन साहित्य के पुरातनतम अवशेष के रूप में, वेद का विश्व-साहित्य (के इतिहास) में प्रमुख स्थान है। यह प्रमुखता उसकी इस कारण से भी स्थिर है कि पिछले तीन हजार वर्ष से हिन्दू लोग वेद को ईश्वरीय वाणी समझते आए हैं और वेद ही उनके सम्पूर्ण चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन का (सदा से) मूलाधार रहा है। इस प्राचीनता की युक्ति से—क्योंकि वैदिक वाङ्मय सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का मूर्धन्य है—बिना वैदिक वाङ्मय का कुछ अन्तःस्पर्श प्राप्त किए भारतीयों की संस्कृति को, तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को, समझ सकना असम्भव है। यही नहीं, जैन और बौद्ध धर्मों का हृदयंगम भी—क्योंकि उनका जन्म भी तो यहां भारत में ही हुआ है—बिना वेदों के कुछ परिज्ञान के, उतना ही असम्भव है। बौद्ध वाणी का वेद से वही सम्बन्ध है जो पश्चिम में नई बाइबल का पुरानी बाइबल से है। सच तो यह है कि नए धर्मों और विश्वासों के अभ्युदय का अर्थ पुराने धर्मों और विश्वासों के साथ बिना किसी प्रकार की संगति बिठाये बनता ही नहीं।

तो फिर—वेद का वह मूल स्वरूप क्या है ?

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वेद' के शब्दार्थ है—ज्ञान, ज्ञान का मूल (स्वरूप), अर्थात् भारतीय ज्ञान-परम्परा का मूल स्रोत। वेद का अर्थ कोई एक ही पुस्तक हो ऐसी बात नहीं, जैसा कि 'पुराण' का शब्दार्थ होता भी है, और ना ही वेद का अर्थ यही समझा जाना चाहिए कि बाइबल और त्रिपिटक की तरह यह भी एक प्रकार का, किसी खास समय में संकलित, संग्रह है। वेद से हमारा अभिप्राय हमेशा एक विपुल वाङ्मय से होता है जिसका उदय, सम्पादन तथा संरक्षण भारतीयों की मौखिक परम्परा में निरन्तर सदियों तक होता रहा, और उस प्रागैतिहासिक युग में (जब नई पीढ़ी के हाथों में यह एक विरासत की तरह आ चुका था, तब) भी वेद को उसके समय और विषय की प्राचीनता की दृष्टि से एक प्रकार का ईश्वरीय ज्ञान ही माना जाता था। वेद की प्राचीनता में तथा ईश्वरीयता में यह श्रद्धा हिन्दुओं में प्रायः स्वाभाविक हो रही है जिसके विषय में कभी-भी किसी भारतीय को सन्देह उठा ही नहीं प्रतीत होता। वेदों के इस रूप का निर्धारण किसी प्राचीन संगीति में अथवा अधिवेशन में नहीं हुआ था।

तथापि वेद को, अथवा वैदिक वाङ्मय को, तीन साहित्यिक विभागों अपिवा शृंखलाओं में सम्बद्ध देखा जा सकता है, और इन शृंखलाओं के स्वयं स्वतन्त्र, किन्तु अनुबद्ध, उपविभाग हैं जिसका कुछ ही अंश हमें आज अवशिष्ट मिलता है।

१. **संहिता** भाग—जिसमे प्राचीन भारतीय सूक्त, प्रार्थनाए एव याचनाएं, मन्त्र-तन्त्र आदि सम्मिलित होते है,

२. **ब्राह्मण** भाग—जिसमे धर्म-सम्बन्धी, विशेषत यज्ञ के प्रसग मे आए, क्रियात्मक एव रहस्यात्मक कर्मकाण्ड आदि की, गद्यबद्ध चर्चा सगृहीत है।

३ **आरण्यक** तथा **उपनिषद्** भाग—जो कही स्वय ब्राह्मण-ग्रन्थो का अंश है तो कहीं स्वतत्र रूप मे निबद्ध है, दोनो मे ही, वानप्रस्थ तपोधनो के—ईश्वर, ससार, मनुष्य आदि विषयो पर—चिन्तन एव दर्शन समुपदिष्ट है।

सचमुच इन सहिताओ की सख्या पर्याप्त होनी चाहिए, क्योकि—इनका उद्भव एव विकास प्राचीन पुरोहितो एव उद्गाताओं के विभिन्न सम्प्रदायो मे हुआ था, और जो सहिताए हमे मिलती भी है वे भी, प्राय एक ही मूल सहिता की, थोडे-बहुत पाठान्तरो के साथ, शाखा-उपभेद ही कही जा सकती है। तथापि चार सहिताए आज भी हमे ऐसी मिलती है जिनका विषय, क्रम, विन्यास आदि सब-कुछ स्पष्टत परस्पर-भिन्न है यद्यपि इन के भी एक या एक से अधिक रूपान्तर आज तक सुरक्षित चले आते है :—

१ **ऋग्वेद** सहिता जिसमे प्राचीन ऋचाओं का सग्रह सुरक्षित है;

२. **अथर्ववेद** सहिता · जिसमे प्राचीन अथर्व, अर्थात् मन्त्रज्ञान, सचित है;

३ **सामवेद** मे प्राचीन साम, अर्थात् गान-गीतिया सगृहीत है, तो—

४ **यजुर्वेद** सहिता मे वैदिक यज्ञो के कर्मकाण्ड सम्बन्धी यजुष् एकत्रित है।

स्वभावत कर्मकाण्ड के सम्बन्ध मे, परम्परा मे, पर्याप्त मतभेद होना अपरिहार्य ही था, जिसके दो मुख्य रूप—

(क) **कृष्ण** यजुर्वेद (जिसकी अन्यान्य शाखाओं मे मुख्य **तैत्तिरीय** एव **मैत्रायणी** सहिताए है) और

(ख) **शुक्ल** यजुर्वेद (जिसका एक ही रूप, '**वाजसनेयि** सहिता' हमे मिलता है) आज भी उपलब्ध है।

इन विभिन्न सहिताओ के आधार पर ही भारतीयो मे वेद को ऋक्, अथर्व, साम और यजुष् के रूप मे चतुरग देखने की प्रथा है। इनमे, पुन, हर सहिता के साथ विशिष्ट ब्राह्मणो, आरण्यको एव उपनिषदो की पृथक्-पृथक् एक ग्रन्थमाला सम्बद्ध है अर्थात् —इन चारो वेदो मे, केवल ऋग्वेद का ही नही, शेष तीनो वेदो का भी अपना ही स्वतन्त्र वाङमय-उपवाङमय है। उदाहरणार्थ—ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से है तो शतपथ का शुक्ल यजुर्वेद से और छान्दोग्य (उपनिषद्) का साम से, इत्यादि-इत्यादि।

इस वाङमय-उपवाङमय का सम्बन्ध चारो वेदो से सम्बद्ध ब्राह्मणो, आरण्यको तथा उपनिषदो से होता है और इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङमय के-धार्मिक गीतियो,

प्रार्थनाओ, आध्यात्मिक एव कर्मकाण्डपरक ग्रन्थो के रूप मे---उत्तरोत्तर विकास मे भी एक सूत्र-सगति है, कुछ आधारभूत एकता-सी है, जो सम्पूर्ण 'ब्राह्मण' धर्म और जीवनका मूल स्रोत है (ठीक उसी प्रकार जैसे कि पश्चिम मे पुरानी बाइबल का यहूदियो के लिए, नई बाइबल का ईसाइयो के लिए, महत्त्व है)। यहूदी और ईसाई भी, दोनो ही, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ को हिन्दुओ की ही भांति ईश्वरीय (वाणी) समझते है। किन्तु हिन्दुओ का अपने धर्म-ग्रन्थ को 'श्रुति' कहना भी कुछ सार्थक प्रतीत होता है · क्योकि---वेदो के शब्द लिपिबद्ध न होकर प्रवचन एव श्रवण द्वारा ही सुरक्षित रह सके है। भारतीय दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास मे ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तो को ही ब्रह्मा का उच्छ्वास तथा ऋषियो का दर्शन माना गया है, साथ ही---वैदिक वाङ्मय के अर्वाचीनतम अग उपनिषदो को भी स्वय प्रजापति द्वारा ही नि श्वसित समझा गया है। भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायो मे और किसी बात पर तो मतभेद हो सकता है, और भारी मतभेद हो सकता है, वेद को और विशेषत उपनिषदो को मूलस्रोत मान कर (यद्यपि प्राचीन शब्दो की व्याख्या मे पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा 'अपनी बुद्धि' के लिए अवकाश है) प्रत्येक दार्शनिक अपनी ही बुद्धि के अनुसार जो चाहे प्रमाण निकालता आया है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात बौद्धो की यह धारणा है कि वे वेद की प्रामाणिकता को तो कतई स्वीकार नही करते, किन्तु वेद को भी वे एक ईश्वरीय कृति मानते है (यद्यपि साथ ही यह भी कह छोडते है कि ब्राह्मणो ने मूल वेद को पर्याप्त दूषित कर दिया है---इसीलिए उसमे अब कितनी-ही गलतिया भरी हुई है!)।

इस प्रकार 'वेद' के शब्दार्थ है---ईश्वरीय ज्ञान अथवा विधान को एक जगह प्रस्तुत करने वाला 'वाङ्मय'। इसके अतिरिक्त एक और अग भी वैदिक साहित्य का मिलता है जिसे हम शायद विशुद्ध वैदिक साहित्य का नाम न दे सके। वैदिक वाङ्मय के इस अग का नाम है---**कल्पसूत्र** (सक्षेप मे **सूत्र**) अर्थात् वैदिक यज्ञ भाग ---प्रक्रिया-परक अध्याय---जो सूत्रो की एक विशिष्ट शैली मे ही लिखे मिलते है। **कल्पसूत्रो** मे निम्न तीन प्रकार के सूत्रो का समावेश होता है ---

१ **श्रौत** सूत्रो मे कुछ दिन अथवा मास-वर्ष, अनवरत चलने वाले, महासत्रो के क्रियाकर्म पर नियम मिलते है जिनमे अनेक अग्नियो तथा अनेक ऋत्विक्-आदि का विधान होता था,

२ **गृह्य** सूत्र---जिनमे साधारण गृहस्थ के दैनिक यज्ञो तथा षोडश सस्कारो से सम्बद्ध निर्देश सकलित है;

३ **धर्म** सूत्र---जो भारतीयो के सम्पूर्ण आध्यात्मिक एव लौकिक जीवन के प्राचीनतम धर्मशास्त्र है।

वैसे तो, जिस प्रकार प्रत्येक वेद के पृथक् अपने ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् हैं, उसी प्रकार ऋक्, साम, अथर्व, और यजुष् के श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्र भी पृथक्-पृथक् ही है। सच तो यह है कि इन सूत्रो का उद्भव भी भिन्न-भिन्न वैदिक परिषदो मे वेदाध्ययन की अबाध परम्परा के फलस्वरूप ही हुआ था। फिर भी—कर्मकाण्ड के इन ग्रन्थो को, वेद की भाति अपौरुषेय नही, पौरुषेय माना जाता है। इन्हे, वेद मे नही, वेदागो मे सम्मिलित किया जाता है। और वेदागों में इस कल्प आदि वाङमय के अतिरिक्त शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि का भी परिगणन होता है—जिनके विषय मे हम प्रस्तुत प्रसग के अन्त मे ही कुछ कहेगे। फिलहाल हम वैदिक वाङमय का किचित् पर्यवेक्षण (चारो वेदो मे मूर्धन्य) **ऋग्वेद** के परिचय से ही आरम्भ करेगे।

ऋग्वेद

निम्सन्देह वैदिक वाङमय की प्राचीनतम और सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक ऋग्वेद ही है। **ऋक् संहिता** की अन्यान्य शाखाओ मे से केवल एक—**शाकल**—सहिता ही बच रही है जिसमे १०२८ सूक्त दस मण्डलो मे सगृहीत है। दूसरा एक प्रकार ऋग्वेद को अष्टक—अध्यायो मे विभाजित करता है।

ऋग्वेद की प्राचीनता, सूक्तो की भाषा की कसौटी पर भी, असन्दिग्ध है। किन्तु भाषा की इस कसौटी' से यही सिद्ध होता है कि इस सहिता मे प्राचीन तथा अर्वाचीन अशो का युग-युगान्तर मे क्रमिक विकास होता रहा है। जिस प्रकार हिब्रू गाथाए विभिन्न युगो मे यहूदियो के धार्मिक-गानो मे जुडती गई, उसी प्रकार यहा भी गीत और सूक्त धीरे-धीरे इकट्ठे होते रहे—जिन्हे धर्म-भीरु सग्रहकर्त्ता अपने वश के पुराण-पुरुषो के नाम के साथ समय-समय पर सम्बद्ध करते रहे। ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तो का सग्रह २-७ मण्डलो की मूल छ पुस्तको मे (और इन्हे स्मरण भी वश-मण्डल कहकर ही किया जाता है) मिलता है। जिन ऋषियो ने इन सूक्तो का साक्षात्कार किया था उनका उल्लेख कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मिलता है तो कुछ वेदाग-वाङमय से सम्बद्ध अनुक्रमणियो मे। प्राचीन ऋषियो के इन वशो के नाम है (क्रमश)—गृत्स (मद), विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ। अर्थात्—इन छ मण्डलों के लेखको तथा उनके वशजो को भारतीय परम्परा ऋषिवत् पूजती आई है। मण्डल ८ कण्वो तथा आगिरसो के उद्गाता वश के नाम से प्रचलित है, शेष तीन (१, ९, १०) मण्डलो के हर सूक्त के अलग-अलग

ऋषि का अपना नाम अनुक्रमाणियो में उद्धृत है, (और इन ऋषियो मे कुछ स्त्रियां भी है !)। दुर्भाग्य से इन नामावल्यिों की, हमारी दृष्टि मे, कोई बहुत उपयोगिता नही है, क्योंकि—वैदिक सूक्तों के मूल लेखको के बारे मे हमें इनसे कुछ पता नही लगता, और—क्योकि बड़े अरसे से यह साबित हो चुका है[१] कि गृत्समद-विश्वामित्र आदि की यह परम्परा स्वय सूक्तों की अन्त साक्षी से मेल नही खाती—सूक्तो मे अनुक्रमणियों के प्राचीन ऋषियो के वशजों के नाम भी उद्धृत है, जब कि गृत्समद, विश्वामित्र और वशिष्ठ (उन्हे कुछ भी नाम दे लो) भारतीय वाङमय के प्रख्यात पुरुष हैं जिनके कारनामो की अपनी-ही व्यक्तिगत गाथाए और अपनी-ही व्यक्तिगत परम्पराए बड़े पुराने समय से चली आती है, सो—सम्भवत, ये प्राचीन ऋषि वैदिक सूक्तों के मूल लेखकों के पुराण-पुरुष ही हो सकते है। ९वे मण्डल मे, अलबत्ता, विषय की दृष्टि से कुछ एकता हम पाते है, क्योकि—इनमे केवल सोम की स्तुति ही गाई गई है। सोम एक बूटी है जिसका रस उन दिनो, इण्डो-ईरानियन युग मे, देवताओं को भेट चढाने के लिए निकाला जाता था और, इसलिए, ईरानियो तथा भारतीयों के यज्ञों मे सोम का महत्त्वपूर्ण स्थान भी निश्चित है (ईरानी भाषा मे इसे 'हओम' कहते है)। लेकिन प्राचीन भारतीय गाथाओ मे सोम को अमृत कहा गया है, देवताओं का पेय कहा गया है, और चन्द्रमा को एक सुनहरी चमचमाती बूद के रूप मे सोम (अर्थात् अमृत) का निधान भी कहा गया है। शायद इसी लिए नवम मण्डल मे सोम की स्तुति—यज्ञ मे आए देवताओ को उपहृत पेय के रूप मे ही नहीं की गई, अपितु—व्योम-सम्राट् चन्द्रमा के रूप मे भी की गई है? और—क्योंकि सोम का यह यज्ञिय सम्बन्ध विश्व-इतिहास के इण्डो-ईरानियन युग से मेल भी बखूबी खाता है, सो—ऋग्वेद के नवे मण्डल की प्राचीनता बहुत कुछ स्थिर ही समझी जानी चाहिए। ऋग्वेद का अर्वाचीनतम अश सम्भवत उसके प्रथम और अन्तिम मण्डल है जिसमे विविध विषय, विचार सनिविष्ट हैं[२]; लेकिन यह बात नही कि इन दोनों मण्डलो मे कुछ प्राचीन सूक्त न हो और यह भी नही कि उन प्राचीन मण्डलो मे कुछ नए सूक्त जहा-तहा बिखरे न मिलते हो। स्वय सूक्तो के विषय मे उनकी प्राचीनतर अपिवा अर्वाचीनतर स्थिति निर्धारित करना कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि —यह सारा निश्चय भाषा की जिस एक भित्ति पर प्राय आधारित किया जाता है वह भाषा भी तो स्वय सूक्त के मूल उदय तथा ध्येय के साथ बदलती चलती है और तब भी बदल जाती है जब कि उसमे—'ब्राह्मण' धर्म की नहीं अपितु लौकिक धर्म की भी—किसी आस्था को प्रकट करना कवि का अभिमत हो। उदाहरणार्थ—सोम तथा इन्द्र की स्तुति उसी भाषा[३] मे नही हो सकती जिनमे गाय को भगाने के लिए कोई जादू-मन्त्र पढना अभीष्ट होता है (भले ही ऐसे मन्त्र का रूप भाषा की दृष्टि से अर्वाचीन ही क्यो न हो)।

हस्तलिखित प्रतियो मे ऋग्वेदीय काव्य का एक परतर अश **खिल** सूक्तों के नाम से निबद्ध है। ये खिल सूक्त स्पष्ट ही ऋग्वेद के उत्तर काल की रचना है। स्वय 'खिल' का शब्दार्थ (परिशिष्ट) ही इन सूक्तो की स्थिति को स्पष्ट कर देता है कि इनका निर्माण बहुत दिनो बाद तब हुआ था जब कि मूल सहिता एक निश्चित रूप मे निर्धारित हो चुकी थी। परन्तु इससे यह सिद्ध नही हो जाता कि कुछ खिल, ऋग्वेद के अन्य सूक्तों की भाति, कम प्राचीन हैं; बल्कि हम इतना ही कह सकते है—कि संहिता मे उनके न आने का कारण हमे मालूम नही। इन बाल-खिल्यों की संख्या ११ है जो पाण्डुलिपियो मे ८वे मण्डल के अन्त मे ग्रथित, किन्तु पृथक्, पाए जाते है। इसी प्रकार ११ **सुपर्ण** सूक्त, **प्रैष** सूक्त, तथा यज्ञ-परक **निवित्**, भी पर्याप्त प्राचीन होने चाहिए।

अभी हम प्राचीन-अर्वाचीन के इस सूक्त-क भेद को यही छोडते है (वैदिक वाङमय की प्रस्तुत समीक्षा के अन्त मे वेदो के सम्बन्ध मे काल-निर्धारिण के सामान्य प्रश्न के प्रसग मे ही इस प्रश्न को पुन. उठाना उचित समझेगे)। अभी तो ऋग्वेद के प्राचीन तथा अर्वाचीन, दोनो, अगो की प्रागैतिहासिकता के सम्बन्ध मे लुड्विश के शब्दो मे हम इतना कहना ही पर्याप्त समझते है कि ऋग्वेद मे किसी भी प्राचीनतर भारतीय वाङमय का कोई उल्लेख नही मिलता जबकि, दूसरी ओर, सम्पूर्ण भारतीय वाङमय तथा भारतीय जीवन वेद की आधार-शिला पर ही प्रतिष्ठित है।

भाषा की युक्ति के अनन्तर वेदो की प्राचीनता के विषय मे हम छन्दो की युक्ति को ले सकते है, क्योंकि— वैदिक तथा लौकिक छन्दो मे खाई स्पष्ट इतनी बडी है कि वैदिक कविता के कितने ही छन्दो का लौकिक काव्य मे कोई नामोनिशान नही मिलता और कितने ही लौकिक छन्दों का मूल स्रोत वेदो मे ढूंढना व्यर्थ है। और यदि वैदिक छन्दो मे से कुछ आगे चल कर लौकिक साहित्य मे प्रयुक्त भी हे तो उनकी लय, गति अब बिलकुल स्वस्मिन्-निश्चित बन चुकी है!

प्राचीनतम भारतीय छन्दो मे अक्षरो की संख्या ही निश्चित होती थी, मात्रा नही। वैदिक पद्य-रचना, ८, ११, १२ अक्षरों के पादो मे होती थी और बहुत कम ५-अक्षरी पादो मे भी। प्राचीन छन्दोनुशासन मे पाद के केवल अन्तिम चार या पाच अक्षरो की लय ही बधी हुई हुआ करती थी; और इन चार या पाच अक्षरो मे भी पादान्त अक्षर को आवश्यकतानुसार दीर्घ अथवा लघु पढ़ने की स्वतन्त्रता थी। ८–अक्षरी पाद का सामान्य रूप इस प्रकार होता था —

○ ○ ○ ○ ◡ — ◡ ⏓

गायत्री मे इस तरह के तीन पाद होते थे, और अनुष्टुभ् मे चार। पुरानी भारतीय कविता मे गायत्री का प्रयोग अनुष्टुभ् की अपेक्षा अधिक हुआ करता था जबकि लौकिक साहित्य मे अनुष्टुभ् का ही बोलबाला हो चुका है और अनुष्टुभ् का ही एक

रूपान्तर 'श्लोक' महाकाव्य की रचना के लिए पृथक् विनिश्चित कर दिया गया था। इन दोनों छन्दो के अतिरिक्त पाच और छ पादों वाले अष्टाक्षर छन्द—पंक्ति और महापक्ति—भी ऋग्वेद मे मिलते है।

एकादशाक्षर पादो मे चौथे या पाचवे अक्षर पर यति हुआ करती थी। इसके दो रूप ये हुआ करतेथे —

० ० ० ० || ० ० ० — ᴗ — ⏓

० ० ० ० ० || ० ० — ᴗ — ⏓

त्रिष्टुभ् मे ऐसे चार पद हुआ करते थे।

द्वादशाक्षर पादो में त्रिष्टुभ् के पादो की अपेक्षा केवल एक अक्षर ही और अधिक हुआ करता था। उसके भी, तदनुसार, दो रूप इस प्रकार हो सकते थे —

० ० ० ० || ० ० ० — ᴗ — ᴗ — ⏓

० ० ० ० ० || ० ० — ᴗ — ᴗ — ⏓

जगती मे ऐसे चार पाद हुआ करते थे।

इसके अतिरिक्त पाच अक्षरो वाले चार या आठ पादो को मिलाकर द्विपदा विराज् का एक नूतन छन्द बनाने की प्रथा भी थी —

⏓ — ᴗ — ⏓

विभिन्न प्रकार के पादो को मिलाकर उष्णिक्, बृहती आदि कुछ बृहत्तर छन्द, बनाने का भी रिवाज था। जिन (अजीब छन्दो) मे प्राय अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर पादो का मिश्रण ही हुआ करता था।

प्राचीन भारतीय छन्द शास्त्र मे अक्षरो की सख्या का कितना महत्त्व था इसका कुछ अन्दाजा हम ब्राह्मणो तथा उपनिषदो मे पुन-पुन आई इन (सख्याओ) की रहस्यात्मकता के सकेतो मे भली प्रकार लगा सकते हैं। बृहदारण्यक मे एक स्थान पर लिखा है कि भूमि, अन्तरिक्ष, और द्यु, ये मिल कर आठ अक्षर बनते है, और क्योकि—गायत्री के एक पाद मे भी आठ ही अक्षर होते हैं (सो, गायत्री का ज्ञानी तीनो लोको पर विजय पा लेता है!)। इसके अतिरिक्त, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के प्रसग मे इन छन्दो का महत्त्व इतना अधिक था कि इनकी भी देवताओ की तरह आहुति—आदि के साथ पूजा हुआ करती थी, इन (छन्दो) से सम्बद्ध भी—छन्दो के पृथक्-पृथक्—उपाख्यान हुआ करते थे! विशेषत गायत्री के विषय मे तो यहा तक लिखा है कि वह पक्षी का रूप धारण करके सोम का आसमान से जमीन पर उतार लाई, यह भी लिखा है कि प्रजापति ने इन छन्दो को अन्य प्राणियो की तरह ही सजीव पैदा किया था! इन सब आस्थाओं का एक ही मतलब निकलता है कि ये छन्द भी प्रा ैतिहासिक काल से ही इसी

रूप मे चलते आ रहे है, और यह—इनकी प्राचीनता (स्वयं सूक्तो की प्राचीनता) का भी एक साधक (अकाट्य) प्रमाण है।[५]

ऋग्वेद के सूक्तो की प्राचीनता का, शायद, सबसे अधिक मजबूत आधार इन सूक्तों मे प्रसगात् उपवर्णित भारत की भौगोलिक तथा सास्कृतिक अवस्था हो सकती है। इन सूक्तो के समकालीन भारत के आर्य अभी सम्पूर्ण भारत पर, सम्पूर्ण उत्तरापथ पर, नही छाए थे। अभी वे सिन्ध के मैदान मे ही बसते थे[६]। पश्चिम की ओर से हिन्दूकुश के दर्रों मे से भारत मे आने वाले आर्य कबीले पंजाब तक ही पहुच पाए थे—जहा उनकी मुठभेड आये दिन भारत के श्यामवर्ण मल-निवासियो से होती ही रहती थी। इन दस्युओं अथवा दासो को ऋग्वेद मे अनार्य भी कहा गया है और लिखा है : 'ये ऐसे नास्तिक लोग है जो न देवताओ को मानते है, और न किसी कानून व धर्म को ही, और न ही इनके लिए कोई यज्ञभाग ही निश्चित होता है।' अनार्यो के साथ आर्यो के युद्ध इतने अधिक हुआ करते थे कि गगा के मैदानो की तरफ पूर्व की ओर उनकी प्रगति बहुत ही शिथिलता के साथ हुई प्रतीत होती है। और यह कोई निरर्थक तथ्य नही कि गगा का—जिसके बिना परतर भारत को हृदयगम कर सकना असम्भव है और जो आज भी भारतीय जीवन मे तथा काव्य मे तथा लोकधर्म मे एकीभूत हो चुकी है, उस गगा का—ऋग्वेद मे नाम भी एकाध-बार ही आए। हाइने का यह प्रसिद्ध पद्य—

गंगा-तट की वे मधुर सुरभियां और वह झिलमिल,
वे ऊचे ऊंचे वियार,
और वे सरसिजो की छाया में—
उपासना-लीन, निःशब्द, ध्यानावस्थित मानवमूर्तियां !

—कालीदासीन भारत की स्मृति भले ही कुछ उपस्थित कर सके तो कर सके, ऋग्वेद के युग मे इसकी सगति बिठाये नही बैठ पाती। संस्कृत काव्य का प्रसिद्ध फूल कमल अभी वैदिक काव्य मे कोई उपमा नही खडी कर सका है। ऋग्वेद के पशु, पौधे और पक्षी लौकिक-संस्कृत-साहित्य के वातावरण से बिलकुल भिन्न है। न्यग्रोध का यहा नाम तक नही मिलता और बंगाल का शेर भी यहां नही है (क्योकि आर्य लोग अभी पूर्व की सुदूर सीमा तक नही पहुच पाये थे), चावल को यहां कोई जानता ही नही (सिर्फ जौ की खेती होती है)—सूक्तो मे कृषि का महत्त्व वह नही जो आगे चलकर हुआ। पशुपालन ही रोजी का जरिया है और वहा के भी मुख्य पशु बैल ही है। घोडे की कीमत देनी होती है, उसे रथ मे जोत कर योद्धा रण-भूमि की ओर जाता है या फिर घुडदौड मे मुकाबले पर भी। इन सूक्तो मे तथा देव-स्तुतियो मे भक्त देवताओ से गोधन तथा अश्वधन मागते हैं; और आदिवासियो व आर्यों की लडाई का मुख्य कारण सदा ये पशु ही होते है, इसीलिए, ऋग्वेद का

पुराना शब्द युद्ध के लिए 'गविष्टि' अर्थात् 'गोधन की इच्छा' है। गाय-बैल की प्रशंसा मे प्राय. अतिशयोक्ति अलकार ही बर्ता गया है। बछड़े की ओर रंभे नाद से दौडती गौओं की आवाज प्राचीन भारतीयो के लिए मधुरतम प्रियतम सगीत है। कवि तो यहा तक कहता है कि स्तोनाओ की पुकार इन्द्र के प्रति ऐसे ही उठनी है जैसे बछडे के प्रति गौओ का रभानाद। यही नही, स्वय देवों तथा देवियों की उपमा भी बैलो तथा गौओं से दी जाती है। गाय का दूध भोजन का मुख्य अंग था ही, साथ ही देवताओ को दी गई आहुति मे भी दूध और मक्खन का महत्त्व बहुत अधिक होता था। दूध को सीधा गाय के थन से ही पीना अच्छा समझा जाता था, और वैदिक कवियो के लिए एक आश्चर्य यही होता था कि गाय तो 'कच्ची' होती है किन्तु उसका दूध पका-पकाया ही आता है—गरम ही निकलता है! जर्मन भाषा मे एक बाल-गीत है .

कोई बता सकता है मुझे—कि क्यों
गाय तो लाल होती है दूध उसका सफेद ही होता है ?

और प्राय इन्ही शब्दो मे ही वेदो मे एक इन्द्र-स्तुति मे पूछा भी गया है कि क्यो काली और लाल गोए दूध उजला ही देती है! किन्तु आर्यो की (गोधन के प्रति) यही श्रद्धा ही उनके लिए यज्ञ मे गौओ तथा बैलो की आहुति देते वक्त और स्वय गोमास खाते समय एक बाधा बनकर आ खडी होती। किन्तु गो-हत्या के लिए उन दिनो सर्वथा निषेध ही हो, ऐसी बात नही थी खास-खास अवस्थाओ मे गौ को मारने के उल्लेख भी मिलते है* यद्यपि निरुक्त मे गौ का एक नाम 'अघ्न्या' भी है। बैलो की खाल भी इस्तेमाल हुआ करती थी। खाल बनाने वाले इस चमड़े से बोतले, धनुष की तदिया, प्रत्यचा और पेटिया बनाते, और, और भी अन्यान्य उद्योग उन दिनो होते थे। वेदो के समय का बढई मकान के साज-समान, सन्दूक और रथ, आदि बनाने मे निपुण होता था और लोहार, सुनार, एक खास पक्षी के परवो को धोकनी की तरह इस्तमाल किया करते थे—ऐसा लिखा है, जहाज की भी शुरूआत हो चुकी थी। वृक्ष के तने को अन्दर से खोखला कर के, छोटी-सी किश्ती बना, नदियो की सैर भी उस जमाने के लोग करते थे। समुद्र का परिचय यद्यपि वैदिक लोगो को है, किन्तु समुद्र के रास्ते कोई व्यापार आदि भी उन दिनों होते थे—यह कह सकना बहुत मुश्किल है। वैसे, व्यापारी लोग थे, और लेन-देन मे पैसे के स्थान पर सोने के गहनो और बैलो का व्यवहार था। बैलो और घोडो के अतिरिक्त, वैदिक प्रार्थनाओ मे देवताओ से सोने की माग भी है (जिसकी प्रत्याशा ब्राह्मणो को धनी यजमानो से स्वभावत होती ही थी)।

ऋग्वेद मे यद्यपि पशु-पालन, कृषि, व्यापार, उद्योग, युद्ध और यज्ञ आदि का उल्लेख है, वर्णाश्रम-व्यवस्था का सकेत अभी नही मिलता, वही वर्णाश्रम-व्यवस्था,

जो कि उत्तरयुगीन भारत के सामाजिक जीवन का पुराने जमाने से अविभाज्य अंग रही है (और आज भी अभिशाप-वत् स्थिर है) वेदो में अ-प्रमाणित है ! केवल एक सूक्त मे—जो कि स्पष्ट ही पीछे का है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (चारों वर्णों) का उल्लेख मिलता है। इसमे कोई सन्देह नही कि उन दिनों योद्धा भी होते थे, पुरोहित भी; किन्तु —इन योद्धाओ का जिक्र वेद मे एक स्वतन्त्र (क्षत्रिय) जाति के रूप मे अभी उतना ही नामुमकिन है जितना कि किसानो, पशु-व्यापारियो, अन्य (वाणिजो, कलाकारो तथा मजदूरों आदि) दलित वर्गों का। ऋग्वेद के समय मे भी वैसे रिवाज यही था कि राजा एक कुल-पुरोहित को सदा अपने साथ यह रखता जो उसके लिए यज्ञ-आदि निभाता रहे। ऋग्वेद मे भी और परतर वैदिक युग मे भी यज्ञ, सम्कार आदि घर का कोई भी कामकाज पुरोहित की सहायता के बिना असम्भव होता था। पत्नी यज्ञो मे पति के साथ बैठा करती थी, (और पति-पत्नी का इन पवित्र अवसरो पर साथ बैठना अनिवार्य समझा जाता था) : जिस विधान मे भी यही सिद्ध होता है कि परतर युगो की तरह अभी औरतो को यज्ञ तथा स्वाध्याय से बाह्य नही किया गया था। ऋग्वेद ८.३१ मे एक दम्पति-युगल का उल्लेख मिलता है जो एक हृदय होकर सोम को पीसते हैं, छानते है और दूध मे मिलाकर देवताओ की पूजा मे चढा देते है। **मनुस्मृति** मे यद्यपि लिखा है कि देवता औरतों को यज्ञ मे देखकर असन्तुष्ट हो जाते है, और यह भी कि अग्नि-होत्र करने वाली ओरतें नरक मे पहुचती है, किन्तु जब हम उपनिषदो मे यह पढ़ते है कि ओरते दार्शनिको के वादविवाद मे क्रियात्मक भाग लेती थी, सहभोजो, नृत्यो, ओर दौडो मे भी शामिल होती थी—तब-भी—हमे कोई आश्चर्य नही होता। कुछ विद्वानो ने वैदिक युग मे वेश्याओ, वारागनाओ के होने का विचार भी सामने रखा है, लेकिन इस सब की कोई आवश्यकता नही। यद्यपि इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि ऋग्वेद के समय मे ऐसी कुआरी लडकिया जिनका कोई भाई न हो, सरक्षक न हो, वेश्या का पेशा अपना लेती थी। गेल्डनर और पिशल[1] ने यह सिद्ध करने की पर्याप्त कोशिश की है कि वेश्याओ की सत्ता वैदिक युग मे एक सस्था के रूप मे उसी प्रकार स्थिर हो चुकी थी, जैसे कि बुद्ध के समय मे वैशाली में ओर पैरीक्लीज़ के समय मे एथेन्स मे समर्थित मिलती है। किन्तु यह बात प्रमाणो से पुष्ट नही की जा सकती।

इन सकेतो के आधार पर, मैक्समूलर की भाति, प्राचीन भारत का एक भव्य चित्र खीच देना भी उपयुक्त प्रतीत नही होता। स्वय ऋग्वेद मे भी अपहरण, विश्वास-घात, गर्भपात के और धोखे, चोरी-डकैती के भी उल्लेख मिलते है। लेकिन ये करतूते वेद को अर्वाचीन नही कर सकती। आधुनिक जनशास्त्र इस बात की साक्षी नही दे सकता कि कभी-भी मनुष्य का रक्त शुद्ध था, अपापविद्ध था, कि—इन्सान

में तब पाप की वासना बिलकुल नही थी, और न ही यह सिद्ध कर सकता है कि प्राचीनकाल के लोग निरे वहशी थे, मांसभक्षी थे। जनशास्त्री यह निश्चित रूप से सिद्ध कर चुके है कि प्राचीन जातियों मे—अर्धसभ्य जातियो मे और सभ्यता के अद्यावधि चरम विकास तक पहुची मानव-सस्कृति की अवस्था मे जो दो परस्पर-भिन्न रूप हमे मिलते है—उसमे भी कुछ निश्चित संगति एवं क्रम है। इसी प्रकार ऋग्वेद के लोगो के बारे मे भी हमे यह विचार बनाने की आवश्यकता नही कि वे मासूम गडरिए थे, या जंगलियो के कबीले, या अत्यन्त सभ्य और परिष्कृत एक अतिमानव वर्ग। वैदिक सस्कृति का चित्र जो इन गीतो से उभरता है वह, हमे हाइनरिख्त्सिमर की बहुमूल्य पुस्तक '**आल्टिण्डीशेज लेबन**' मे मिलता है कि किस प्रकार भारत के आर्य कर्मठ थे, प्रसन्नचित्त थे, युद्धप्रेमी थे, सरल-प्रकृति थे, यद्यपि कभी-कभी उनमे जगली-पना भी प्रत्यक्ष हो आता था। वैदिक स्तुतियो मे शत्रु के विरुद्ध सहायता, युद्ध मे विजय और लूट, वैभव, सम्पत्ति, रत्न, स्वर्ण, पशु, खेती के लिए वर्षा, सुखी परिवार और लम्बे जीवन के लिए—प्रार्थनाएं मिलती है। ऋग्वेद के गीतों मे तपस्या, निराशा, गमगीनी का वह पार्श्व अभी नही मिलता जो कि लौकिक भारतीय साहित्य का आगे चल कर जैसे एक अविभाज्य अग ही बन गया था।

ऐसे विद्वान् भी है जो ऋग्वेद को बहुत ही पुराना मानते है, और उन्होने उसमे भारतीय जीवन की अपेक्षा आर्य अथवा इण्डो-यूरोपियन गतिविधि को पढने की कोशिश भी की है। ये विद्वान् वेद को प्राय प्रागैतिहासिक मानते है, पूर्वभारतीय युग के आर्य जीवन का एक चित्र मानते है। इसके विपरीत विद्वानो का एक और वर्ग भी है जो कि ऋग्वेद को विशुद्ध भारतीय मन की ही उपज समझता है और उसका दावा है कि ऋग्वेद की व्याख्या करते हुए हमे उन्ही सिद्धान्तो का ही अनुसरण करना चाहिए जो कि वेदेतर शेष भारतीय साहित्य के लिए इधर से उधर नही किए जा सकते। यह विभाजन-रेखा ही ऋग्वेद की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं का मूलाधार है।

हम यह स्मरण दिला द कि अभी तक ऋग्वेद की कोई पूरी व्याख्या नही हो सकी है। यह सच है कि कितने ही सूक्त हमे उतने ही स्पष्ट है जितनी कि कोई भी लौकिक सस्कृत मे लिखी कविता, किन्तु साथ ही कितने ही सूक्त, और (परस्पर-असगत प्रसग, ऋग्वेद के) हमे बिल्कुल अस्पष्ट है। इसलिए, उस प्राचीन साहित्य का आशय समझना कोई खिलवाड नही। विशेषत कोई विदेशी जब ऋग्वेद के किसी अनुवाद को उठाता है, वह प्राय हैरान रह जाता है कि इतने गीतो का अधिकाश कवित्वमय नहीं, स्पष्ट नही, बुद्धिगम्य नही। पर प्राय कारण यह होता है कि इन अनुवादको ने न केवल ऋग्वेद का स्पष्ट अश ही अनूदित कर

छोड़ा होता है बल्कि उन्होने अपना एक कर्त्तव्य-सा ही मान लिया प्रतीत होता है कि वेद को स्पष्ट, अर्धस्पष्ट, अस्पष्ट—जैसे भी बन सके—'सम्पूर्ण' प्रस्तुत कर दो।

तो इसमे हम पाश्चात्य विद्वानो को बहुत दोष नही दे सकते कि वे ऋग्वेद को सही अर्थो मे समझ नही पा रहे; और, इसीलिए, वेद का कोई भी अशुद्धियो से रहित पूर्ण अनुवाद शायद कभी हो भी नही सकता। बात यह है कि ऋग्वेद एक बहुत ही पुराने जमाने का ग्रन्थ है जो काफी पुराने समय से स्वय भारतीयो के लिए ही दुर्बोध बन चुका है। स्वय वैदिक साहित्य मे ही कितने ही स्थलो की गलत व्याख्या हम आए दिन देखते है। यह समस्या भारत के प्राचीन विद्वानो के समुख भी आई थी। उन दिनो भी मुश्किल-मुश्किल वैदिक शब्दो के निघण्टु तैयार करने का रिवाज था। सम्भवत ऋग्वेद का प्रथम व्याख्याकार यास्क था जिसने प्राचीन निघण्टुओ के आधार पर एक निरुक्त रचा जिसमे वैदिक ऋचाओ की एक भारी सख्या को स्पष्ट करने का उसने प्रयत्न भी किया। यास्क[10] मे (यह याद रहे कि वह पाणिनि से बहुत पहले हो गुजरा था) कम-से-कम सत्रह पूर्ववर्ती विद्वान् उद्धृत है जिनके विचार अक्सर मेल नही खाते। इन्ही उद्धृत विद्वानो मे एक का विचार यह है कि क्योकि स्थान-स्थान पर वैदिक सूक्त अस्पष्ट, निरर्थक तथा परस्पर-विरोधी है, इसलिए—सारा का सारा निरुक्तशास्त्र ही व्यर्थ ठहरता है! जिसके प्रत्युत्तर मे यास्क सिर्फ इतना ही कहता है कि "इसमे सूर्य (रश्मि) का क्या दोष यदि अन्धा उसे देख न सके!" कठिन शब्दो के सम्बन्ध मे यास्क का आधार मुख्यतया उन शब्दो की निरुक्ति प्रस्तुत कर देना होता है (यद्यपि आधुनिक भाषाशास्त्र की कसौटी पर हम यास्क के निर्वचनो को सर्वथा वैज्ञानिक भी नही कह सकते, क्योकि—एक ही शब्द के प्राय दो या दो से अधिक निर्वचन भी वह कर छोडता है)। कुछ हो, इसमे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यास्क के समय मे भी कोई अविच्छिन्न परम्परा, वेदार्थ के सम्बन्ध मे, उपलब्ध न थी। यास्क के बाद और भी निर्वचनकार आए, किन्तु उनके ग्रन्थो मे शायद कोई भी बच नही पाया, और यही हाल हम उसकी पूर्वतर परम्परा के विषय मे भी कह सकते है। १४वी सदी के बाद हो हमे ऋग्वेद की एक पूर्ण व्याख्या मिलती है जो उसके हर शब्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने ऋग्वेद के **सायण-भाष्य** का शब्दश अनुवाद भी कर छोड़ा है (जिनमे कम-से-कम एक विद्वान्, विल्सन, को नही भुलाया जा सकता)। किन्तु एक ही ग्रन्थ पर इतनी आस्था प्राय एकागिता से दूषित हो जाती है, क्योकि दूसरी ओर ऐसे विद्वान् भी है जिन्होने भारतीय परम्परा से जरा भी परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया। उनका कहना है कि एक ऐसे भाष्यकार की अपेक्षा—जो किसी ग्रन्थ के लिपिबद्ध होने के दो हजार साल बाद आए—वर्तमान भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचनाशास्त्र से सुसज्जित-

समर्थित पाश्चात्य सेवावी उस ग्रन्थ का कही अधिक गम्भीर, एवं सत्य, अन्वेषण कर सकते हैं। इन विद्वानो से रूडोफ रोथ का स्थान प्रमुख है। उसके एक शिष्य और अनुयायी ग्रासमान ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का एक छन्दोबद्ध अनुवाद दो जिल्दो में प्रकाशित भी किया है। वैसे आज के अनुसन्धानकर्त्ता प्राय. इस सम्बन्ध मे मध्यम मार्ग अपनाते प्रतीत होते है। उनका कहना है कि "यह ठीक है कि हम भारतीय भाष्यकारो का अन्धानुसरण न करें", फिर भी उनका विश्वास है कि "भारत की अविच्छिन्न परम्परा मे कम-से-कम कुछ अश तो सत्य, यथावत्, सुरक्षित होना ही चाहिए—और, इसी लिए उसमे प्राचीन युग का कुछ भारतीय वातावरण-सा अब भी अवशिष्ट है—कि जिसके आधार पर भारत के विद्वान् अपनी परम्परानुमोदित प्रतिभा से मूल का अर्थ पाश्चात्य मनीषियो की अपेक्षा मूल के अधिक निकटतर यू-ही समझ लेते है।" इन मध्यममार्गियो मे ही एक विद्वान् लुडविश है, जिसका सम्पूर्ण ऋग्वेद जर्मन् भाषा मे उपलब्ध है। लुडविश के ऋग्वेद मे अनुवाद के साथ-साथ सायण के भाष्य पर आधारित एक अच्छी खासी व्याख्या भी समाविष्ट है, यद्यपि लुडविश ने पाश्चात्य तुलनात्मक विज्ञान की सर्वथा अवहेलना भी नही कर दी। लुडविश ने अपने परवर्त्तियो—यथा पिशल और गैल्डनर—के लिए मार्ग सुगम कर दिया और सो उनकी 'वेदिश स्टूडिएन' मे ऋग्वेद के कितने ही गूढ स्थल अब बिल्कुल स्पष्ट हो चुके है। विद्वज्जगत् दोनो के प्रति इस अमूल्य अध्यवसाय के लिए ऋणी है। ऋग्वेद के स्पष्टीकरण मे दोनो के सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण बिल्कुल निश्चित है कि ऋग्वेद की सही व्याख्या के लिए व्याख्याता का मन और उसकी बुद्धि—'साधारणीकरण द्वारा'—भारतीय होनी चाहिए और इसके लिए प्राचीन भारतीय साहित्य के परतर वाङ्मय के अतिरिक्त और कोई कुजी हमारे इतनी काम नही आ सकती।

वैदिक व्याख्या के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के साथ सम्बद्ध एक और जटिल समस्या भी है, वह यह कि क्या इन सूक्तो की रचना, मूल मे, वैदिक कर्मकाण्ड अथवा विनियोग से स्वतन्त्र हो कर हुई थी?—अर्थात् इन सूक्तो मे भक्तो के भरे हृदयो के उद्गार है, भोली श्रद्धा है—या केवल पुरोहितो द्वारा यज्ञादि के प्रसग मे यू-ही जोडी-तोडी गई तुकबन्दिया है।

इन सूक्तों की व्याख्या मे कितना भेद आ सकता है यह दो माने हुए विद्वानो के विचारो की तुलना मे प्रकट हो जाएगा। केगी इन सूक्तो के सम्बन्ध मे कहता है. "ऋग्वेद का अधिकाश देवस्तुति और प्रार्थना रूप है जिसमे मुख्य स्वर ससार की नित्य शक्तियो के प्रति प्रार्थना, उपासना तथा उद्गार का है। वैदिक ऋषि हर चीज को देवताओ का प्रसाद समझ कर स्वीकार करता है और इसी मे उसे परम सन्तोष मिलता है। उसका तो कहना है कि मैं जो कुछ गाता हूं उसमे मेरा कुछ

नही, वह भी परमात्मा की अपनी ही वाणी है, अपनी ही प्रेरणा है, जो आप से आप मेरे अन्तःकरण को माध्यम बनाकर फूट निकली है।" केगी ने यह भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद मे घटिया दर्जे के अश भी मिलते हैं : "किन्तु इन घटिया कविताओं मे भी सृष्टि की वह 'आदि' प्राणमयता है, 'आदि' नवीनता है। कोई भी व्यक्ति जो आज ऋग्वेद को पढते हुए तत्कालीन विचार, अनुभूति को और जागरूकता को स्वगत कर सकता है, उस युग की कविता को संवेदना द्वारा अपना सकता है—वह कविता जिसमे कि हम पाश्चात्यो के आध्यात्मिक विकास का पूर्वतम रूप, अपने श्रेष्ठतम स्वर मे, हमारे समुख बरबस खुल आता है—उसी के लिए ही इन गीतो मे कितना आकर्षण भरा पडा है : कितनी मात्रा मे अद्भुत, अबोध शैशव बिखरा पडा है, अनुभूति की वह प्रथम स्रोतस्विता, रूपको, वक्रोक्तियों की वह निर्भीक वृत्ति, कल्पना की वह उडान !" अब जरा एक और सूक्ष्मदर्शी तथा विवेकी विद्वान् की भी सुन ले। '**रिलिजन वास वेद**' में ओल्डनबर्ग लिखता है कि "यद्यपि ऋग्वेद भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है तथापि बौद्धिक ह्रास के स्पष्ट चिह्न उसमे उत्तरोत्तर बढते ही नजर आते है।" आगे चलकर वह उनके कर्मकाण्ड-परक मन्त्रों, विनियोगपरक यजुषो, घर के बाहर खुली जमीन पर यज्ञ मे रत जड पुरोहितो के बीच मे ही कुशाओ की छाया मे जल रही यज्ञवह्नियो का चित्र खीचता है और कहता है कि "इन जगली पुरोहितो के देवता भी जगली ही थे जिनका काम, जब चाहा, घोडो और रथो पर आसमान चीरने हुए थोडी-सी पुरोडाश, थोडा-सा मक्खन, एक मास का टुकडा और एक प्याली सोम के लिए—दौडते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नही होता था : और इसी को वैदिक ऋषि देवताओं की परात्पर शक्ति का प्रमाण समझते हैं ! ऋग्वेद के ये मिरासी, पुरानी लीक पर चलते हुए, गीत पर गीत बनाते और सोम-याग के समय अपने देवता की खुशामद करते 'आप ये है आप वो है', बढा-चढा के नई-से-नई अतिशयोक्तिया पेश करते—जिसमे सत्य का अश जरा भी न होता ! जिन पुरोहितो का सम्पर्क ही लोक-जीवन से न हो उनकी कविता मे भी लौकिकता अथवा सच्चाई कैसे आ सकती है ?"

हमारे विचार मे ये दोनो ही मत सच्चाई के परस्पर-विरोधी छोरो पर है। ऋग्वेद का अर्थ करते समय हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेद मे 'पूर्वतर' तथा 'परतर' अश मिश्रित है। जिस प्रकार कि सहिता के सूक्त भिन्न-भिन्न समयो की रचनाए है, उसी प्रकार सूक्तो के विभिन्न मन्त्र भी एक ही समय पर नही लिखे गए थे। इसमें कुछ सन्देह नही कि इन सूक्तो की प्रचुर सख्या का वैदिक यज-याग से कुछ सम्बन्ध नहीं है—उनमे सचमुच उस प्राचीन युग की धार्मिक भावना अब भी प्राणवती है, स्पन्द है ?" और, यद्यपि इनमे से अधिकाश सूक्तो का प्रयोग

सदियों से विनियोग-परक होता भी रहा, किन्तु इसी से इसके अर्थ यह नहीं हो जाते कि ये मूल मे इसी अभिप्राय से रचे गए थे। सच्चाई शायद कुछ और ही है, क्योंकि—ऋग्वेद का एक पर्याप्त बडा भाग शुरू से ही यज्ञपरक रहा है; उसका कोई और, शायद, तब भी प्रयोग था ही नही। सो, कम-से-कम इन अशो को तो पुरोहित लोग जोड-तोड सकते ही थे। हम तो व्हिटनी[17] की यह उक्ति अतिशयोक्ति लगती है कि 'वेदो को भारतीय साहित्य का अग न मान कर एक इण्डो-यूरोपियन ग्रन्थ मानना युक्ततर प्रतीत होता है। इसी प्रकार पिशल, गेल्डनर तथा विल्सन का यह कहना कि ऋग्वेद के समय मे भारतीय सस्कृति प्राय उतनी ही विकसित हो चुकी थी जितने कि प्रामाणिक रूप मे हम सिकन्दर के आक्रमण के समय उसे जानते आ रहे है—(पिशल का यह मत) हमे जचा नही।[18]

हो सकता है कि ऋग्वेदीय सूक्तो मे तथा शेष भारतीय साहित्य मे इतना महान् अन्तर न हो जितना कि अन्वेषको ने कल्पित कर लिया है, फिर भी—अन्तर है अवश्य।[19] इस भेद को हम भाषा, सास्कृतिक परिस्थिति, धर्म-बुद्धि के विकास आदि की युक्ति से परख सकते है। खैर, जो कुछ हम निश्चय से कह सकते है वह सिर्फ इतना ही है कि कवित्व की दृष्टि से ऋग्वेद के इन सूक्तो का मूल्य कुछ भी हो, भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एव विकास को जानने के लिए तथा इण्डो-यूरोपियन जातियो के गाथा-विज्ञान को समझने के लिए और विश्व-भर के 'प्रागैतिहासिक मन' को हृद्गत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतो मे बढ कर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नही है।

एक ही शब्द मे इस बात को हम यूं कह सकते है कि इन सूक्तो का मूल्य, हमारी दृष्टि मे, इस लिए है कि इनमे अभी देवगाथाओ का निर्माण ही हो रहा है—'देवताओ के नेपथ्य, धीमे-धीमे खुल रहे है, सचमुच[20] कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे ये देवता हमारी आखो के सामने देवत्व प्राप्त कर रहे हो! इन सूक्तो के, उद्गार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौ, मरुत, आप, उषा, पृथ्वी, आदि देवी-देवताओ के प्रति नही है, अपितु दिन मे दमकता सूर्य, रात के आसमान में चमकता चाद, रसोई मे जलती आग—या फिर अग्निकुण्ड से निकलती ज्वाला या काले बादल मे से फूट-निकली विद्युत्-रेखा, निस्तब्ध आकाश, तारकित निशा, गडगडाते तूफान, स्वच्छन्द बहती नदिया, वर्षा की फुहार, ताजी-ताजी उषा और पुष्पो, फलो से भरी यह फैली पृथ्वी—प्रकृति के ये रूप है जो इन सूक्तो मे स्तुति, उपासना, प्रार्थना का जैसे स्वय विषय बन आते है। बहुत धीमे-धीमे, शायद युगान्तर मे, प्रकृति के आगन मे हो रही ये लीलाए सूर्य, सोम, अग्नि, द्यौ, मरुत, वायु, आप, उषा, पृथ्वी के रूप मे दैवी बन गई, किन्तु फिर भी उनका मूल (प्राकृतिक) रूप सर्वथा प्रच्छन्न नही हो सका। सो, इस विषय पर वैमत्य का किंचित् भी अवकाश नही हो सकता कि

वैदिक गाथाओ के मुख्य देवी-देवता इन प्राकृतिक शक्तियो के ही 'मूर्त-करण' हैं। गाथाओ के आधार पर तुलनात्मक अन्वेषण ने कितने ही देवताओ का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट कर दिया है जब कि यह भी सच है कि उनके मूल नाम-धाम मे व्युत्पत्ति की वही स्पष्टता नही थी। इन पुराण देवो मे—जिनकी मूल प्रकृति कुछ अशो मे लुप्त हो चुकी है किन्तु सूक्तों मे जिनकी प्रशसा का आधार उनकी महिमा, उनकी उदात्तता, उनके अद्भुत कृत्यो को कहा गया है—इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, उषा, अश्विनौ, रुद्र और पर्जन्य के गीत वेद मे जहा-तहा बिखरे पड़े है: शुरू-शुरू में इनके नाम-धाम, और इनकी प्रकृति प्राकृतिक ही थी। यही नही; इन प्राकृतिक देवों के पार्श्व, अग भी, विशिष्ट क्रिया-कलाप भी, आगे चलकर स्वय देवता के नाम बन गए, नए देवता ही बन गए[1]— स प्रकार सविता (प्रेरक, सजीवन) और विवस्वान् (उज्ज्वल), जो सूर्य के ही दो विशेषण थे, क्रमश. दो पृथक् देवता ही बन गए। विभिन्न जातियों तथा युगो के देवता वैदिक युगीन भारतीयो के विकसमान देव-बाहुल्य का ही एक चित्र हैं[15] जिसमे मित्र, विष्णु, और पूषा भी कभी सूर्यदेव के अनन्य रूप ही थे। पूषा, सम्भवत, शुरू मे गडरियो, ग्वालो का सूरज था, किन्तु वैदिक देवता-वाद मे, आगे चलकर वह यात्रियो का तथा यात्रा का स्वतन्त्र देवता बन गया—जिसका काम था मुसाफिरो और पशुओ को रास्ते पर रखना, उनको भटकने न देना। मित्र ही अवस्ता का 'मिथ्र' है, और इससे यह सिद्ध होता है कि मित्र इण्डो-ईरानी युग का एक प्राचीन देवता है जबकि ईरानी और भारतीय अभी अलग नही हुए थे। किन्तु सभी देवताओ के मूल प्राकृतिक रूप को समझ सकना इतना आसान नही है। अभी तो इन्द्र, वरुण, रुद्र, अदिति, अश्विनौ आदि—वेद के प्रमुख देवताओ—के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त मतभेद है। एक सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्र तूफान का देवता है और दूसरे के अनुसार वह सूर्य का ही एक प्राचीन रूप है। एक के विचार मे वरुण आकाश का देवता है तो दूसरे के विचार मे चन्द्रमा है। रुद्र—जो मरुत का पिता होने के नाते, स्वय एक तूफानी देवता है—ओल्डनबर्ग के अनुसार पर्वत तथा अरण्य का अधिष्ठाता है[17] जो हिलिब्राण्ड्ट के अनुसार उष्णकटि-प्रदेशीय जलवायु की विभीषिकाओ का देव है। अदिति एक परस्परा मे आकाश की उन्मुक्तता है तो दूसरी मे पृथ्वी की निरन्त पृथुता। अश्विनौ का सम्बन्ध ग्रीक दिओस्कूरि के साथ जोड़ा जाता है और जर्मन तथा लैटिक गाथाओ मे भी उनका 'पुनर्जन्म' हम पाते है, किन्तु यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारो के समय तक पहुचते-पहुचते वे एक समस्या बन चुके थे। दिन-रात, पृथ्वी और आकाश, उषा और सन्ध्या, सूर्य और चन्द्रमा, सान्ध्य तथा प्रभातिक नक्षत्र अथवा 'यामिनी' नक्षत्र-युगल—कितनी ही सम्भावनाए इनके विषय मे प्रस्तुत की गई है।[18] कुछ तो, आज गाथाविदों मे प्राय., इस सम्बन्ध मे ऐकमत्य ही है कि वैदिक देवताओं का उद्भव

और शायद वैदिक देवों में वरुण ही अकेला ऐसा देवता है जो मनुष्यो से कुछ ऊपर ही रहता है—और वैदिक कवि उसके निकट भय से कापता हुआ, और श्रद्धा से विनम्र हो कर ही, पहुचता है। वैदिक देवो मे एक वरुण ही है जो मनुष्यो के धर्म-कर्म का ख्याल रखता है और पापियो को दण्ड भी देता है। इसीलिए वैदिक कवि पश्चात्ताप से प्रेरित होकर वरुण के संमुख अपने पापो के लिए क्षमा मागने आता है। बाइबल के 'साम्-ज' की कुछ तुलना केवल इन्ही वरुण-मंत्रो के साथ ही हो सकती है। ऋग्वेद ५ ८५ का उद्धरण यहा अप्रासगिक न होगा :—

आओ—
हम वरुण के गीत गाएं,
सम्राट् वरुण की स्तुति गाएं
—वरुण, जो पृथ्वी को सूर्य के लिए एक मृगचर्म की तरह बिछा देता है :
वृक्षों की चोटियों पर वायु का यह साम्राज्य उसी का है,
गौओं में दूध और घोड़ों में गति उसी ने भरी है,
हृदय में अनुभूति, समुद्र में वडवानल, और बादलों में बिजली,
आकाश में सूर्य और पर्वतो पर हरियाली और सोम
—सब वरुण की ही देन है।
वरुण ही जैसे एक भारी मश्क को नीचे की ओर खोल देता है
और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, पाताल सब पानी से भर जाते है,
पृथ्वी धन-धान्य से पूरित हो जाती है।
धरती और आसमान, रगरग मे भीग जाते है,
पर्वत, मानो,
बादलो से ढक जाते है और 'वीर'
शक्ति से भरे-पुरे उन बादलो को पृथ्वी की ओर छोड़ देते है।[२१]
वरुण ही वह अद्भुत शक्तिशाली अमर सम्राट् है जो
दूर आकाश मे बैठा हुआ
सूर्य की परिक्रमा द्वारा पृथ्वी को जैसे माप रहा है !
वरुण की राह में कभी कोई बाधा नहीं आई;
यह उसकी जादू-भरी शक्ति ही है जो
वर्षा की धाराओं को नदियो मे
और नदियो को समुद्रों मे—परिणत कर देती है।
और, हे परमदेव,
यदि हमने किसी अपने प्रेमी, भाई, मित्र और साथी का कभी कुछ बुरा किया हो,
अपने-पराए किसी का कभी बुरा सोचा हो,

तो, हे वरुण—
हमें उस पाप-वृत्ति से मुक्त करा दो।
और यदि कभी जुआरी बन कर हमने किसी से धोखा किया हो,
कभी धोखे में आए हों,
जानबूझ कर या अचेते में कोई पाप किया हो
—तो, हे देवाधिदेव,
हमें इन शृङ्खलाओं से मुक्त कराओ,...
हमें अपना बना लो।

ऋग्वेद मे भी वरुण, जैसे अर्वाचीन भारतीय गाथाओं मे, समुद्र का और जल का देवता भी बन चुका है, और इसलिए वह पापियो को जलोदर से पीडित भी कर सकता है। ऐसे एक जलोदर पीडित की प्रार्थना ऋग्वेद ७ ८९ में इस प्रकार अंकित है :—

हे वरुण,
मुझे इस मिट्टी-के-घरौंदे[२२] मे बन्द न करो,
—मुझ पर कृपा करो।
ऐ बिजली बरपाने वाले, जब मैं हवा से भरे एक फूकने की तरह
कांपू,
—तो मुझ पर कृपा करो।
हे शक्ति-सम्राट्,
जब मैं, दुर्बल मनुष्य, कभी फिसलूं
—तो मुझ पर कृपा करना।
तेरा यह स्तोता जल के प्रवाह मे खड़ा भी प्यासा है
—उस पर कृपा कर।
जब भी कभी हम दुर्बल मनुष्य
(तेरे नियमों का उल्लंघन करते हुए)
तेरे देव-दूतों के प्रति कुछ गुनाह करते हैं
—तो हे देव, हम पर कृपा करना, हमें क्षमा कर देना।

किन्तु इन्द्र की स्तुतियो में कुछ और ही स्वर है। इन्द्र जैसे वैदिकयुगीन भारतीयों का राष्ट्रीय देवता है, जन-गण-मन का अधिनायक है और—क्योंकि वह संघर्ष का युग था—इन्द्र रग-रग मे जैसे एक युद्ध का देवता बन कर ही सामने आता है। फिर-फिर, कितने ही स्थलो पर, इन्द्र की प्रचण्ड शक्ति और युद्धवृत्ति के गीत गाए गए है। इन्द्र की असुरो पर विजय की, और बिजली की, प्रशसा मे कवि की प्रतिभा चमक उठती है। असुरो के साथ युद्धो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शायद

इन्द्र और वृत्र में हुई कभी न समाप्त होने वाली मुठभेड़ें हैं। इन्द्र का एक नाम वृत्रहन् है और इसी रूप मे उसकी और उसके कुलिश की स्तुतियां वेद में स्थान-स्थान पर मिलती है। 'वृत्र' को वेदों मे एक अजगर के रूप मे दानवी शक्ति का अवतार बना कर सामने लाया गया है जो, नदियो को पर्वतों मे बन्द करके, पृथ्वी को मुसीबत मे डाल देता है। ('वृत्र' का शब्दार्थ भी सम्भवत., अड़चन अथवा बाधा ही है।) इन्द्र इन नदियों की मुक्ति के लिए उत्सुक है। सोम-पान करके उसमे नूतन साहस, नया बल जाग उठता है—तत्क्षण वह युद्ध भूमि की ओर दौडता है और वृत्र को मार गिराता है और—लो, वृत्र की मृत-देह पर कूदती-उछलती पानी की धाराए फूट कर आगे की ओर, सभी ओर, निकल पडती है! इन्द्र के इस महान् कृत्य का चित्र ऋग्वेद १ ३२ मे खूब प्रतिमूर्त हुआ है —

कवि इन्द्र के अद्भुत कृत्यों को गाने चला है :

इन्द्र का वह प्रथम कृत्य
जब कि, वज्र हाथ में ले,
उसने अजगर को मार गिराया था,
नदियों को मुक्ति दिला दी थी,
और ऊंचे, अभेद्य पर्वतों में कितने ही दर्रे बना डाले थे, . . .
. . .वृत्र तब पर्वत की चोटी पर मस्ती में सो रहा था
—जब इन्द्र ने उसका काम तमाम कर दिया।
यह शूं-शां करता, धरती पर तबाही बरसाता वज्र
इन्द्र के लिए त्वष्टा ने घड़ा है।
लो, देखो—
रभाती गौओं की तरह जल की धाराएं
किस तेजी के साथ समुद्र की ओर बढ़ी जा रही हैं !

इसमे कोई सन्देह नही कि इन्द्र-वृत्र के इन युद्धो मे कोई बड़ी प्राकृतिक घटना ही निबद्ध है। वृत्र की मृत्यु पर धरती-आकाश काप उठते है। वृत्र की हत्या, एक ही बार नही, कितनी ही बार होती है, और इन सूक्तो मे इन्द्र को, भविष्य मे भी, वृत्र को मारने ओर नदियों का मुक्त कराने के लिए आमन्त्रित किया गया है। वेद के प्राचीन भाष्यकार हमे बतलाते है कि इन्द्र बिजली और तूफान का देवता है, और यह भी बतलाते है कि नदियों को जड मे डालकर रखने वाले ये पर्वत, और कुछ नही, बडे-बडे बादल है, और यह भी कि वृत्र दुर्भिक्ष का अधिष्ठाता दैत्य है। यूरोप के प्रायः सभी तुलनात्मक गाथाशास्त्री इन्द्र-वृत्र की कहानी के इस आख्यान से सहमत है, क्योंकि इण्डो-यूरोपियन प्रागैतिहासिक युग मे 'थुनार' भी एक वज्र-सा हथौड़ा (म्जेलनीर) लेकर बिजली और तूफान के अधिष्ठाता रूप मे उधर मिलता भी है।

तथापि, हिलिब्राण्ड्ट ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वृत्र, मेघ तथा दुर्भिक्ष का अधिष्ठाता न हो कर, एक शीत-दानव है, जिसकी शक्ति को (सूर्य के रूप में अवतरित हो) इन्द्र नष्ट-भ्रष्ट कर देता है; इन्द्र के हाथों मुक्ति पाने वाली ये आपः वर्षा की धाराएं नही है, अपितु—उत्तर-पश्चिमी भारत की नदियां है जो सर्दियो में सूख जाती है और, जब सूरज की गर्मी से हिमालय की बरफ के तोदे पिघल जाते है, फिर से भर जाती है।

कुछ हो इन्द्र तथा वृत्र का मूल प्राकृतिक रूप वैदिक कवियो के समक्ष स्पष्ट नही है। उनकी दृष्टि मे यदि इन्द्र एक महान् शक्तिशाली अधिदेव है तो वृत्र उतना ही भयानक एक दैत्य जिसे वे श्यामवर्ण आदिवासियों के रूप मे चलता-फिरता पाते है, क्योकि—इन्द्र के ये युद्ध वेदो मे केवल वृत्र के साथ ही नही अन्यान्य दैत्यो के साथ भी होते है (इन्द्र और वृत्र के) ये संग्राम जैसे आर्यों और अनार्यों के बीच हुए युद्ध की ही एक प्रतिच्छाया हों। इन्द्र, सो, योद्धाओ का, वीरो का, देवता है और ऋग्वेद मे आई उसकी कम-से-कम २५० स्तुतियो मे यदि हम उसका कुछ सही, सजग रूप पा सकते है तो इसी एक युद्धप्रिय देवता के रूप मे ही। उसकी भुजाएं लम्बी और शक्तिशाली है, अपने सुन्दर होंठो से वह सोम के प्याले को एक ही घूट मे खाली कर देता है, बड़े मजे से चुस्की लेता है, और अपनी सफेद दाढी को सहलाता है, उसके बाल, उसकी सारी शक्लोसूरत—सुनहरी है; वह एक खासा लम्बा चौडा बृहत्काय प्राणी है जो पृथ्वी और आकाश की सीमा मे बधा नही रह सकता, शक्ति और बल मे न कोई देव उसका मुकाबिला कर सकता है, और न-ही कोई मनुष्य। एक बार उसने दोनो लोको को अपनी मुट्ठी मे धर दबाया भी था। उसका एक प्रिय विशेषण है 'वृष' अर्थात्—बैल की ताकत वाला। जैसी ही उसकी शक्ति है, वैसी ही उसकी सोम-पान की आदत है (जिसका कोई हिसाब नही, और जिस पर इन गीतों मे कितनी ही बार फबतियां भी कसी गई है)। वृत्र को मारने के बाद तो, कहते है, वह सोम के तीन 'टैंक' ही चढा गया था और एक बार और (किसी और अवसर पर) उसका भी दस-गुना वह एक घूट मे ही पी गया! पैदा होते ही—और उसका जन्म भी कोई मामूली घटना नही थी (क्योकि मा के पेट से ही उसने बोलना शुरू कर दिया था "मैं इस बीहड़ रास्ते से नही निकलूंगा, मैं उधर से अपना रास्ता आप बनाऊंगा" ४ १८ २), पैदा होते ही—वह प्याले के प्याले साफ कर गया था! ऋग्वेद १० ११९ मे कवि ने उसे एक शराबी की तरह पेश किया है जो अपने से ही बात करता जाता है—"नही भाई! मैं तो यूं करूंगा, नही, इस तरह नही", "मेरी जहा मर्जी आएगी, इधर उधर, कही भी, जैसा जी मे आएगा, धरती को उठाके —फेंक दूंगा!" और हर एक पद्य का अन्त होता है, "बात क्या है?—क्या सोम मुझे तो नही चढ़ गया?"

एक युद्धप्रिय संग्राम-विजेता ही सचमुच आर्यो का राष्ट्रीय-देव बन सकता था, देवाधिदेव बन सकता था। यद्यपि ऋग्वेद मे स्तुति करते-करते हर देवता को श्रेष्ठ और प्रथम कहा गया है—जिस प्रकार कि कवि लोग आम तौर पर अपने टटपूंजिया राजा की चापलूसी मे पुल बाधते कभी थकते नही (जैसे वह विश्व-सम्राट् ही हो)—इन्द्र की स्थिति वेद मे, (जिस प्रकार कि यूनानी आलिम्पस पर जिउस की थी) एक देवराट् की ही है। ऋग्वेद २ १२ मे इन्द्र का एक गीत इस प्रकार है —

जो, पैदा होते ही, सब देवताओं को बुद्धि और बल में मात दे गया;
जिसकी प्रभुता और पौरुष के सम्मुख दोनों लोक थर्राते हैं :
—वही हमारा इन्द्र है
जिसने कांपती धरती को थाम लिया,
जिसने पर्वतों को स्थिर कर दिया,
जिसने अन्तरिक्ष की अनन्त
रिक्तता को यूं ही माप डाला,
जिसने आसमान को गिरने से रोक दिया,...
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

वृत्र को मार कर जिसने सात सिन्धुओं को मुक्त करा दिया,
बल की गुफा मे से जो गौओं को बाहर निकाल लाया,
दो बेजान पत्थरो को रगड़ कर जो आग पैदा कर सकता है,
जो युद्ध में सदा विजयी ही हुआ है,...
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

जिसने धरती की हर चीज को अस्त व्यस्त कर दिया,
जिसने दास लोगों को घुटनों पर ला झुकाया, तहस-नहस कर दिया,
जो अपने शत्रु की सम्पत्ति पर हमेशा ऐसे हावी हो जाता है
जैसे कोई जुआरी शर्त लगा कर...,
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

ऐसे महान् और भयावह नेता के बारे में भी लोग पूछते हैं—
"आखिर वो है कहां ?"
और कई तो यहां तक कह डालते है कि—
"इन्द्र कोई है ही नहीं !"
भाइयो ! उससे शत्रुता मोल न लो; अन्यथा—

तुम्हारी सम्पत्ति दिनों-दिन क्षीण ही होती जाएगी,
उसमें विश्वास रखो,
नहीं तो उससे बुरा कोई न होगा ।।

वह हर गरीब-अमीर (स्तोता) की सुनता है,
मुसीबत में पड़े पुरोहित का भी उसे ध्यान है,
जो उसके लिए सोमरस तैयार करता है—उसका ध्यान तो आते ही—
उसके होंठ चसक उठते हैं ।।

ये सब घोड़े और रथ,
ये ग्राम और ग्रामीणों का यह पशु-धन,
यह सूर्य और यह सुहावनी सुबह,
ये गहरी नदियां
—सब इन्द्र के अनुशासन में हैं ।।

जहां भी कहीं सेनाएं, युद्ध के लिए, परस्पर संमुख होती हैं
—इधर या उधर—
दोनों के महारथी एक इन्द्र का ही, सहायता के लिए, आह्वान करते हैं।
उसके बिना कोई विजय असम्भव है,
एक उसी की ही अपेक्षा हर योद्धा को सदा बनी रहती है;
शत्रु कितना भी बड़ा क्यों न हो, बढ़-चढ़ कर क्यों न आया हो
—इन्द्र उसे क्षण में चूर कर सकता है ।।

जो एक ही तीर से बड़े-से-बड़े पापियों को एक दम ख़त्म कर सकता है,
(भले ही वे लाखों क्यों न हों),
जिस पर दुश्मन के गरूर का तनिक भी असर नहीं पड़ सकता ..
—हमारा इन्द्र वही है
हमारा इन्द्र दैत्य-विजयी है, दानव-जयी है ।।

हां, यह वही इन्द्र है जिसने शम्बर को—
चालीस साल बाद—ढूंढ कर,
कभी उसकी गुफा से बाहर खींच निकाला था,
हां, यह वही इन्द्र है जिसके हाथों वृत्र का विनाश
बस—देखते ही बनता था ।।

ये सात रश्मियां हीं उसकी सात शक्तियां हैं,
उसकी ताकत एक मस्ताये बैल की ताकत है,
सात रश्मियां और सातों नदियां एक साथ ही बह निकली थीं...,

वज्र हाथ में लेकर उसने स्वर्ग की ओर उड़ते रौहिण को
कभी सबक सिखाया था,...

धरती और आकाश उसके आगे सीस नवाते हैं,
पहाड़ उसके सामने टिक नहीं पाते,
इधर सोम हो, हाथ में बिजली हो,...
—वह वज्र-बाहु इन्द्र ही हमारा इन्द्र है ॥

सोम का रस निकालने वाले,
और यज्ञों में पुरोडाश की हवि दे कर उसके गीत गाने वाले..
जो भी सच्चे हृदय से इन्द्र की ओर उन्मुख होते हैं, उनकी
—कामनापूर्ति में इन्द्र कभी पीछे नहीं हटता ॥

हे इन्द्र, जो तू पुरोडाश देने वाले का,
और सोम रस निकालने वाले का—घर भर देता है,
—क्या तू मेरे घर को भी वीर पुत्रों से, वीर गाथाओं से, नहीं भर देगा ?

वरुण और इन्द्र की वैदिक स्तुतियों में करुणा है, प्रवाह है, उद्दण्डता है। अग्नि की स्तुतियों में जैसे मनुष्य के प्रेमाविल हृदय की कामल वृत्ति है। ऋग्वेद में अग्नि के दो रूप मिलते हैं—एक यज्ञ की अग्नि, दूसरी गृहस्थ की अग्नि : दोनों ही रूपों में अग्नि मर्त्यों का मित्र है। वह देवदूत है और कवि के साथ उसका एक-हृदयता का जैसे कोई अवर्ण्य नाता-सा है। वैदिक कवि जब अग्नि से प्रार्थना करता है तो यही समझता है कि अग्नि उसका पिता है, वह अग्नि का पुत्र है, सो—उसका देवता उसकी इच्छा पूर्ण करेगा ही ! इन्द्र क्षत्रिय-योद्धाओं का देवता है तो अग्नि इन्सान का गृह-देवता है जो उसके बाल-बच्चों की, गृहस्थ की, देखभाल करता है। अग्नि वेद में प्राय गृहपति, घर-घर आया अतिथि—और अतिथियों में भी प्रथम अतिथि—है। अग्नि एक अमर है जो हम मर्त्यों में आ बसा है। हमारे घर की, हमारे वंश की सारी समृद्धि अग्नि के हाथों में है। बड़े पुराने समय से जब नई बहू घर में आती है उसमे इसी पवित्र गृहमेधाग्नि की परिक्रमा कराई जाती है। शायद इसीलिए ऋग्वेद १ ६६ ८ में अग्नि को कन्याओं का प्रेमी, और विवाहिताओं का पति कहा गया है, इसके अतिरिक्त, विवाह-संस्कार में भी अग्नि का एक

सम्बोधन 'पतिः कनीयान्'—है, ओर वहा यह भी लिखा है कि वर वधू को अग्नि से एक प्रसाद के रूप मे ही पाता है ! विवाह हो, बच्चो का जन्म हो, या घर मे कोई और खुशी आए—बडी सीधी-सादी भाषा मे अग्नि की स्तुति होती है। विवाह-मण्डप में बहू की ओर से कहलाया जाता है "हे अग्निदेव, तुम्ही तो हमारे घर के मालिक हो, तुम ही इसकी रखवाली करना। जब वर आज इसका हाथ पकड कर अपने घर ले जाएगा, तुम्ही इसके गर्भ को सफल करना कि वह जीते-जाते बच्चो की मा बने, अपने बच्चो को हसता-कूदता देखे और यह इसका वर भी इसके बच्चो की बडी उम्र तक खुशहाली देख सके।" यज्ञ-वह्नि के रूप मे अग्नि देवो और मर्त्यो के बीच एक माध्यम है जो हमारी आहुति देवताओ तक पहुचाता है कि वे उसका भोग कर सके और, कभी-कभी तो, स्वय देवताओ को ही यज्ञमण्डप में भी ले आता है। शायद इसीलिए वेदो मे उसे ब्रह्मा, पुरोहित, वेधा, होता, तथा ऋत्विक् भी कहा गया है। गाथाश तथा काव्यकला के मूल 'समन्वय' को, विशेषतः अग्निपरक स्तुतियो में, पृथक् कर सकना प्राय असम्भव है। घी की आहुतियो पर आहुतिया डाल कर यज्ञाग्नि की ज्वाला को प्रज्ज्वलित रखा गया, और कवि कहता है—"अग्नि का मुख दमकता है, उसकी पीठ चमकती है, ओर उसके बालो से घी की धाराए बहती है!" और जब अग्नि को ज्वालामय केशों वाला, लाल दाढी वाला, और तेज जबडो और सुनहरी दातों वाला कह कर वेदो मे पुकारा जाता है, या फिर उसकी ज्वालाओ को अग्निजिह्वा कहा जाता है और उसके चारो तरफ फैलती रोशनी को देख कर भ्रम हो जाता है कि उसकी आखे चार है या हजार—सारा वर्णन काव्यमय भी प्रतीत होता है, गाथामय भी। अग्नि की तडक-भडक को बैल की चिंघाड से उपमा दी गई है, यही नही, उसे बैल तक कहा गया है, उसकी उठती ज्वालाए कवि की दृष्टि मे किसी महापशु के सहस्र शृग है जिन्हे गुस्से मे आग-बबूला हो कर वह तेज कर रहा है ! इसी प्रकार, कितनी ही बार, अन्यत्र, अग्नि को खुशी मे हिनहिनाते एक घोडे के रूप मे वर्णित किया गया है। ये ज्वालाए क्या है ?—घोडे का जोश मे आकर ऊधम मचाना ही तो है, गाथाओ मे सर्वत्र और, सो, धर्मकृत्यो मे भी अग्नि का अश्व से निकट सम्बन्ध रहा है। किन्तु जब अग्नि को एक पक्षी के रूप मे, एक बाज के रूप मे, प्रस्तुत किया जाता है—जो जमीन और आसमान के बीच मे इधर से उधर ओर उधर से इधर उडता है, जरा आराम नही लेता—तब हमे सन्देह होने लगता है कि कही यह आसमान से गिरती बिजली तो नही ? इन रूपो से एक बिल्कुल पृथक् रूप अग्नि का और भी है जब ऋग्वेद १ १४३ ५ मे ऋषि कहता है कि "अग्नि वनो को हडप जाता है, उन्हे चबा-चबा कर चकना-चूर कर देता है—वैसे ही जैसे कोई नृशस क्षत्रिय अपने शत्रु का कुछ बाकी न रहने दे।" ऋग्वेद १ ६५ ८ मे पुनः कहा है कि हवा चलती है, आग

जगल के एक सिरे से दूसरे सिर तक छा जाती है, और अग्नि "पृथ्वी के इन केशो को" आन की आन में काट डालता है।

सचमुच, यदि इन अग्नि-गाथाओ का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्भव कवियो के इन्ही रूपको तथा अन्य अलकारो मे हम पाएगे। वेदो में अग्नि के तीन जन्मों अपिवा जन्मस्थानो की कथा मिलती है आकाश मे सूर्य के रूप मे, पृथ्वी पर मर्त्यों द्वारा दो अरणियो की रगड से निकली आग के रूप मे, और जल मे बिजली के रूप मे (अग्नि विद्यमान है)। अरणियो मे से जब आग फूटती है तो कवि कहता है "जैसे बच्चा पैदा होते ही अपनी दोनो माताओ को खा जाए (ऋग्वेद, १० ७९ ४)!" एक ओर स्थान (१ ९५ २) पर अग्नि की त्वष्टा के रूप मे स्तुति करते हुए कहा है कि दस कुमारियो की कोख मे वह जन्मता है। ये दस कुमारिया, और कोई नही, हमारी दस अगुलिया ही है जो कभी नही थकती, और, क्योकि यज्ञाग्नि को हमेशा दो अरणिया रगड कर ही उत्पन्न किया जाता था—इसलिए, सम्पूर्ण ऋग्वेद मे अग्नि को 'शवसो न पाद्' (शक्ति का पुत्र) कहा जाता है।

यज्ञकाण्ड मे अग्नि का यह महत्त्व होने से ऋग्वेद के अधिकाश सूक्तो मे अग्नि की ही चर्चा है। अग्नि-परक इन दो सौ के लगभग गीतो को हम यज्ञगीत कह सकते है (जिनमे अधिकाश रचे भी यज्ञ के प्रसग मे ही गए थे)। इन गीतो मे बड़ी सीधी-सादी प्रार्थनाए है। हो सकता है वे भी पुरोहितो की ही रचनाए हो, किन्तु—कवित्व इनमे 'हो सकता है', स्पष्ट है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त (१ १) इस प्रकार है :—

औरों के देवता कितने ही हों,
मेरा देवता तो बस एक अग्नि ही है।
वही मेरा पुरोहित, ऋत्विक्, होता, उद्गाता-सब कुछ—है।
यह सब उसी का प्रसाद है कि मेरा घर भरा-पुरा है।

अग्नि की पूजा लोग पहले भी करते थे,
आज भी करते है, और आगे भी करते रहेंगे।
अग्नि ही हम मनुष्यों के लिए देव-पथ का प्रदर्शक है।

यह धन-धान्य, यह सम्पत्ति, यह खुशहाली,
यह बालकों की चुलबुल से सजीव मेरा छोटा-सा परिवार,
और यह मेरा यश, नाम
—सब कुछ अग्नि की देन ही तो है।

हे अग्नि,
तुम किस प्रकार—
यज्ञ भूमि की और यज्ञिय जीवन की अभिरक्षा कर के
—देवोन्मुख हो जाते हो ?

क्या अग्नि हमें बुला रहा है ?
हां, एक वही तो अपना वचन पालना जानता है।
सांच को आंच क्या ? वह लो—
अग्नि, देवताओं को अपने साथ ले,
इधर ही चला आ रहा है !

अग्नि जो कुछ भी यज्ञ-शेष के रूप में हमें देता है
वह हमारा अंग बन जाता है,
हमारी जिन्दगी का अंग बन जाता है :
—अग्नि 'अंगिरस्' है।

ऐ मेरे जीवन के अंधियारे में उजियारी भर देने वाले !
मुझे तू अपना ही अंग बना ले—
मेरे मन, वचन, कर्म सब तेरी ज्वालाओं में उज्ज्वल हो उठें :

तू ही तो मेरा यज्ञपति है,
तू ही तो मेरे धर्म-कर्म का 'वाली है,
और तू ही तो मेरा गृहपति भी है :
—यह घर और किसका है ?

अग्नि मेरा पिता है, मैं उसका पुत्र हूं।
और—पुत्र अपनी फरियाद और किससे कहेगा ?
अग्नि की छत्र-छाया मेरे घर पर सदा बनी रहे।

ऋग्वेद की कवित्वमयता में सचमुच काव्य के कुछ अनमोल रत्न भी सचित है। सूर्य, पर्जन्य, मरुत, उषा के गीतों में प्रकृति की सम्पूर्ण सुषमा पुष्पित हो उठी है, उदित हो उठी है, प्रवहमान हो उठी है। विशेषत उषा के गीतों में तो कवि के होठों पर सरस्वती नाचती प्रतीत होती है। उषा की सौम्य सुषमा सर्वथा मृदुवर्णों में अंकित हुई है। उषा की आंखों में उन्मेष है, यौवन का वह प्रथमोन्मेष जब जवानी अपने को कुछ जानने लगती है और मां उसे साज-सवार कर घर के बाहर 'आंगन' में ले आती है ! बाहर प्रकृति रंगस्थली बन जाती है और उषा का नृत्य आरम्भ होता है। उसके वे झीने वस्त्र आप से आप खिसकने लगते हैं और मर्त्य—कुमारी

के उस प्रथम वक्षोदय को देखकर—दंग रह जाना है! प्राची के मंच पर कुमारी का यह नृत्य उजियाली के कपड़ो में से जैसे बाहर निकलता-सा हम रोज देखते हैं—जैसे स्वर्ग के दरवाजों को खोल कर रोशनी और जवानी एकरूप हो कर बाहर निकल आए और बाला के मूकभाव में, हमारे लिए भी, कुछ आमन्त्रण हो (ऋग्वेद ५ ८० ५-६)!—

अंग-अंग से चैतन्य उगलती सी,
प्रकाश में नहाती सी—
वह एकदम खड़ी हो गई
—कि हम मर्त्य स्वर्ग की इस पुतली को क्षण भर देख सकें
—और हमारे जीवन से सब अंधकार, द्वेष चला जाए।

स्वर्ग की पुतली, वह देखो—
मनुष्यों के सम्मुख आ कर
अपना मस्तक झुका रही है :
और इसी रूप में बाला के मुग्ध सतीत्व को
हम रोज देखते हैं और, देख-देख,
गीतों में मुखर हो उठते हैं।

ऋग्वेद ६ ६४ का कवि कहता है —

ये चमकीली उजली उषाएं
जल की तरंगों के समान शुभ्र—उठती हैं, और
दुनिया के सारे रास्ते चमक उठते हैं,
दुनिया की सारी सम्पत्ति को एकत्र पुंजित हम देख लेते हैं!

किस प्रकार यह दिवस्-पुत्री, एक अज्ञात मित्र की भांति,
अपना सर्वस्व हमारे सम्मुख उड़ेल देती है,
और वत्सल मां की भांति जैसे दूध तक उंडेल देती है?

उषा एक गवालिन है—
ये किरणें उसकी लाल-लाल गौएं हैं,
और यह दूर चमकता सूर्य मेरी गवालिन का बाल-गोपाल है;...
दुनिया का अंधकार उसके शत्रुओं की, मानो, एक अक्षौहिणी है
जिसे वह अपने तीर-कमान से आंख-मारने की देरी में खदेड़ भगाती है!

किस प्रकार मेरी गवालिन
पहाड़ों के दुर्गम रास्तों पर
कूदती-फांदती चली जाती है
—सजीव और दुर्जय:
समुद्र उसके रास्ते की बाधा नहीं बन सकते ।
ओ गवालिन मेरी, इस धरती को अपने
(छाती में 'शान्त') दूध से उजला कर दे !

गोधूलि 'उषा की वेला' है—
हम नींद से जागते हैं और उधर आकाश में उजियारी छाई होती है,
गायों के रंभे नाद से पृथ्वी भर जाती है,

पक्षी घोंसलों से बाहर निकलते है,
और किसान
कुछ पाथेय ले कर खेतों की ओर निकल पड़ते हैं,...
तो कुछ ऐसे भी है जो घर की रखवाली पर पीछे ही रह जाते है—
इन्हें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए—
—उषा ही इन्हें (अपना) सब कुछ दे देगी !

'वात' परक एक सूक्त (ऋग्वेद १० १८८) इस प्रकार है —
सुना तुमने ?—यह वात का रथ आ रहा है :
यह बिजली की कडक और तेजी
जो आसमान को अन्दर से भर देती है
—धूल से धूसरित कर देती है !

वात के झुड-के-झुड जोश में आगे बढते है
—वैसे ही जैसे औरतें किसी मेले की ओर निकल पडी हों !
वात और वात के सैनिक—दोनों एक ही रथ पर सवार है
—और यह रथ विश्वपति की जययात्रा का रथ है ।

वात को—एक दिन के लिए भी, एक क्षण के लिए भी—
आराम हराम है ।
जीवन में प्रथम उत्पत्ति प्राण की हुई थी,
किन्तु प्राण की मित्रता जल से हो गई—
यह युगल ही तब से विश्व की सम्पूर्ण गतिविधि को संभाले है ।
किन्तु प्रथम-जा: इस विश्वपति का जन्म कहां हुआ था ?

देवों के जीवन का आधार भी प्राण ही है—
यही प्राण जो पृथ्वी-पुत्र सा यहां से ऊपर की ओर उठता है !
आवाज तो उसकी सुनाई देती है, किन्तु वह दिखाई कहीं नहीं देता
—जैसे

लुक-छिप खेल रहा हो :
मां से (पृथ्वी से, पृथ्वी के पुतलों से)—लुकछिप खेल रहा हो !

इन कवित्वमय गीतो के निकट कितना ही अधिक भाग ऋग्वेद का यज्ञपरक है, कर्मकाण्डपरक है और उसकी उपयोगिता भी आरम्भ से ही विनियोग के अतिरिक्त और कुछ नही रही। किन्तु कभी-कभी दोनों मे एक स्पष्ट विभाजक-रेखा खीच सकना मुश्किल हो जाता है ऐसे गीतो को हम एक श्रद्धा से भरे हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार मानें या प्रार्थनापरक शब्दो का यूं-ही तोड-मरोड—यह प्राय हमारी अपनी ही रुचि पर निर्भर करता है। इन प्रार्थना-गीतो मे 'वही' शब्दमयता है, प्राय 'वही' तन्त्रात्मकता है—जो कानो को चुभने भी लग जाती है। इन गीतो मे, और तो और, देवताओं मे भी भेद करना मुश्किल हो जाता है क्योकि—देवता सभी, एक-से शक्तिशाली हैं, उनकी एक ही रूप मे स्तुति होनी है, और धन-धान्य पशु, पुत्र आदि के रूप मे वे एक-ही वरदान हमे दे सकते है। कई गीतो मे तो यह यज्ञ-परता इस हद तक जा पहुची है कि—वेद के प्राय सभी देवता एक ही जगह इकट्ठे कर दिए गए है और उन्हे एक ही साथ भुगता भी दिया गया है! उदाहरणत —सोम-सत्र मे हर देवता अपना भाग लेने आता है, और उन्हें— इदम् अग्नये, इद सोमाय, इद न मम—एक ही पेटेन्ट फार्मूले मे बुलाया जाता है! वरुण, इन्द्र तथा अग्नि परक उपरि-उद्धृत गीतो की तुलना मे ऋग्वेद ७ ३५ का यह निदर्शन पर्याप्त होना चाहिए —

इन्द्र और अग्नि,
इन्द्र और वरुण,
इन्द्र और पूषा :
जिन्हें हम यह आहुति दे रहे हैं
—हमें सुख दें, सम्पत्ति दें।

भग और पुरन्धि हमें सम्पत्ति दें।

धाता, धर्ता, और यह फैली पृथ्वी
—हमें सुख दे सम्पत्ति दे।

धरती और आकाश, पहाड़ और नदियां,
और ये देवों के प्रति हमारे उद्गार
—हमें सुख दें, सम्पत्ति दें ।

अग्नि की चमकती चितवन,
मित्र और वरुण,
और अश्वि-युगल—हमें सदा सुखी रखें;
और पुण्यात्माओं सन्तों के कार्य,
और यह चलती फिरती हवा
—हमें सदा सुखी रखे ।

इसी प्रकार के पन्द्रह पद्य विभिन्न देवताओ से सुख और सम्पत्ति मागते-मागते मूक हो जाते है।

इन्ही यज्ञात्मक गीतो के प्रसग मे हम 'आप्री' सूक्तो का उल्लेख करना चाहेंगे—जिनमे कुछ विशिष्ट देवताओ, कुछ दैत्यो, तथा यज्ञ मे सम्बद्ध कुछ वस्तुओ के अधिष्ठातृ प्रतिरूपो को, शान्त करने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद मे ऐसे दस सूक्त मिलते है और पशु-यज्ञो मे उनका विनियोग भी कुछ विशेष हुआ करता था। हर सूक्त मे प्राय ११-१२ पद्य है और हर-एक मे अग्नि की विभिन्न नामो द्वारा स्तुति की गई है कि वह देवताओ को यज्ञभूमि मे ले आए। चतुर्थ पद्य में पुरोहित, ऋत्विक् कुशा का स्मरण करते है कि यहा बैठ कर देवता हवि का आस्वादन कर सके। सूक्त मे कुछेक देव-देवियो की उपेक्षा असम्भव प्रतीत होती है और अन्तिम पद्य मे प्राय यज्ञस्तूप की स्तुति की जाती है कि वह यज्ञाहुति को देवताओं तक पहुचा दे ।

ऋग्वेद का नवा मण्डल, जैसा कि हम ऊपर कह आए है, सारा का सारा ही विनियोगात्मक है—उसके सारे गीत सोम-सत्रो मे, सोम की पूजा मे, प्रयुक्त हुआ करते थे। कई बार तबीयत तग हो आती है कि यह सोम-रस की सम्पूर्ण विधि आखिर है क्या ?—बूटी का वही पीसना, अन्य द्रव्यो को मिलाना, फिर, उसे साफ करना और घडो-प्यालियो मे डालना, इत्यादि-इत्यादि, और—बार-बार इन्द्रको सोमपान के लिए बुलाया जाता है, सोम और इन्द्र की एक साथ स्तुति होती है, और उनसे धन की, वर्षा के लिए प्रार्थना की जाती है। चलनी मे छनता हुआ सोमरस, मानो, वर्षातन्त्र का मूर्त प्रतीक है। इस घिसी-पिसाई पूजा मे एक सुन्दर उपमा या रूपक की अपेक्षा प्राय दूरपेक्षा मे ही परिणत हो जाती है। ९ १६ ६ मे लिखा है —

हे अग्नि—
इस (हमारे बन्धु) के अ-जात भाव पर ही
तेरा अधिकार है;
कहीं अपनी तीव्र ज्वाला से इसे सर्वथा नष्ट न कर देना,
इसे अपना कोई पुण्य-रूप देकर ही,
पुण्यात्माओं के लोक का अधिकारी करना ।

इन सूक्तो मे मृत्यु के पश्चात् जीव की गतिविधि पर प्राचीन अन्धविश्वास तथा दार्शनिकों की अन्तर्दृष्टि का क्षितिज कुछ खुलने लगा प्रतीत होता है । यही एक ऐसा सूक्त नही है जिसमे एक मृतात्मा की विदाई पर अग्नि और पितरो का उल्लेख एक साथ मिलता हो—ऋग्वेद के प्राय बारह सूक्तो मे, 'ससार और मृष्टि' के प्रसग मे, सम्पूर्ण चराचर मे एकीमत किसी सर्वात्मतत्त्व का प्रथम सकेत हमे मिलता है—जो कि सम्पूर्ण (परतर) भारतीय दर्शनशास्त्र का तब से एक अन्तर्यामी सूत्र-सा चला आता है ।

बहुत पहले से ही देवताओ की शक्ति पर, यहा तक कि देवताओं की सत्ता पर, भारतीयो के मन मे सन्देह उठ चुका था । ऊपर ऋग्वेद २ १२ के उद्धरण मे हम देख आए है कि इन्द्र की अद्भुत शक्ति और कारनामो मे दृढ विश्वास के साथ-साथ कुछ लोग यह प्रश्न भी साफ-साफ उठाने लग गए थे कि "दिखाओ हमे—तुम्हारा वह इन्द्र है कहा ?" और वे कहने भी लग गए थे कि, "इन्द्र तो कोई है ही नही !" इसका उत्तर ऋषि सिर्फ यही दे सका था कि, "लोगो, इन्द्र मे विश्वास रखो—कुछ खुदा खौफ करो, बन्दे बनो । यह सब सचमुच इन्द्र की कृतित्व ही है ।" इसी प्रकार के सन्देह ८ १०० ३ मे भी उठाए गए है जहा कहा गया है कि "यह स्तुति इन्द्र का ही अर्पित है **यदि सचमुच कहीं कोई इन्द्र है** ।" किन्तु लोग कहते है कि हमने तो इन्द्र के दर्शन कभी नही किए ! सो, स्वभावत , मन मे यह सन्देह जग उठता है, "तो हम स्तुति करे किसकी ?" ऐन इसी मौके पर इन्द्र स्वय प्रकट होकर अपनी सत्ता और महत्ता का प्रमाण दे देता है "इधर देख—ओ गीत गाने वाले, मै इधर खडा हू, चराचर जगत् की सब शक्तियो से परे और—शक्तिशाली " इत्यादि, इत्यादि ।

किन्तु जब देवाधिदेव इन्द्र के सम्बन्ध मे ही इस प्रकार के सन्देह उठने लगे, तब बहुदेवतावाद के सम्बन्ध मे और इस प्रश्न के सम्बन्ध मे कि 'क्या देवताओ को आहुतिया डालने का कुछ लाभ है भी ?'—सन्देह उठना युक्तियुक्त ही था, स्वाभाविक ही था । ऋग्वेद १० १२१ मे प्रजापति की ही स्तुति सृष्टि के एकमात्र स्रष्टा तथा रक्षिता के रूप मे की गई है, किन्तु प्रत्येक पद्य की टेक एक ही है हम

किस देवता की स्तुति करे, किस देवता को हवि चढाए ?"इस टेक मे कवि का आन्तरिक मशय और निश्चय स्पष्ट अंकित है कि बहुदेवतावाद मे कुछ नही धरा, अगर देवता सचमुच कोई है तो वह एक ही है जिसे स्रष्टा कह लो प्रजापति कह लो— कोई भेद नही आता . हमे उमी की स्तुति करनी चाहिए। ऋग्वेद १० १२९ मे यह सन्देह अपनी चरम सीमा को पहुच गया प्रतीत होता है। इस सूक्त[25] को 'सृष्टि का सूक्त' कहा जाता है। बडे गम्भीर पर्यवेक्षण और चिन्तन के पश्चात् ऋषि का उद्गार है —

सृष्टि के आदि में न भाव था न अभाव था,
न हवा थी, न अन्तरिक्ष था,
न यह ऊपर फैला हुआ आसमान का शामियाना ही था।
तो फिर—यह सब था कहां ?
—क्या किसी अतल सागर में 'अन्तर्गभित' था ?

न मृत्यु थी, न जीवन था, न कोई अमृत नाम की वस्तु थी,
दिन और रात में न कोई तब भेद था,
सब-कुछ—एक-रूप था :
और यह एक-रूप अव्यक्त 'तत्' ही—पता नहीं किस तरह
—हवा के बिना भी तब जिन्दा था !

डरते-डरते ऋषि सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न को कुछ सुलझाने की करता है। वह कल्पना करता है कि सृष्टि के आदि मे सब कुछ एक घना अन्धकार-सा, कुछ गहन-सा, कुछ अतल गम्भीर समुद्र-सा (जिसकी न कोई थाह हो, न कोई पार हो) था। कब तक यह अवस्था रही, नही कहा जा सकता। तपस् की अन्तर्मयी शक्ति द्वारा वह निगूढ 'एक तत्' अकस्मात् प्रकट हो गया ! यह 'एकं तत्' कुछ बुद्धिगम्य किन्तु अदृश्य, अपिण्ड, अन्तर्व्याप्त तत्त्व है जो सदा-विद्यमान रहता है। 'एक तत्' से—(सबसे पहले) मन की उत्पत्ति हुई, और मन से फिर—काम की, प्रेम की, वासना की उत्पत्ति हुई। ऋषियो ने अपने हृदय मे दृष्टि डाल कर मालूम किया कि यह काम ही भाव तथा अभाव का विभाजक 'क्षितिज' है। किन्तु—अभी यह सूक्ष्म सकेत कवि ने दिये ही थे, कि—वही पुराना सन्देह फिर से जाग उठा और, परिणामत , सूक्त की परिसमाप्ति सन्देहविशीर्ण हृदय के इन प्रश्नो मे होती है —

पर—
जानता कौन है ? कौन है जो बता सकता है कि—
यह सृष्टि कहां से उठी, कहां से आई ?

स्वयं देवता भी तो सृष्टि की इस परम्परा में ही कहीं आते हैं;
फिर—है कोई जो इस सृष्टि की समस्या को सुलझा सकता हो ?

कहां से सृष्टि का उदय हुआ ?
इसे कभी किसी ने घड़ा भी या नहीं ?—
सातवें आसमान में बैठा खुदा—जो, कहते हैं, ऊपर से सब देख रहा है—
वही इसके बारे में कुछ जाने तो जाने—
शायद वह भी नहीं—
क्योंकि सातवां आसमान भी तो खुद इस सृष्टि का ही एक अंग है
(सातवें आसमान में बैठा—वह खुदा हो, शैतान हो, इन्सान हो—
इसी सृष्टि-चक्र का ही तो एक अंग है) ।

ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का विषय प्राय विनिश्चित हो चुका है और यह विषय है—'सृष्टि और स्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध की समस्या।' स्रष्टा के लिए वेद में प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, विश्वकर्मा आदि कितने ही नाम है, किन्तु यह देवाधिदेव सदा एक पौरुषेय ईश्वर के रूप में उपवर्णित है, एक कर्त्ता के रूप में हमारे सामने आता है : किन्तु इसके साथ ही साथ, जैसा कि हम उद्धृत सूक्त में ऊपर देख ही आए है, ऋषि को सृष्टि के सर्जन के सम्बन्ध में सन्देह उठ चुका है—अर्थात्, सृष्टि के लिए सम्भवत किसी सर्जनहार की आवश्यकता नहीं, और सृष्टि की इस कर्तृविहीन प्रगति को ही ऋषि ने नाम दिया था—'एक तत्'। इस प्रकार ऋग्वेद के सूक्तों में सम्पूर्ण चराचर की एकात्मता का पूर्वाभास हमें मिल जाता है कि भले ही अन्धविश्वास दुनिया में तरह-तरह के देवताओं की प्रतिष्ठा कर ले, सत्य यह है कि प्रकृति के आंगन में हो रही यह व्यापक लीला उसी एक 'एक तत्' का ही निरन्त विलास है, अनेकता सब माया है, हमारी दृष्टि का ही एक भ्रम है—और कुछ नहीं। ऋग्वेद १ १६४ ४६ में तो स्पष्ट कहा भी है कि —

अरे,
—उसी एक को तो कोई इन्द्र कह लेता है तो कोई मित्र,
कोई वरुण, कोई अग्नि !
और कोई उसकी पूजा आसमान का पंछी (गरुड़) कह कर कर लेता है।

तत्त्व एक ही है,
उसे अग्नि कह लो, यम कहलो, मातरिश्वा कहलो :
—इससे भेद कितना आ जाता है ?

जहां ऐसे दार्शनिक सूक्त उपनिषदो की दार्शनिक प्रवृत्तियों की भूमिका बाधते हैं, वहा ऋग्वेद के कुछ सूक्तो मे महाकाव्य तथा नाटक की अन्तःसंगति का पूर्वाभास भी हमे मिलता है। ऋग्वेद मे ऐसे बीस-एक सम्वादसूक्त है। ओल्डनबर्ग के अनुसार इन्हे आख्यान-सूक्त कहना बेहतर होगा। इनके आधार पर ओल्डनबर्ग ने एक सिद्धान्त की स्थापना भी कर छोडी थी कि भारत के प्राचीनतम महाकाव्यो मे सवाद तो पद्यो मे निबद्ध होता है जब कि उस सवाद का प्रसग गद्य मे भूमिकादि प्रस्तुत किया करता है। शुरू-शुरू मे केवल पद्य ही लोग याद कर लिया करते थे ओर गद्यभाग कथा का कथा-वाचको की बुद्धि पर छोड दिया जाता था जिसका परिणाम यह हुआ कि पद्य भाग तो इन सवादों का आज भी सुरक्षित है किन्तु इन कथाओ के अनुग का हमे कुछ पता नही लग पाता। बहुत थोडी कथाए ही ब्राह्मणो मे, महाकाव्य-साहित्य मे अथवा टीकाओ मे, बच रही है। इस स्थापना का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि, भारतीय साहित्य मे ही नही, विश्व-साहित्य मे महाकाव्य का प्रथम रूप गद्य-पद्य के मिश्रण मे ही मिलता है! उदाहरणत आयरिश ओर स्कैण्डेनेवियन कविता मे यही स्थिति है। ब्राह्मणो तथा उपनिषदो के आख्यान भागो मे, महाभारत के प्राचीन अशो मे, बौद्ध साहित्य मे, कथा एव पशु साहित्य मे, नाटक तथा चम्पू मे—इसके अप्रत्याख्येय प्रमाण मिलते है, यद्यपि—यह भी सच है कि, इनके विपरीत, ऋग्वेद के आख्यानो मे गद्यभाग सर्वथा लुप्त है। ऋग्वेद आमूल पद्यमय है, सो—गद्य वहा अवशिष्ट रहा ही नही।

ओल्डनबर्ग, के इस सिद्धान्त को विद्वान् बहुत देर तक इसी रूप मे मानते रहे; किन्तु—इसका विरोध बिल्कुल न हुआ हो, ऐसी बात भी नही। मैक्समूलर और लेवी न यह सुझाया कि ऋग्वेद के आख्यानसूक्त[१६] सम्भवत मूल मे नाटकीय थे। इसी विचार का एक पल्लवित रूप हर्टल और श्रैडर की यह स्थापना है कि आरम्भ मे ये सूक्त वैदिक कर्मकाण्डो के प्रसग मे खेले गए नाटकादि के अवशेष है। उनका कहना है कि यदि इन सूक्तो के साथ हम कुछ नाटकीय अभिनय जोड सके, वैदिक भाष्य की सारी समस्या ही हल हो जाती है, रही यह समस्या कि किस प्रकार का अभिनय इनमे सगत होगा— इसका अनुमान हम कुछ-न-कुछ स्वय सूक्तो से ही लगा सकते है।

बात दर-असल यह है कि इस प्रकार के आख्यानसूक्त भारतीय साहित्य मे जहा-तहा प्रकीर्ण उपलब्ध होते है—विशेषत महाभारत मे, पुराणो मे तथा बौद्ध साहित्य मे, इस प्रकार के कितने ही उपाख्यान भरे पडे है जो अशत महाकाव्य कहे जा सकते है और अशत कथावस्तु। यह सवाद-साहित्य वस्तुत भारत की प्राचीन वीर-गाथाकाव्य है जिसके उदाहरण हमे अन्य देशो के साहित्य मे भी मिलते है। इन वीर-गाथाओ मे नाटकीय तथा आख्यानतत्त्व का होना यह

सिद्ध करता है कि ये गाथाए महाकाव्य साहित्य तथा नाटकीय साहित्य का मूल स्रोत हैं। आख्यान से महाकाव्य विकसित हुए, तो अभिनय आदि से नाटक। प्राचीन आख्यानों की रचना सर्वथा गद्यात्मक नही हुआ करती थी, कथा की भूमिका और कथा का अन्त, कथाओ का परस्पर-सम्बन्ध—गद्य मे अर्पित होता था। यह भी हो सकता है कि शुरू-शुरू मे कोई छोटी-सी लोककथा इन आख्यानो के प्रसग मे प्रचलित हो किन्तु आज उसका अभाव ही इन संवादो के स्पष्टीकरण मे हमारे लिए सबसे बडी बाधा है। कुछ हो, प्रतीत यही होता है कि ये सूक्त अशत. आख्यानात्मक है और अशत नाटकात्मक—पूर्णत एक-चीज नही।

वैदिक सवाद-सूक्तो मे **पुरूरवस् और उर्वशी** का सूक्त (१० ९५) ऋग्वेद का सम्भवत प्रसिद्धतम आख्यान है। १८ पद्यो मे एक मर्त्य और एक अप्सरा मे परस्पर यह सवाद होता है। चार साल तक उर्वशी पुरूरवस् की पत्नी बनकर इस पृथ्वी पर रही; वह, मा बनने वाली थी कि, महसा सृष्टि की प्रथम उषा की तरह (दिव्य सुन्दरी) एकाएक लुप्त हो गई! पुरूरवस् उसे खोजने निकला और अन्त मे उसने उसे एक सरोवर मे अप्सराओ के साथ खेलते हुए पा भी लिया। सूक्त के शब्द बडे अस्पष्ट है ओर यही कुछ है जो एक परित्यक्त पति ओर एक स्व-तन्त्र पत्नी के बीच हुई उस 'प्राचीन' बातचीत मे हम उन दोनो के परस्पर-सम्बन्ध के विषय मे समझ सके है। सौभाग्य से एक मर्त्य राजा और एक दिव्य कुमारी की यह प्रेमगाथा भारतीय साहित्य मे अन्यत्र भी सुरक्षित है जिसकी सहायता से हम ऋग्वेद की कथा की पूर्ति कुछ हद तक कर सकते है। **शतपथ** ब्राह्मण (११ ५ १) मे यही कथा गद्य मे सुरक्षित है जहा हमे बतलाया गया है कि पुरूरवस् को पत्नी होने से पूर्व उर्वशी ने तीन शर्ते रखी थी—जिनमे पहली शर्त यह थी कि पुरूरवस् उसकी आखो के सामने नगा कभी न आएगा। किन्तु उधर गधर्व अपनी इस अप्सरा को वापिस स्वर्ग मे बुलाना चाहते थे, जिसे सिद्ध करने के लिए उन्होने एक रात एक युक्ति रची उर्वशी सो रही थी, कि उसके दो प्यारे मेमनो को वे चुरा कर भाग गए! उर्वशी को नीद खुल गई और वह रोने लगी कि 'मुझे लूट लिया, मुझे लूट लिया!' उर्वशी को ख्वाब भी न आ सकता था कि आसपास कोई है। पुरूरवस् उसकी चीख सुनकर बिस्तर से कूद पडा और, कपडे पहनना तो देर हो जाती—जैसा था वैसा ही—चोरो के पीछे बेतहाशा भागा! इसी वक्त आकाश मे बिजली कडकी और—उर्वशी के साथ अनहोनी हो कर ही रही! जब पुरूरवस् लौटा, वह वहा नही थी। गम मे पागल राजा जहा-तहा, इधर-उधर, कहा-नही—भटकता रहा और, आखिर, एक दिन एक तालाब के किनारे पहुचा जहा राजहसियो के रूप मे अप्सराए तैर रही थी। सवाद की यह भूमिका है जो शतपथ ब्राह्मण मे, दो-एक व्याख्यानो के साथ, सुरक्षित है। पुरूरवस् की सब मिन्नतें बेकार गई, उर्वशी ने एक न मानी और,

जब निराशा मे उसने आत्महत्या की धमकी तक दे दी कि "मै चट्टान से कूद कर भेडियों की खुराक बन जाऊगा", तब, उर्वशी ने सिर्फ इतना ही कहा कि :—

क्यों मुफ्त में मरते हो—
अपने आप को तबाह करते हो ?
पुरूरवस्,
क्यो व्यर्थ खुद को
भेड़ियों की खुराक बनाते हो ?
जानते भी हो ?—
औरतों का साथ हमेशा के लिए नही रहा करता,
औरतो के दिल मे और भेडियो के दिल मे कोई फर्क नहीं होता।

क्या पुरूरवस् और उर्वशी का मेल हुआ ? और हुआ तो कैसे हुआ ?—इस विषय पर ऋग्वेद और शतपथ, दोनो, मौन है। सम्भवत पुरूरवस् घोर तपस्या करके गन्धर्व बन गया और स्वर्ग मे, इस प्रकार, दोनो का पुर्नमिलन नित्य सिद्ध हो गया। **कृष्ण यजुर्वेद** के **काठक** मे भी इस कथा का सक्षिप्त उल्लेख मिलता है, तथा वेदो से सम्बद्ध दो एक वेदागो[२७] मे भी, **महाभारत** के परिशिष्ट अश **हरिवंश** मे भी, **विष्णुपुराण** मे तथा **कथासरित्सागर** मे भी इसी एक कथा की कितनी ही आवृत्तिया मिलती है। यही कथानक पुन महाकवि कालिदास के अमर नाटक **विक्रमोर्वशीय** का आधार भी रहा है। किन्तु, इस सम्पूर्ण परतर साहित्य के बावजूद, ऋग्वेद के आख्यान मे पर्याप्त अस्पष्टता अब भी तथैव बनी हुई है जिससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद एक ओर और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य दूसरी ओर, दोनो मे—कितना—(वातावरण, भाषा और काल का) अन्तर है।

एक और अश-काव्य उस पुराने जमाने का **यम-यमी** (ऋग्वेद १० १०) के रूप मे मिलता है। इस सवाद की कथावस्तु है सृष्टि के प्रथम युगल से 'मानव जाति की उत्पत्ति'।[२८] यमी भाई के पास आती है और उसे उत्तेजित करती है कि—मानव जाति का सर्वथा विनाश न हो जाए ? किस प्रकार उसकी वासना प्रदीप्त होती गई—वेद के शब्दो मे यथावत् प्रतिबिम्बित है। किन्तु यम उसकी बात नही मानता। शुरू मे मृदुता से, फिर विचारपूर्णता के साथ, और अन्त मे देवो के नित्य-नियमों का हवाला दे कर, वह कहता है कि—एक ही खून मे ये सम्बन्ध नही हुआ करते। यद्यपि सूक्त का बहुत कुछ अश अब भी अस्पष्ट है, आख्यान की स्थिति सचमुच बडी-ही नाटकीय बन पडी है। सूक्त का आरम्भ यमी के इन शब्दो के साथ हुआ है —

मेरे (जीवन साथी)
मं तुम्हारा साथ निभाने—दुनिया के परले छोर तक क्यो-न

मुझ खाक छाननी पड़े
—तुम्हारे ही साथ रहूंगी :
कि—हम भविष्य के लिए कुछ परम्परा तो
प्रवर्तित कर सकें
सुरक्षित रख सकें ।

यम का प्रत्युत्तर है :—

किन्तु तुम्हारे 'साथी' को यह 'साथ' पसन्द नहीं ।
खून का एक होना हमें—इस मामले में—
अजनबी बना देता है ।
और—कुछ तो सोचो
ऊपर टिमटिमाते ये तारे
हमारी सब लीलाओं के, हमारे क्षणिक व्यामोहों के, गवाह हैं—?

किन्तु यमी कहती है कि 'नहीं'—यह इन देवताओं की ही इच्छा है कि हम भाई-बहनों में मानव सन्तान को अविच्छिन्न रखने के लिए 'सम्बन्ध' हो। किन्तु यम के तो जैसे कान ही नहीं, सो—यमी वासना से और भी आसक्त हो उठती है —

यम,
आज पहली बार मुझमें तुम्हारे प्रति यह वासना जगी है,
जिसकी तृप्ति एक रात के सहवास के अतिरिक्त
और किसी भी ढंग से नहीं हो सकती ;
और—आज से हमारा जीवन
रथ के दो पहियों की तरह
गृहस्थ में एकीभूत होने को है ।

यम का उत्तर अब भी 'ना' ही है :—

—उनकी आंखें तो सदा खुली हैं ।
यह पहियों की खेल-कूद, जाओ,
तुम किसी और के साथ निभा सकते हो ।

किन्तु बहन है कि उसकी कामुकता निरन्तर बढ़ती ही जाती है। वह उसे बाहों में भरने को आगे बढ़ती है, यम ठिठक जाता है, और—वह फूट उठती है : "यही है तुम्हारा पुरुषत्व ? नपुंसक कहीं के! या फिर—तुम्हारे अन्दर दिल ही नहीं। मैं तो तुम्हारे दिमाग को भी अब तक समझ न सकी, या फिर—"किसी और के हो चुके हो ?"

आखिर यम इन शब्दो के साथ संवाद को मुद्रित कर देता है —

यमी,
तुमने लता बन कर चिपटना ही है
तो—किसी और 'वृक्ष' से जाकर चिपट सकती हो।
उसीके दिल पर अपने जाल बिछाना
—जो जी में आए, करना;
—मैं मजबूर हूं।

यम-यमी की इस कथा का अन्त किस प्रकार हुआ—हमे कुछ नही मालूम। परतर भारतीय साहित्य मे भी इसका कोई संकेत नही मिलता। इस प्रकार ऋग्वेद मे मूलकथा का यह एक-खण्ड ही शायद बच रहा है, यद्यपि कला की दृष्टि से यह सर्वथा-पूर्ण है।

ऋग्वेद १० ८५ (**सूर्या-सूक्त**) को भी हम ऋग्वेद के आख्यान-काव्य मे गिना सकते है। सूक्त का विषय 'सूर्य की पुत्री सूर्या (उषा) का सोम (चद्रमा) के साथ विवाह' है। दोनो अश्वी-भाई (सूर्या तथा सोम मे) यहा गठबन्धन करवाने वाले 'मध्यम' पुरुष है। सूक्त मे ४७ पद्य है, जिनमे परस्पर सम्बन्ध प्राय कुछ शिथिल प्रतीत होता है। पीछे चल कर, इन पद्यो का, गृह्यसूत्रो के अनुसार, मानवविवाह के प्रकरण मे विनियोग भी होता रहा है। किन्तु हमारे विचार मे इनकी मूल भावना अन्त्येष्टि की भाति किसी सस्कार से सम्बद्ध न थी, क्योकि—अन्यथा सभी मन्त्र (एक प्रकार से) आशीर्वादात्मक और प्रार्थनात्मक ही लगते है। अधिक सम्भव यह है कि सूर्या के विवाह का ही एक आख्यान इनमे प्रस्तुत है, जिसमे कुछ शब्द अश्वियो तथा सूर्या को सम्बोधित करके भी कहे गए है, और उस विवाह के प्रसग मे जहा-तहा दो एक आशीर्वादात्मक मन्त्र भी जड दिए गए है। आश्चर्य तो यह है कि इन मन्त्राशो मे भी कही-कही (यद्यपि इनका अभिप्राय आशीर्वाद देना है) अन्त्येष्टि सस्कार के 'भरे हृदय' की प्रतिध्वनि भी है! दम्पती को सम्बोधित करके कहा गया है —

बेटी, सुखी रहो—फलो फूलो,
तुम्हारे बाल-बच्चे हो;
घर की देख-भाल मे तुम सदा जागरूक रहो,
तुम्हारी उम्र लम्बी हो;
पति को अपना सर्वस्व देने मे कभी झिझकना नहीं।

शादी के बाद डोली उठती है और दर्शको के पास से गुजरती है। दर्शको को सम्बोधित करके कहा गया है —

वधू को आशीर्वाद दीजिए
कि इस का सौभाग्य बना रहे,
और हमें भी—अनुमति दीजिए
कि पूर्णाहुति के साथ यह विधि
अब समाप्त उद्घोषित की जा सके !

पुरानी इन्डो-यूरोपीयन रीति के अनुसार वर वधू का हाथ पकड़ कर कहता है :—

आज मैंने तेरा हाथ संभाला है,
मैं तुझे वचन देता हूं कि बूढ़ा होते तक मैं तुझ पर आंच न आने दूंगा;
स्वयं देवताओं ने, मेरी गृहिणी बनाकर,
तुझे यहां भेजा है ।

गृह-प्रवेश के समय वर-वधू का स्वागत इन शब्दों के साथ होता है —

तुम्हारा कभी वियोग न हो,
दोनों सौ साल जीओ
पुत्रों, पोत्रों की खेल-कूद देखते हुए जीओ
और घर को—खुब-सजाई—फुलवारी को फलता-फूलता देखो ।

और वधू के लिए देवों से आशीर्वाद की याचना की गई है —

हे इन्द्र,
नव-वधू पर कृपा करना
कि उसकी सन्तान और सम्पत्ति में विच्छेद न आए ;
यह दस-दस पुत्रों की मां बने,
और उसी वत्सलता के साथ पति की शुश्रूषा भी आ-जीवन करती रहे ।

किन्तु विवाह के इन आशीर्वादों में कुछ मन्त्र स्पष्ट तन्त्रात्मक हैं। इन मन्त्रों में अभिचारों और जादू-टोनों का जिक्र है—जिनके द्वारा पति को पत्नी बुरी नजर से बचा भी सकती है और, एक ही क्षण में, उसका सम्पूर्ण भविष्य बिगाड़ भी सकती है, साथ ही—भूतों प्रेतों से बचने का उपाय भी यहां निर्दिष्ट है । जादू का जिक्र ऋग्वेद में प्राय तीस अन्य प्रसंगों में भी हुआ है। तरह-तरह की बीमारियों से बचने के लिए, गर्भ-रक्षा के लिए, दुःस्वप्नों और अपशकुनों के प्रभाव को दूर करने के लिए, डाइनों, भूतों को खदेड़ने के लिए, शत्रुओं के नाश के लिए, विष से तथा विषैले जन्तुओं से बचने के लिए—भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं। इन मन्त्रों की सहायता से प्रतिस्पर्धी को तबाह किया जा सकता है। अन्यत्र—पशुओं की वृद्धि के लिए,

युद्ध मे मौत से बचने के लिए, नींद लाने के लिए भी—मन्त्र है। इन्ही अभिचार-सूक्तो मे एक **मण्डूक-सूक्त** है (७ १०३) जिसमे ब्राह्मणो की उपमा मेंढको से दी गई है। ये मेंढक खुश्क मौसम मे ऐसे चुप हो जाते है जैसे ब्राह्मणो ने न-बोलने का व्रत ले लिया हो, लेकिन—बरसात आने पर वे फिर एक दूसरे का स्वागत इस प्रकार करते है जैसे पिता (स्कूल से लौट रहे) पुत्र का। एक टर्राता है और—दूर-दूर मे उसी की आवाज, मानो, प्रतिध्वनित हो उठती है : जैसे शिष्य आचार्य के उपदेश को दोहराने लग जाय! कितनी ही विचित्र ध्वनियां एक नन्हा-सा मेंढक पैदा कर सकता है। यज्ञभूमि पर बैठे पुरोहित —तालाब के किनारे, और वर्षा के समारम्भ पर—वर्षियों से फूले नही समाते, और गीत-आरम्भ कर देते है। सूक्त का अन्त सुख-सम्पत्ति की इस प्रार्थना के साथ हुआ है —

कोई गौ की तरह रंभा-नाद उठाता है,
तो कोई बकरी की तरह मिमियाता है;
कोई भूरा है तो कोई चितकबरा
सचमुच ही—ये मेंढक विचित्र सम्पत्तियों के स्वामी हैं।
क्या वे हमारे सोम-सत्र के रक्षक नहीं बनेंगे,..
—हमें समृद्ध नहीं बनाएंगे ?

—सचमुच बड़ा उपहासास्पद-सा प्रतीत होता है, और चिरकाल तक विद्वान् लोग समझते भी यही रहे कि मण्डूक-सूक्त ब्राह्मणो पर एक फब्ती है, बस।[२९] किन्तु ब्लूमफील्ड ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि सूक्त का मूल प्रयोग वर्षा के आह्वान मे एक 'मन्त्र' था, क्योंकि—पुराने जमाने से भारतीयो म विश्वास रहा है कि मेंढको मे वर्षा का समय निकट लाने की कुछ अद्भुत शक्ति होती है। मेंढको की ब्राह्मणो से तुलना—उपहास से नही, अपितु—प्रशंसाबुद्धि से प्रसूत है। मण्डूक-सूक्त सम्भवत कभी भी एक परिहास नही था। आज हमे भले ही इसमे कुछ मजाक लगे, परन्तु उस जमाने के लोग मेंढको मे कुछ जादुई शक्ति मानते थे। हा, यह अलबत्ता सच हो सकता है कि इन मन्त्रो का मूल कभी, धार्मिक न होकर, लौकिक-वाङ्मय भी रहा हो—वैसे ही जैसे ऋग्वेद ६ ७५ शुरू-शुरू मे **एक युद्धगीत था** किन्तु करते-करते वह युद्ध मे जय-पराजय का 'मन्त्र' बन गया। इस युद्धगीत मे कुछ पद्य बड़े ही उदात्त हैं तथा बड़े ही मूर्त्त चित्र उपस्थित करते है किन्तु, साथ ही, शेष पद्यो मे मन्त्रो की शुष्कता तथा कला-विहीनता छुए भी नां नही सकी। कम-से-कम प्रथम तीन पद्य तो थे ही एक प्राचीन युद्धगीत —

योद्धा के मुखमण्डल को देखो—
कवच पहने, एक काले बादल की तरह, वह
युद्धभूमि के लिए (कितना) उत्सुक है —

. . . . .

जाओ,—अक्षत ही लौटना;
कवच की यह दृढ़ता तुम्हारे पर आंच न आने दे ।।
तुम्हारे धनधान्य का, अभ्युदय, विजय का
मूल स्रोत एक ही है—और वह है यह—तुम्हारी
वीरता का प्रतीक—धनुष !
यह धनुष—जो शत्रु के लिए
दुख और कष्ट लाता है
—वीर की दिग्विजय का प्रतीक भी है, साधन भी ।।
और धनुष की यह डोरी
(जैसे वीर के कान में कुछ कहने को)
—उसे आलिंगन करने को—
बार-बार, (किस तरह) खिंची आती है !
यह डोरी सचमुच वीर की पत्नी है;
—विजय का मन्त्र भी इसे ही फूंकना आता है ।।

ऋग्वेद के ये मन्त्रतन्त्रात्मक सूक्त—अथर्ववेद के सामान्य सूक्तों में कुछ भिन्न प्रतीत नहीं होते : बड़ा अजीब-सा लगता है कि देव-स्तुतियों व कर्मकाण्डों के साथ इन मन्त्रों का संग्रह भी ऋग्वेद में हुआ है और—सो-भी केवल दसवें मण्डल में ही नहीं !

और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धार्मिक गीतों तथा विनियोगों के बीच में जहां-तहां ऐसे (तन्त्रादि) लौकिक विषय भी बिखरे पड़े हैं ! सोम-स्तुति-परक सूक्तों के बीच में नवें मण्डल में ११२वां सूक्त मनुष्यों के काम-धन्धों पर एक खुला मजाक है। हो सकता है—यह सूक्त पहले कभी मजदूरों का एक श्रम-गीत ही रहा हो जिसे काम करते-करते मजदूर लोग अपनी थकान दूर करने के लिए गाया करते थे "**इन्द्रायेन्दो परिस्रव !**" शायद सोम रस निकालते समय लोग यह पंक्ति भी गाते चलते हों। सूक्त इस प्रकार है —

सबका अपना-अपना दिमाग है,
अपने अपने स्वप्न हैं;
और उन्हें पूर्ण करने के लिए अपने-अपने ही ढंग हैं :
ब्राह्मण चाहता है कि कोई यजमान मिले,
बढ़ई चाहता है—कोई चीज टूटे,
हकीम चाहता है—बीमारी बढ़े !
और एक ही सोम है जिसने इतने इन्द्रों की अभिलाषाएं पूर्ण करनी है !

कोई फूलों-फलों की भरी डालियां लाता है
तो कोई सुरखाब के पंख या कीमती पत्थर,
कोई अमर जोत : सब यही चाहते हैं कि सोना मिले !
और 'राजा' एक ही हूं जिसने इतने इन्द्रों की अभिलाषाएं पूर्ण करनी हैं !

मैं गलियों में गा-गा कर—फ़कीरगीरी से—कुछ कमा लाता हूं,
बाप मेरा जख्मों की कुछ मरहम-पट्टी कर लेता है,
मा को चक्की से ही फुरसत नहीं मिलती :
जैसे गौएं जंगल-जंगल की घास खाती—दिन गुजार देती हैं,
वही हाल हमारे परिवार का है ।
पर सोम, जिसने सब किसी की अभिलाषा
पूर्ण करनी है : एक ही है !

घोड़े को, जोश दिखाने के लिए, कोई रास्ता चाहिए;
मन्त्रियों को, वक्त गुजारने के लिए, कुछ—छिनाल के घर की रंगरलियां;
और, वैसे भी, हर मर्द की हवस, फितरत में, एक ही होती है—
जैसी मेढक की पानी के लिए !
लेकिन सोम—जिसने सारी दुनियां की सब ख्वाहिशें पूरी करनी हैं,
(वह बेचारा तो) —एक ही है !

इन लौकिक गीतों में सबसे जानदार गीत शायद '**जुआरी का गीत**' का है : १० ३४ में एक पापात्मा पछता रहा है कि किस प्रकार जुए की इल्लत ने उसकी जिन्दगी का सब सुख-चैन छीन लिया ! कितना करुणापूर्ण है उसका क्रन्दन —

वह बिचारी तो मुझसे कभी लड़ी नहीं थी
—कभी गुस्से तक नहीं हुई थी,
सचमुच सहृदयता की मूर्ति थी वह—
मेरे लिए भी, मेरे मित्रों के लिए भी ।
और मैं कमबख्त—इस जालिम जुए के पंजे में क्या पड़ा
कि—मैंने एक सती को बेघर कर दिया !

और अब हालत यह है :—
सास मुझसे नफरत करती है;
बीबी मुझे तलाक दे चुकी है;
मुसीबत-जदा पर दुनिया में कोई रहम नहीं खाता :
—एक जुआरी की भी (बाजार में) वही कीमत होती है
जो एक बूढ़े, निकम्मे पड़-चुके, घोड़े की !

और जब इन पासों की निगाह फिर जाए,
घर-बार दाव पे चढ़ जाय,
पराये लोग उठ कर जुआरी के सामने ही—
उसकी बीबी के साथ जो जी-चाहे आकर करने लगें, ...[1]
मां, बाप, भाई, बहन—सब—आवाज में आवाज मिलाने लगते हैं :
"हम नहीं जानते—कौन है यह ? पकड़ कर ले जाओ इसे,
और बेहया को जेल में ठूंस दो ।"

पासों की जादू-भरी शक्ति को, कितनी 'सबलता' के साथ पेश किया गया है —

मन में तो दृढ़ निश्चय करता हूं
'अब जाऊंगा नहीं'; और—
पीछे (घर में) रह भी जाता हूं;
लेकिन—उधर पासे पड़ने लगते हैं, शोर कुछ बढ़ता है,
और मैं—एक छिनाल की तरह—अपने पर
काबू नहीं रख पाता :
क्योंकि—
जुए के इन पासों में कुछ आकर्षण है;
लेकिन—इनके इस जादू में भी विष और धोखा है, दर्द है :
बच्चे जैसे आम तौर पर करते हैं —
खिलौना दिखाते हैं लेकिन देते नहीं,
ये पासे भी—फुसलाते जरूर हैं
लेकिन (हाथ में)—पकड़ाते कुछ नहीं !

इन्हें नीचे फेंको, ये झट चित से पट हो जाते हैं;
हाथ-पैर वाले जवां-मर्द को निहत्था कर देते हैं, निकम्मा करते हैं;
अंगारों की तरह चौसर पर पड़ते हैं और—
दिल को खाक करके रख देते हैं
(अगरचे हाथ में जब तलक थे—ठंडे ही लगते थे) !

अजीब बात यह है कि जुआरी अपनी किस्मत का कितना ही रोए, जुए का शिकार वह—बार-बार—बनता ही रहता है —

उधर उसकी परित्यक्ता पत्नी
एक किनारे पड़ी रो रही है,

तो घर मे दूसरी ओर उसकी मां मुंह छुपाए बैठी है;
सिर पर कर्ज है, और उसे दो-आने चाहिएं
—किसी से मांगते वह डरता है
और रात के वक्त ही दूसरो के घर, डरता-डरता, पहुंचता है !

लेकिन औरो के घर—हर घर—
सुखी पत्नी, सुखी परिवार, देख कर
उसका दिल बैठ जाता है ।
...सुबह जिन घोड़ों को दिग्विजय के लिए उसने जोड़ा था,
—साझ-पड़ते तक उनसे हाथ धो कर, अब, वह खाली ही लौट रहा है !

किन्तु अन्त मे वह दृढ निश्चय करता है कि वह अपनी जिन्दगी ही बदल डालेगा। डूबते सूर्य के सामने वह शपथ खाता है कि वह, मेहनत-मुशक्कत करके, खेती-बारी करके, आज से अपने घर की देखभाल मे लगेगा। और, लो—आज से वह जए के बन्धन से मुक्त है !

ऋग्वेद की विषय-वस्तु के प्रसग मे हम अन्त मे दानस्तुतियों को लेते है—जो धार्मिक तथा लौकिक काव्य को जोडने वाली एक कडी है। इस प्रकार के प्राय पचास सूक्तो मे पुरोहित यजमान की स्तुति गाता है। कुछेक दानस्तुतिया वस्तुत इन्द्र की स्तुतिया है, क्योकि—इन्द्र ने इन राजाओं की किसी-न-किसी युद्ध मे सहायता की थी। सम्भवत युद्ध के अनन्तर विजय महोत्सव के क्षण मे ही इन गीतो की रचना हुई हो। गीतो मे विजय का उल्लेख भी मिलता है, देवताओ की स्तुति होती है, और अन्त मे—विजय मे हासिल हुए धन, रत्न-माणिक्य एव पशु-वैभव मे से जिसने उन्हे भी कुछ दिया—(उसी) यजमान की प्रशस्ति के साथ सूक्त समाप्त हो जाता है और, प्रसगात्, (कही-कही) भद्दा मजाक भी दृष्टिगोचर होता है—जैसे बौने, गुलाम (उद्गाता तथा यजमान का) दिल बहलाने के लिए स्टेज पर खीच लाये गये हो !

इन दानस्तुतियो मे कुछ लम्बी-लम्बी प्रशस्तिया भी है जिन्हे, इन्द्र की स्तुति मे, किसी राजा व धनी-मानी पुरुष के कहने पर पुरोहित ने रचा प्रतीत होता है, क्योकि—ये प्रशस्तिया विशेष-विशेष सत्र के अन्त मे गाई जाती थी, प्रशस्ति की समाप्ति पर प्राय दो-चार पद्य स्वय यजमान की दान-वीरता पर भी हुआ करते थे। पुरोहित (अपने) यजमान को भुला कैसे सकता था ? —ऐसा कभी-भी नही हुआ कि दानस्तुतियों मे धर्मप्रिय यजमान को ऐतिहासिक वीरताओ तथा दानकृत्यो का स्मरण न हुआ हो। यही इनका महत्त्व है। काव्य-दृष्टि मे ये गीत निरर्थक है,

क्योंकि—तथाकथित कवि की दृष्टि सदा दक्षिणा पर ही टिकी रहती थी; सो, काव्य-कला उसमे कैसे पनप सकती थी ? दानस्तुतियो के अतिरिक्त, कुछ अन्य गीत भी ऋग्वेद मे ऐसे ही है जिन्हे पैसो के लालच मे की गई तुकबन्दी के अलावा और कुछ नही समझा जा सकता। स्वय कवि अपनी उपमा, कितनी ही बार, एक बढई से देता है। कुछ हो, ऋग्वेद मे ऐसा गीत शायद एक भी नही जो काव्य-दृष्टि से कुछ उदात्त हो और साथ ही दानस्तुति भी हो। इसलिए, ओल्डनबर्ग[११] का यह कहना कि "सामान्यतया वैदिक कविता मे सौन्दर्य की उद्भावना दृष्टिगोचर नही होती और न-ही वैदिक धर्म मे आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कोई दैवी स्तुति ही है ; —ऐसा लगता है जैसे वैदिक कविता और वैदिकधर्म का उद्देश्य धनाभ्युदय, स्वर्गाभ्युदय, और धनिकाभ्युदय के अतिरिक्त और कुछ था ही नही !"—सत्य पर आधारित नही, क्योंकि—ओल्डनबर्ग को यह भूल गया प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के १०२८ सूक्तो मे से केवल ४० सूक्त ही तो दानस्तुति-परक है। हमारा तो विचार है कि, वैदिक सूक्तकारो मे जहा कुछ 'बढई' भी थे, कुछ सच्चे कवि भी अवश्य थे।

ऋग्वेद का एक सूक्त, शब्द के कुछ उदात्त अर्थो मे, दानस्तुति है। १० ११७ मे एक स्तुति '**दानशीलता**' को ही अर्पित है—किसी विशिष्ट दानवीर यजमान को नही, अन्यथा, सपूर्ण ऋग्वेद मे (दैनिक क्रियाकलापो मे कर्तव्याकर्तव्य की) नीति का स्पर्श ढूढे मे भी नही मिलता। ऋग्वेद, और कुछ हो-सो-हो, एक 'नीति-रत्न-माला' कदापि नही है। 'दानस्तुति' -परक वह सूक्त इस प्रकार है—

भूख को देवताओ ने गरीबों को मारने के लिए (ही) नहीं बनाया था;
भरे-पुरे, सम्पन्न, लोग भी तो अक्सर मरते ही है।
सचाई सिर्फ इतनी ही है कि—
एक दानवीर का खजाना कभी खुटता नही,
और यह—कि कंजूस पर कोई दिल से कभी रहम नही खाता।

अगर दुनिया मे कहीं कोई ऐसा आदमी भी है
जो एक हाथ-पसारते, ज़रूरतमन्द, फरियादी के सामने
अपने दिल को कड़ा कर लेता है
(जब कि उसके पास घर मे सब-कुछ है),
—ऐसे शख्स का, वक्त पड़ने पर,
कोई हमदर्द नहीं बनता।

सच्चा दानवीर तो उदार-हृदय-पुरुष होता है जो
पहले राह जाते फकीर की फिक्र करता है

—अपनी भूख को भुला देता है;
—ऐसा आदमी को रोज——नये हमदर्द, नये दोस्त, यू-ही मिल जाते हैं ॥

ऐसे मित्र को तलाक़ दे-दो जो
—तुम्हें घर बुला कर अपनी 'थाली' छुपा लेता है ।
फिर उसकी ओर कभी कदम न करना;
—ऐसे जने से तो अजनबी अनजान ही अच्छे
जो घर-आये अनजान को, देव-वत् मानकर,
सिर-माथे उठा लेते हैं ॥

अमीर को चाहिए कि——
वह गरीब की हमेशा मदद करे :
कौन जानता है कल उसके साथ यही बीत रही हो ?
पैसा क्या है ?——चलते रथ के पहिए हैं,
एक आनी-जानी चीज है ।

मूर्ख लोग जो अपने भरे थाल को ही
सब-कुछ समझे बैठे हैं,
कौन समझाए उन्हें ?——
कि यह रोटी, रोटी नही, उनकी अपनी ही मौत बनकर आई है —जो
पुराने मित्रो को दुत्कारती है और नये मित्र बनने नही देती ! क्योकि——
अकेले मे खाई-गई रोटी विष बन जाती है ॥

जो हल पृथ्वी पर चलता है वह——
धरती मे रोटी, आखिर, निकाल ही लायेगा;
जो कदम थकते नहीं, बीच मे रुकते नहीं, वे
आखिर मजिल पर पहुंच ही जायेगे;
ब्राह्मण विद्या-दान की हवस मे
अपने मौन व्रत तक को भंग कर दिया करते है, और
जिनके पास विद्या-धन नहीं—वे भी
कुछ-तो दे ही सकते है !

दोनों हाथ बराबर कभी नहीं होते;
एक ही मां की जायी दो बछियां बराबर दूध अक्सर नही देती ;
जुड़वां भाइयो की शक्ति और प्रतिभा भी

प्रायः भिन्न-भिन्न ही देखी गई है;
और एक ही सम्पन्न परिवार के दो सदस्य
एक-से दानी भी, उसी प्रकार, प्राय. नहीं होते ।

एक-पैर वाला दो-पैर वालों को मात दे-देता है,
दो-पैर वाला तीन-पैर वालो को;
और चार पैर वाला—दो-पैर वालों की जी-हजूरी करता है . . . .
—यही नहीं, देश-देशान्तर से आये राजा-महराजाओं की सेवा में
—होटल के बैरे की तरह, वह देखो, एक ओर चुपचाप खड़ा
क्या कर रहा है ? !

अन्तिम पद्य मे कवि की युक्ति कुछ समस्यात्मक-सी हो गई है ।

पहेलियां जुझाने का रिवाज प्राचीन साहित्य मे सभी कहीं एक-समान है । ऋग्वेद १ १६४ मे ऐसी कितनी ही पहेलियां प्रस्तुत है जिनमे अधिकांश हमारी समझ से बाहर है । उदाहरण के तौर पर कहा आता है :—

एक-पहिये का एक रथ है—
जिसमे सात (घोड़) जुते हुए है,
किन्तु सच यह है कि उसे एक ही घोड़ा
(सात नामों वाला) आगे खींचता है ।
इस अमर रथ की तीन नाभियां है, और—
इसका पहिया कभी रुकता नहीं
सारा संसार इसी पर सवार है, तीर्थ-यात्री है !

जिसका अर्थ यह हो सकता है कि यज्ञ के सात अधिपति पुरोहित (अपने यज्ञ-बल द्वारा) सूर्यरथ मे युक्त है जिसे सात घोड़े मिलकर—या एक ही (सफ़ेद) सतरंगी घोड़ा— आगे आगे खींच रहा है । इस अमर सूर्य-चक्र की तीन नाभियां है, अर्थात्—वर्ष मे तीन ही मुख्य ऋतुएं (ग्रीष्म वर्षा शरत्) हुआ करती है (जिस पर सम्पूर्ण प्राणिजगत का जीवन आश्रित होता है) । सो, पहेलियां इतनी दुर्बोध भी नही, इतनी दुर्गम नहीं, जितनी कि ऊपर से लगती है ।

किन्तु इन समस्याओं का हल बूझ सकना, अलबत्ता, कुछ मुश्किल है —

तीन माता और तीन पिता का 'जनक'
कोई एक है, जो सीधा खड़ा है—
वह इन छहों का बोझ उठा कर भी थकता नहीं, झुकता नहीं ।
आकाश की पीठ पर चढ़ कर भी,

और उस 'सर्वज्ञ' से सम्पर्क मे आकर भी, ध्यानी—
वाणी की सर्वव्यापकता को समझ नहीं पाते !

जो स्वयं इस अद्भुत-प्राणी का जन-क है, वह भी—
इसके बारे में कुछ नहीं जानता,
जो इसे एक बार प्रत्यक्ष देख भी चुका है
—उससे भी वह ओझल है !
वह 'मां के गर्भ में' जैसे अभी आवरण मे ही, पड़ा है;
उसकी इतनी सन्तान हैं, फिर भी हाल—वही—बुरा है ।

यह आसमान मेरा पिता है
—मेरा जनयिता है, मेरी परम नाभि है ।
यह फैली पृथ्वी ही मेरी मां है,
सोम के दो खुले पात्रो मे जो खाली स्थान है
वही गर्भाशय है, जिसमें हमारा पर-म (जनयिता) पिता—
मानो, अपनी ही पुत्री की देह मे
—बीज-वपन किया करता है !

पहेली मुश्किल है, किन्तु, यहा आकर, उसका सकेत कुछ स्पष्ट हो गया है —

मैंने एक गडरिया देखा
—जो कभी डिगता नही,
(राह में) कभी थकता नहीं ।
भेड़े अलग-अलग दौड़े, या शायद एक ही होकर —साथ-साथ; उसे क्या?
—वह तो
—मानो उन्हीं में लुप्त हुआ, अपनी लाज को ढकता-सा—
लोक-लोकान्तर की परिक्रमा कर रहा है ।
—यह और कोई नहीं,
वर्णिम रश्मियो (के झीने घूंघट) की ओट मे बैठा बाल-शिशु
सूर्य ही है ।

और, इसी प्रकार, यह पहेली भी कोई बहुत मुश्किल नही —

देखा है किसीने मेरा रथ—
जिसके एक पहिया है, तीन नाभि हैं,

और (उस) पहिये के बारह फीते हैं :
तीन-सौ साठ
कीलियों द्वारा इसके अंग-अंग को स्थिर किया गया है !

स्पष्ट ही तीन-सौ साठ दिन, तीन ऋतु, और बारह मास, जिस रथ के अंग है वह—संवत्सर ही यहां अभिप्रेत है।

उस प्राचीन युग में कर्मकाण्ड में कुछ विश्राम, सुख, पाने के लिए इन पहेलियों की लोकप्रियता बहुत होती होगी। इस प्रकार की पहेलियां हम अथर्ववेद और यजुर्वेद में भी पाते हैं।

अन्त में ऋग्वेद की विषयवस्तु पर एक विहंगम-दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। इन उदाहरणों के आधार पर एक बात जो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है वह यह है कि ऋग्वेद में भारतीय काव्य की प्राचीन धाराओं के कुछ खण्ड (घर), कुछ अवशेष, ही संगृहीत हैं कुछ अवशेष ही, क्योंकि—उस विस्तीर्ण, व्यापक धार्मिक तथा लौकिक साहित्य का बड़ा भाग सर्वथा लुप्त हो चुका है (जिसे अब पुनः पा सकने की कोई उम्मीद नजर नहीं आती)। किन्तु इन सूक्तों में मन्त्र अधिकांश यज्ञपरक ही है, क्योंकि—इनका उपयोग यज्ञ के प्रसंग में स्तुति, प्रार्थना के रूप में ही हुआ करता था (जिसका संकेत भी यही प्रतीत होता है कि ऋग्वेद को एक क्रम में बांधने की प्रेरणा शायद भारत के याज्ञिकों को सम्भवतः ऐसे ही गीतों द्वारा मिली हो)। कुछ हो, संग्रह करते समय, अलबत्ता, वेद के सम्पादकों का ध्येय विशुद्ध कविता नहीं था, न ही कोई विशुद्ध धार्मिक दृष्टि थी, सो, संहिता में कुछ लौकिक अंश, (अश्लील अंश) भी है—किन्तु जो सम्भवतः भाषा और छन्द की कसौटी पर उन यज्ञपरक तुकबन्दियों की अपेक्षा कुछ कम प्राचीन न थे और, हां—इन्हें विस्मृति के गर्त में विनष्ट हो जाने से बचाने का एक ही उपाय रह गया था कि इन्हें स्मृतिबद्ध कर लिया जाए और इन्हें स्मरण करने की एक परम्परा ही प्रचलित कर दी जाए। निश्चय ही ऋग्वेद में शुरू-शुरू में ऐसा पर्याप्त अंश था जो अश्लीलता की दृष्टि से सर्वथा हेय था। ऐसे अश्लील भाग का जो कुछ अंश अब बच रहा है वह भी मुख्यतया एक परवर्ती संहिता (अथर्ववेद) की बदौलत ही।

१ Wackernagel *Alt Gram* I, XIII A
२ Oldenberg *Ueber die Liederfassar des Rgveda* (ZDMG, 12), 199 ff, Ludwig *Der Rgveda*, III, XIII and 100 ff.
३ A Bergaigne JA, 1886-7, Barth RHR, 19, 1889, 134 ff, Bloomfield JAOS, 31, 1910, 49 ff
४ Bloomfield JAOS, 21, 1900, 42-49
५ E V Arnold *Vedic Metre*, Cambridge, 1905, Keith and Arnold JRAS, 1906, 484 ff, 116 ff, 197 ff.

६ E. W. Hopkins *The Panjab and the Ṛgveda* (JAOS, 19, 1898, 19-28).
७ Macdonell and Keith: *Vedic Index*, II, 145 ff.
८ होमर की उपमाओ की भांति वैदिक उपमाओ मे समुद्रीय जहाजों का संकेत क्यो नही मिलता ?
९ *Vedische Studien*, I, XXV.
१० Lakshman Sarup *The Nighantu and the Nirukta, Intro.*, Oxford, 1920
११ Cf. H. Brunnhofer (*Ueber des Geist der indische Lyrik*, Leipzig 1882, p. 41) 'ये वैदिक सूक्त प्रभातगीत है ?, पछियो की वह पहली चहचह है ?, या (मानवी) चेतना का प्रथम जागरण है ?"—।'
१२ *Language and its Study*, London, 1876, 227.
१३ *Vedische Studien*, I, XXII, XXVI
१४ Also Hillebrandt *Vedische Mythologie*, II, 8.
१५ Cf. L. de la Vallée Poussin (*Le Vedisme*, Paris, 1909, 61 ff 68); Keith (JRAS, 1909, p. 469).
१६ Hillebrandt *Vedische Mythologie*, II, 14 ff.
१७ E Arbman *Rudra Untersuchungen Zum altindischen Gauben und Kultur*, Uppsala, 1922
१८ Consult Macdonell (*Vedic Mythology*), Oldenberg (*Religion des Veda*), Hillebrandt (*Vedische Mythologie*), Abel Bergaigne (*La Religion Védique d'après les hymnes du Rgveda*)
१९ Oldenburg *Rel des Veda*, 162 ff., Rajvade, Proc. IOC, II, ff
२० *Vedische Mythologie*, II, 4, Oldenberg, *op. cit*, 13. and *Aus Indien und Iran*, 19
२१ 'मरुत =मरने-मारने वाले वीर !
२२ देहान्त पर प्राणी का 'मृण्मय गृह' कब्र के अलावा और क्या हो सकता है।
२३ op *cit*, 57
२४ गृहस्थ के अतिरिक्त अन्य सभी आश्रम—मृत्यु की घडी मे भी—निरग्नि हुआ करते थे। Cf Caland· *Die altindischen Totem und Bestattun'ge gebrauche*, Amstardam, 1896, 163; Roth. ZDMG, 8, 1854, 467ff, Whitney· *Oriental and Linguistic Studies*, N Y, 1873, 5 ff, Schraeder :WZKM, 9, 1895, 112 ff.
२५ Cf H.T Colebrooke *Misc. Essays* (2nd ed., Madras,. 1872), I,33 f; Macdonell *Hist. of Sansk Lit.* 2nd ed., 564, Wallis, *Cosmology of the Rgveda*, 89; Whitney; JAOS, XI, cix, *Allgemeine Geschichte der Philosophie*, I; Scheiman, *Philosophische Hymne aus des Rig, und Atharvaveda-Samhita*
२६ *Le Théatre Indien*, 301 ff, WZKM (18) 19 4, 59 ff; 137 ff, (23), 1909, 273 ff, *Indische Marchen*, Jena, 1921,

344, 367 f, Mysterius und *Mimus in Rigveda*, 1908; Barth RHR, 19, 1889, 130 f Oevres, 11, 15 ff; etc., etc.

२७ *Baudhayana-Śrauta sūtra*, and *Bṛhaddevata*,

२८ A. Winter *Mein Bruder peit um mich* (2 Vv , VII, 1897, 172 ff, Schreder *Mysterium um mimus*, 275 ff, Winternitz WZKM, 23, 1909, 118 f.

२९ Deussen AGPh, 1, 1, 100 ff, Bloomfield, JAOS, 17, 1896, 173 ff, Haug; *Brahma und die Brahmanas*. 12, *Schroeder Mysterium*, 396, Hauer *Die Anfange des Yoga praxis*, 68 ff

३० Doesn't it refer to the Yudhisthira-Draupadi or Nala-Damayanti episode, to wit ?

३१ *Die Literatur des alten Indien*, 20ᶠ

अथर्ववेद[1]

अथर्ववेद का अर्थ है '**अथर्-वाणि**', जादू-टोने। स्वयं 'अथर्वन्' का मौलिक अर्थ था—अग्नि-उद्बोधन करने वाला पुरोहित; जिससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का प्रचलन बडे पुराने समय से, सम्भवत इण्डो-ईरानियन युग से, होता आ रहा है। **अवस्ता** के अग्नि-पूजक भारतीय साहित्य के ये अथर्वा ही प्रतीत होते हैं। अग्नि-पूजा का प्राचीन भारतीयो के दैनिक जीवन मे भी वही महत्त्व था जो कि, उधर, पारसियो मे था, इन अग्नि-पूजको[2] को उत्तरी एशिया मे 'शमन' कहते थे और अमेरिकन इण्डियन्स मे इनकी प्रतिष्ठा कविराज या 'जादू के पुरोहित' करके थी। मीडिया मे इन अथर्वाओ के लिए जो शब्द('मागी') इस्तेमाल होता था उससे भी यही प्रतीत होता है कि जादूगर और पुरोहित—दोनो का ही भाव 'अथर्वन्' की व्युत्पत्ति मे समाविष्ट है: अर्थात् अथर्वाणि का अर्थ, मूल मे, अथर्वा के (जादू के पुरोहित के) मन्त्र-तन्त्र ही था।

किन्तु अथर्ववेद का पुराना नाम **अथर्वाङ्गिरस** है जिसमे 'अगिरस्' शब्द का अर्थ भी 'जादू-टोने' ही है। प्रतीत ऐसा होता है कि अथर्वाणि और अगिरासि मे अभीष्ट भावना आशीर्वाद और अभिशाप—जादू के दो भिन्न तथा विपरीत पार्श्वों की थी, क्योंकि अथर्वाणि मे जहा बीमारी आदि दूर करने के लिए गुप्त शक्ति है तो अगिरासि मे शत्रुओ, प्रतिस्पर्धियो के विरुद्ध शाप देने की क्षमता है और यही दोनो अग अथर्ववेद की प्राय 'समस्त विषयवस्तु' है। अथर्ववेद इस प्रकार अथर्वागिरस का सक्षेप प्रतीत होता है। अथर्ववेद की जो शाखा (शौनक)[3] हमे पर्याप्त सुरक्षित मिलती है उसमे ७३१ सूक्त तथा छ. हजार मन्त्र है; सम्पूर्ण सहिता २० अध्यायो मे विभक्त है। इनमे २०वा अध्याय बहुत पीछे जोडा गया (और कभी १९वा अध्याय भी पुस्तक का अंग नही था) बीसवे अध्याय के प्राय. सभी मन्त्र ऋग्वेद मे मिल जाते है; ऋग्वेद का प्राय ⅙ आज अथर्ववेद का अग है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे सामान्य रूप मे पाये जाने वाले मन्त्रो का अधिकाश ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे उपलभ्य है। कुछ ही मन्त्र आठवे या पहले मण्डल मे मिलते है। १८वे अध्याय का क्रम-प्रस्ताव किसी निश्चित योजना के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। प्रथम सात अध्यायो मे छोटे-छोटे सूक्त सकलित है, यथा प्रथम अध्याय मे ४ मन्त्रो के सूक्त, द्वितीय मे ५ के, तृतीय मे ६ के, और चतुर्थ मे ७ के। ५वे अध्याय मे ८ से ले कर १८ मन्त्रो तक के सूक्त मिलते है, छठे अध्याय मे तीन मन्त्रो वाले १४२ सूक्त है और सप्तम अध्याय मे ११८ सूक्त जो प्राय. दो मन्त्रो

वाले ही हैं। अध्याय ८-१४, तथा १७-१८ मे लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जिनमें २१मन्त्रों का एक सूक्त अध्याय के आरम्भ मे ही प्रस्तुत है। अध्याय १५, और प्राय. अध्याय १६ भी, इस शृंखला को भग कर देता है। इन सूक्तो की भाषा भी, और शैली भी, सर्वथा ब्राह्मण-ग्रन्थो की भाषा और शैली ही है और—गद्यात्मक है!

यह है अथर्ववेद का बहिरग रूप, अर्थात्—पद्यों की सख्याओ के अनुसार विभाजन-योजना। इसके साथ ही साथ एक-ही-विषय परक होने से दो, तीन, चार या इससे भी ज्यादह सूक्त, प्राय, क्वचित्— एक साथ ही निबद्ध कर दिए गए है। अध्याय का प्रथम सूक्त, अध्याय के विषय के अनुसार, अध्याय के शुरू मे दे दिया गया है, इसी आधार पर अध्याय २, ४, ५, ७ का आरम्भ परमात्म-विषयक जिज्ञासा के साथ होता है। ऐसा होना साभिप्राय भी है, उपसहार के तौर पर यह कहा जा सकता है कि सहिता का प्रथम भाग (अध्याय १-७) छोटे छोटे विविध गीतो का सग्रह है जबकि तृतीय भाग (अध्याय १३-१८) मे अपना-ही कुछ विनिश्चित क्रम है : उदाहरणतया—१४ वे अध्याय मे विवाह का प्रकरण है, तो १८ वे का विषय है—अन्त्येष्टि।

भाषा और छन्द (मूल अर्थों मे) ऋग्वेद के ही भाषा-प्रकार और छन्दो की प्रतिच्छाया है, यद्यपि अथर्ववेद मे परतर रूपो का प्रयोग भी हुआ है (यहा छन्द के विषय मे स्वतन्त्रता भी (बरती जा सकती) है। अध्याय १५ सम्पूर्ण गद्यात्मक है; और अध्याय १६ (जिसका अधिकाश गद्य मे है) मे, कुछेक अन्य स्थलो की भाति, गद्य-स्पर्श मिलता है, और अक्सर यह भेद करना ही मुश्किल हो जाता है कि एक उदात्त गद्य मे तथा एक सामान्य छन्द मे विभाजक रेखा क्या हो सकती है। प्रक्षेप (अर्थात् वस्तु को बिगाडने) की प्रवृत्ति ने मूल-पाठ को बिगाड़ने मे कोई कसर नही छोडी प्रतीत होती। भाषा तथा छन्द के आधार पर भी हम कह सकते है कि वेदो का रूप अब वही नही रहा। वैसे, सामान्यत भाषा तथा छन्द के आधार पर, सूक्तो के कर्तृत्व का प्रश्न काल-दृष्टि से हल नही हो सकता; सम्पूर्ण सहिता की तिथि तो अभी दूर की वस्तु है, क्योकि—यह प्रश्न तब भी सदा बना ही रहता है, सदा बना ही रहेगा। भाषा और छन्द विषयक स्वतन्त्रता जो ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे कुछ अन्तर कुछ भेद, दिखला सकती है, हो सकता है वह—युगदृष्टि से अथवा पुरोहित तथा जनता की अभिरुचि की दृष्टि से—वेद की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता सिद्ध करने मे अपर्याप्त ही रहे।

लेकिन, फिर भी, अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद के अनन्तर ग्रथित हुआ। इसका सर्वप्रथम आधार अथर्ववेद की भौगोलिक स्थिति है, क्योकि—वैदिक आर्य लोग अब दक्षिण-पूर्व की ओर गगा के क्षेत्र तक पहुच चुके हैं। ऋग्वेद मे चीते और शेर का कही जिक्र नही, जब कि—अथर्व मे दोनो एक विभीषिका बन चुके हैं।

राज्याभिषेक-संस्कार में चीते की खाल राजकीय शक्ति का प्रतीक है। अथर्ववेद मे ब्राह्मणादि चार वर्णो का स्पष्ट परिचय तो मिलता ही है, साथ ही—ब्राह्मणों के विशिष्टाधिकार भी विशद हो चुके है ; यही नही, ब्राह्मणों और पुरोहितों के लिए एक नई सज्ञा 'भू-देव' का प्रवर्त्तन भी हो चुका है। अथर्ववेद के अभिचार-मन्त्रो का—जो इतने लोकप्रिय तथा प्राचीन थे—ब्राह्मणो के हाथो मे पर्याप्त रूपान्तर हो चुका है। इन जादू-टोनो के मूल लेखको के विषय मे हमे कुछ नही पता, क्योंकि—यही मन्त्र अनुवाद रूप मे हमे अन्य जातियो मे मिलते है और वहा भी उनकी लोकप्रियता, उनका जादू, वही है। किन्तु, अथर्ववेद तक पहुचते-पहुचते, ब्राह्मणो के हाथो उन पर पुरोहिताई का मुलम्मा चढ चुका है। अथर्ववेद के सम्पादको का दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न है, क्योकि—खेती-बाडी को नष्ट करने वाले कीडे-मकौडो पर, क्षुद्र-जन्तुओ पर, जादू वारा गया है कि वो गन्दुम को छुए नही (जैसे ब्राह्मण यज्ञभोग को हाथ नही लगाया करते!)। अथर्ववेद के सूक्तो का एक विशिष्टाग ब्राह्मणो के विषय मे ही है कि ब्राह्मणो का आतिथ्य किस प्रकार किया जाय—उनका यज्ञशुल्क क्या हो, इत्यादि-इत्यादि। निस्सन्देह—इन मन्त्रो का ऋषि कोई ब्राह्मणेतर होना असम्भव है।

पुराने जादुओ, व 'मन्त्रो' पर ब्राह्मणो की मुहर के अतिरिक्त, अथर्ववेद के देवताओ का स्वरूप भी स्वय उस वेद की अर्वाचीनता सिद्ध कर देता है। देवता तो वही अग्नि, इन्द्र, वरुण हैं, किन्तु उनकी वे पुरानी विशिष्टताए प्राय मद्धिम पड़ चुकी है, उनमे परस्पर भेद अब कोई-बहुत नही रह गया, और उनका मूल (प्राकृतिक) स्वरूप, अथवा अर्थ, भी प्राय विस्मृत हो चुका है, : अथर्ववेद के मन्त्र उनकी स्तुति-उपासना—विशेषत—भूतो, प्रेतो, बीमारियो को भगाने व नष्ट करने के लिए ही करते है! इन सबके अतिरिक्त, अथर्ववेद मे अध्यात्म तथा सृष्टि-विषयक प्रसगो का आधिक्य भी इसी दिशा मे सकेत करता प्रतीत होता है। इन सूक्तों मे दार्शनिक परिभाषा बहुत-कुछ निश्चित हो चुकी है और सूक्तो का सर्वात्मवाद उपनिषदो के सर्वात्मवाद के समकक्ष-सा आ गया है। किन्तु इन्ही उदात्त सूक्तो का प्रयोग एक जादू की छडी की तरह हो, और 'असत्' आदि दार्शनिक कल्पनाओ की उपयोगिता भी (४ १९ ६) शत्रुओ, दैत्यो, प्रेतो के नष्ट करने मे ही परिसमाप्त हो जाय—यह सब यही सिद्ध करता है कि जादू-टोने की दृष्टि ने हर चीज को 'कृत्रिमता' से अभिभूत कर दिया है।

किन्तु इस बात से कोई यह निष्कर्ष न निकाल ले कि अथर्ववेद कुछ कम प्राचीन है (यद्यपि स्वय भारतीयो ने इसे वेद के रूप मे बहुत ही पीछे स्वीकार किया था)। इसका कुछ कारण तो स्वयं अथर्ववेद की विषय-वस्तु ही है : स्वयं भारतीयों के

अनुसार अथर्ववेद का विषय है—उपशमन, वर-याचना तथा अभिशाप। अर्थात्, क्योंकि इन जादू-मन्त्रों का अधिकांश अभिचार एवं शाप परक ही है, ब्राह्मण और ब्राह्मण-धर्म ही इसके विरुद्ध थे—जैसे यह कोई अपवित्र वस्तु हो जिसे छूने से ही पाप लगता हो। वैसे ही, जादू में और कर्मकाण्ड में कोई बहुत भेद हुआ नहीं करता, क्योंकि—दोनों की उपयोगिता परलोक से कुछ सिद्धि प्राप्त करने में ही समझी जाती है। और पुरोहित तथा जादूगर—दोनों की निष्ठा, दोनों की गतिविधि प्राय: एक-सी ही होती है। लेकिन, हर जाति के इतिहास में एक समय ऐसा आता है जब देवपूजा और इन्द्रजाल परस्पर पृथक् होने लगते हैं, पुरोहित जादूगर के खिलाफ आवाज बुलन्द करता है और भूत-प्रेतों की पोप-लीला के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। यही स्थिति भारत में भी आई। बौद्धों और जैनों में ही नहीं, ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में भी इन्द्रजाल को तथा अभिचार-क्रिया को एक पाप ठहराया गया है और जादूगरों की गणना उचक्कों, डाकुओं और धोखेबाजों में करते हुए राजा को आदेश है कि वह उन्हें उचित दण्ड दे। यह भी ठीक है कि इन्हीं धर्मग्रन्थों में कुछ ऐसे स्थल (मनु ११ ३३) भी हैं जहां शत्रुओं के विरुद्ध अभिचार-तन्त्र प्रयोग में लाने का विनिश्चित आदेश है, और इन कर्मकाण्डों में महायज्ञों के प्रसंग में—जगह-जगह ऐसे मन्त्र, ऐसे रहस्यात्मक प्रयोग, मिलते हैं जिन्हें क्रियान्वित पुरोहित "जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसे" नष्ट करने के लिए करता है। कुछ हो, स्वयं ब्राह्मणों में ही जादू-टोने का एक 'वेद' मानना कुछ मुश्किल हो गया। उनकी बुद्धि ठिठक गई, और वे इसे अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में स्थान देने को तैयार न हुए। सो, शुरू में ही अथर्ववेद की स्थिति कुछ अजीब-सी रही है। प्राचीन वेदशास्त्र को 'त्रयी' विद्या कहने की प्रथा है। अथर्ववेद का परि-गणन कई बार तो बिल्कुल होता ही नहीं और जब होता भी है तो हमेशा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का एक साथ नाम ले कर उसके बाद होता है। हैरानी तो यह है कि वेदों के साथ वेदांगों को, इतिहास, पुराण को भी पवित्र माना गया है, किन्तु अथर्ववेद का जिक्र तक (ऐसे स्थानों में) नहीं हुआ। शाङ्खायन गृह्यसूत्रों (१. २४ ८) में जात-कर्म संस्कार के अवसर पर नवजात में 'वेदाधान' करते हुए प्रक्रिया इस प्रकार है "हम तुझमें ऋग्वेद का आधान करते हैं, यजुर्वेद का आधान करते हैं, सामवेद का आधान करते हैं। वाकोवाक्य, आख्यानोपाख्यान, इतिहास, पुराण, ज्ञान-विज्ञान का तुझमें आधान करते हैं।"—यहां भी अथर्ववेद का नाम तक नहीं आया। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में भी ब्राह्मणों में श्रेष्ठ को त्रैविद् ही कहा गया है, किन्तु कृष्ण-यजुर्वेद की एक संहिता (तैत्ति० ७ ५ ११ २) में—तथा प्राचीन ब्राह्मणों और उपनिषदों में—अथर्ववेद का स्पष्ट उल्लेख हम (प्रथमबार) शेष तीनों वेदों के समकक्ष ही

हुआ पाते है; तब—उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह रह ही नही जाता ।

हा, एक बात हम निश्चय से कह सकते है वह यह कि—अथर्ववेद का जो रूप हमे आज मिलता है वह निरसन्देह ऋग्वेद का समकालीन नही, यद्यपि उसका विषय कुछ अशो मे शायद ऋग्वेद मे भी प्राचीनतर हो। इस प्रकार, सम्भवत. स्वय अथर्व-वेद का अर्वाचीन अश ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्तो से परतर हो अर्थात्—यदि कुछ अश अथर्ववेद का ऋग्वेद के अधिकाश से परतर है तो कुछ, समकालीन ही नही, पूर्वतर भी हो सकता है: और इसीलिए—अथर्ववेद के कितने ही प्रसग ऋग्वेद के प्राचीन यज्ञ-प्रसगो की भाति धुधले है, दुर्बोध है—क्योकि वे एक भूले-हुए जमाने की याद है। जिस प्रकार ऋग्वेद मे कोई एक विशिष्ट युग ही प्रतिबिम्बित नही है, अथर्ववेद के नये और पुराने अशो मे भी सदियो का अन्तर है; अथर्ववेद के पिछले हिस्से तो जैसे ऋग्वेद के सूक्तो के नमूने पर ही लिखे गये लगते है। हमे ओल्डन-बर्ग (**लितरेतुर दास आल्तेन इण्डिएन**, ४१) का यह विचार—निरपवादवत्-प्रस्तुत रूप मे—कुछ जचा नही कि भारत मे प्राचीन मन्त्रो का आदि रूप गद्यात्मक था जिसे पीछे चलकर ऋग्वेद के यज्ञ-मन्त्रो के अनुकरण पर पद्यमय कर दिया गया।

बात यह है कि यदि ऋग्वेद की सूक्तिया और अथर्ववेद के मन्त्र, दोनो ही, स्वाभाविक उच्छ्वास है, तो—दोनो उच्छ्वासो मे आसमान-पाताल का अन्तर है, दोनो की दुनिया ही, कुछ और है, दोनो का वातावरण ही कुछ और है ऐसा क्यो? एक ओर—आकाश के महान् देवता है, प्रकृति की महती शक्तिया है जिन्हे ऋग्वेद का उद्गाता स्तुति, आहुति, प्रार्थना अर्पित करता है (क्योकि वह उसके लौकिक जीवन मे कुछ रग, कुछ उदात्तता भर देती है), तो दूसरी ओर—अथर्ववेद के ऋषि का क्षेत्र अन्धकार, बीमारी, फूटी किस्मत, जादू, भूत-प्रेत आदि के अभिशाप है जिन्हे शान्त करने मे ही वह दत्तचित्त है। ये जादू के मन्त्र, गीत और तन्त्र प्राय ससार मे सभी-कही, एक ही रूप मे पाये जाते है—क्योकि मानव मन सूलत एक-रूप ही है। उत्तरी अमेरिका के रेड-इण्डियनो, मे अफीका के हब्शियो मे, मलय तथा मगोलिया मे, पुराने जमाने के यूनानियो और रोमनो मे, और अक्सर आजकल के यूरोपियन किसानो मे भी, वही विचार-बल, वही अन्धविश्वास,(ऐसे) मन्त्रो की अद्भुत शक्तियो मे दृष्टिगोचर होता है। यही बात है कि अथर्ववेद के मन्त्राशो मे, विषय और विषय-प्रस्ताव दोनो-ही दृष्टियो से अमेरिकन-इण्डियन्स और तातार, शमन, और मर्सबर्ग के जादूगरो मे—वही साम्य हम आज भी प्रत्यक्ष देखते हैं। पुरानी जर्मन कविता के अवशेषो मे बाल्डेर के घोडे की जब टाग टूटती है तो सयाना वोडेन जपता है :—

हड्डी के साथ हड्डी
खून में खून,
हर अंग—
जैसे हर दूसरे अंग के साथ जुड़ा हुआ हो।

इसमें और अथर्ववेद ४ १२ मे (टटी टाग को ठीक करने के प्रसग मे) क्या भेद है ?:—

तेरी मज्जा मज्जा से मिल जाए,
टूटा अंग अपने टूटे हिस्से से मिल जाए,
और इस तरह—तेरा मांस और तेरी हड्डियां,
फिर से जुड़ जाएं।

जब मज्जा एकरूप हो जाय
तो चमड़ी, सेहत में आकर, उसे ऊपर से ढक दे:
तेरे खून में, तेरी हड्डी में, तेरे मांस में
—नई जिन्दगी आ जाए।

यह बूटी तेरे टूटे हिस्सों को जोड़ दे
उन पर चमड़ी का आ-वसन डाल दे,
और उस में से तेरे बाल, फिर से, उसी तरह
उगने लगें।

अथर्ववेद सहिता का वास्तविक महत्त्व इस मे है कि अभी लोकप्रिय धर्म, साधारण जन-धर्म—ब्राह्मणो की पोप-लीला से अस्पृष्ट है। इस जनधर्म के अग भूत-प्रेत, दैत्य, चाण्डाल, चुडैल और जादू—मानवजाति के क्रमिक विकिरण को कहानी बखूबी बता सकते है। एक ऐतिहासिक के लिए अथर्ववेद का महत्त्व क्या है—यह अथर्ववेद की विषय-सूची पर एक विहगम दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।

अथर्ववेद के मुख्य अगो मे एक **'भैषजानि'** —अर्थात् बीमारियो का इलाज करने के मन्त्र-तन्त्र है। इन मन्त्रो के सम्बोध्य या तो स्वय रोग है या फिर उन रोगो को लाने वाले अधिष्ठाता कोई दैत्य (कृमि ?)। भारत मे भी, पुराने समय से, यह विश्वास चला आता है कि बीमारिया कुछ खास दैत्यो की बदौलत ही बीमार पर आया करती है। कुछ गीतो मे, अलबत्ता, आयुर्वेदिक ओषधियो की स्तुति भी गाई गई है, जबकि कुछ अन्य प्रार्थनाओं मे अग्नि और जल का आह्वान रोग-निवारण के लिए किया गया है। भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का यह प्राचीनतम रूप है जब कि इन मन्त्रो मे, और इन मन्त्रो के साथ जुटे कर्मकाण्ड मे, कुछ शक्ति

मानी जाती थी। हमारे इस निष्कर्ष का साक्षी स्वय **कौशिक सूत्र** है। लेकिन तमाशा यह है कि भिन्न-भिन्न बीमारियो के चिह्न इन गीतो मे इतने स्पष्ट दिए गए हैं कि उनके रोग-शास्त्र का एक अंग होने मे सन्देह रह ही नही जाता। यह बात खास तौर पर बुखार के बारे मे लागू होती है। बुखार को रोगो का राजा कहा गया है (क्योकि इसी से आम तौर पर हमे वास्ता पडता है और यह बड़ा जलील भी होता है)। कितने ही मन्त्र अथर्ववेद मे **तक्मा** को सम्बोधित कर कहे गए है; अथर्ववेद ५ २२ मे **बुखार** के इस दैत्य की कल्पना इन शब्दो मे की गई है :—

क्यों तुम एक आग की तरह आते हो,
और लोगो का खून चूस कर—
उन्हें कमजोर कर देते हो ?

जाओ, तुममें अब कोई ताकत बाकी न रहे—
पाताल म जाकर अपना मुंह छिपाओ।
मन्त्र की महाशक्ति से मं आज
ज्वर को
पाताल खदेड़ता हूं।
रोगी के शरीर पर कोई दाग, कोई तमक-लाली,
बाकी न रहे।
जाओ, तुम मूजवान् पर जा बसो,
वाह्लिकों में अपना डेरा बसा लो,
या—किसी शूद्र लड़की को अपना लो !

पर यह क्या ?—'मरीज सर्दी से कांप रहा है !
खांसी जरा चैन नहीं लेने देती,
और उसे शिकायत है कि—
अन्दर (बाहर, सभी जगह) आग ही आग लग रही है !'
कितने भयानक तौर हैं बुखार के ?—
खांसी, दमा और फुंसियां—बुखार के ये भाई-बहन,
ये भाई-बन्द—जाकर हमारे दुश्मनों में क्यो नहीं रहते ?

दूसरे लोगो मे, दूसरे देशो मे, भी बीमारी को खदेडने की प्रार्थना जैसे (अथर्ववेद-वत्) एक धर्मकृत्य ही है ! **खांसी** को भगाने के लिए भी उसी तरह की एक प्रार्थना अथर्व ६ १०५ मे मिलती है इच्छाशक्ति कहा से कहा पहुच सकती है—कहा नही पहुच सकती ? :—

एक तीर भी, हम देखते हैं—क्षण में ही—
बीच के अन्तर को लांघ जाता है,
सूर्य की एक किरण लोक-लोकान्तर में व्याप जाती है;
तो क्या उसी प्रकार यह मेरी खांसी
पृथ्वी को—पृथ्वी की समुद्र-परिखा को—
लांघ कर किसी और लोक को अपना आवास नहीं बना सकती ?

कई बार तो इन वर्णनों की चित्रमयता, भाषा की स्वच्छता, इतनी उठ आती है कि वे एक गीतिकाव्य-सा प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु इस काव्य-स्पर्श से हम कहीं बहक न जाएं : हमारे लिए एकाध सुन्दर उपमा ही पर्याप्त होनी चाहिए कहीं हम और अधिक आशा न कर बैठें ! अथर्व १ १७ में जलपी का खून बन्द होने में नहीं आता, तब —

रक्त की वाहिनी ये नाड़ियां
अब क्षीण हो चुकी हैं—
—जैसे किसी कुआरी बहन का
भाई न रह गया हो।
ऐ—शरीर के ऊपर के हिस्से में,
निचले हिस्से में, और बीच के हिस्से में, बहने वाली शिराओं,—
और, हे रक्त के समुद्र—हृदय, तुम भी
क्षण भर के लिए शान्त हो जाओ—
—वैसे ही, जैसे समुद्र के विपुल प्रवाह
चारों ओर रेत ही रेत पाकर स्वयं शान्त हो जाया करता है।

किन्तु यह कविता का स्पर्श निरन्तरित नहीं मिलता। आम तौर पर तो इसमें शब्दों, वाक्यांशों, वाक्यों, विचारों की इतनी पुनरुक्ति होती है कि सुनने को जी नहीं चाहता, और (जादू का अंश होने से) इनके अर्थ को जानबूझ कर अस्पष्ट रखा गया प्रतीत होता है। अथर्व ६ २५ में एक छालों से भरी देह है —

गर्दन के आसपास के ये पचास या पचास से भी ज्यादह छाले
—ये अधपके उबाल—गुजर जाएंगे।
ये सत्तर हैं शायद; या—सत्तर से भी अधिक हैं ?
नब्बे हैं, या उससे भी अधिक ?
—कितने ही हों,
गुजर जाएंगे।

जर्मनी मे भी (सभ्यता की दृष्टि से पिछडे प्रान्तो मे) ५५, ७७, ९९ किस्म की बीमारियो का जिक्र हम आज भी पाते है :—

मसीहा का यह पानी और यह खून,
जिस्म की तमाम—सत्तर—बीमारियो के लिए अमृत है।

इसके अतिरिक्त, भारतीयो मे ही नही, जर्मन लोगों मे ही नही, कितने ही अन्यान्य देशों मे—बीमारिया कीड़ों से उत्पन्न हुआ करती है . यह विश्वास भी प्राय एक-सा ही मिलता है। सो, इन मन्त्रो मे प्राय इन कीडो को डुराने का भी जिक्र (अथर्व २. ३१) दृष्टिगोचर होता है.—

आंतों में, सिर मे, पसलियो मे,
—जहां कहीं, भी कीड़े है : हम उन्हें
इस मन्त्र के जरिये चकनाचूर कर देंगे।
पहाड़ों पर, जंगलों में, पौधों मे, पशुओं में, नदियों में,
कीड़े जहां भी हो,
हम उनका नाम न रहने देंगे :
—वे हमारे ही जिस्म मे आकर क्यों रहे ?

यही नही, इन कीडो के भयानक रूप होते है इनका भी सरदार होता है, गवर्नर होता है। इनके भी नर और मादा भेद होते है। ये रग-बिरगे होते है और इनकी शक्ल भी बडी अजीब होती है। बच्चो की बीमारियो के अधिष्ठाता ये कीडे कितने भौडे हो सकते है—इसकी कल्पना का एक नमूना अथर्ववेद ५ ३२ मे इस प्रकार मिलता है —

उसकी देह के सारे कीडो को मार दो :
हे इन्द्र, तू ही इस मेरी धरोहर का रक्षक है।
मेरे शाप द्वारा सब दानवो शक्तियां क्षीण हो चुकी है ;
—आंखो में, नाक में, दांतों में, जहां भी कहीं कीड़े हों,
हमारा यह ब्रह्मास्त्र हर-कहीं पहुंच जाता है !
दो कीडे—एक रंग के है तो, विभिन्न रंगों के है तो,
—काले, लाल, भूरे, कोयल की शक्ल के, गीध की शक्ल के—
—बचकर कोई भी नहीं जा सकता !
रंग-बिरंगे ये कीड़े, सफेद-काले कन्धो वाले,
किस तरह लड़खड़ा रहे है ।
कीट-राष्ट्र का अधिपति, और अधिपति का सामन्त,
दोनों ही अब जिन्दा रहीं रहे ।

सम्पूर्ण राज-परिवार ही अब नाम-शेष हो चुका है,
उसका अन्तःपुर, उसके मित्र, उसके नन्हें बच्चे
. .स्त्री-पुरुष—सब—मर गए !
हमने उनके सिर फोड़ डाले,
और अब—
उन्हें अग्निसात् करते है ।

बिलकुल इसी तरह के शब्द नर और मादा को खत्म करने के लिए, कि उनकी सन्तान आगे चल ही न सके, उधर पश्चिम मे (जर्मन लोक-कविता मे) भी मिलते है । दात-दर्द पर एक लोकगीत है —

ऐ नाशपाती,
मुझे तुझसे शिकायत है
कि तू ने अब तक मेरे त्रि:शूल को—
—मेरा खून चूसने वाले
भूरे, नीले, और लाल कीड़ों को—
(अब तक) मारा क्यों नहीं, खत्म क्यों नहीं कर डाला ?

विशेषत. पिशाचो और राक्षसो के विरुद्ध तो अथर्ववेद, जैसे लट्ठ ले कर पडा हुआ है क्योकि पिशाचो और राक्षसो का पूर्ण वर्ग ही रोगो के लिए सभी कही एक उर्वरा भूमि माना गया है। इन मन्त्रो का ध्येय ही इन रोग-दैत्यो को खदेड भगाना है। अथर्ववेद ४ ३६ मे जादूगर की सारी शक्ति, पुजीभूत हो कर, इन शब्दो मे उतरी है—

जैसे बैल शेर के सामने टिक नहीं सकता,
और कुत्तों को कोई राह सूझती नहीं, . . .
—पिशाचों के लिए मै एक मुसीबत बनकर आया हूं :
मै पिशाचों, चोरों, उचक्कों, आवारों, को बरदाश्त नहीं कर सकता,
जिस गांव में मै घुसता हूं,
वहां से— ये दुम दबा कर खड़े होते है !

बीमारी की जड—ये भूत-प्रेत है। इस विश्वास के साथ एक और अन्धविश्वास भारतीयो मे यह भी है कि बीमारियों के नर और मादा मर्त्यों के पास रात के समय पहुंचते है। (क्या पुराने गन्धर्व और अप्सरा यही कुछ थे ?) जर्मन लोक-विश्वास मे जिन्हे जादू के देव और परिया माना जाता है, मूल मे, दोनो-ही प्रकृति मे (नदी

और अरण्य की) अधिष्ठातृ-देवियां थीं; ये अद्भुत शक्तियां वृक्षों और नदियों में बसती हैं और इन्सान को तंग करने के लिए अपनी इन अप्राकृतिक खोहों को छोड़ कर जब-तब बाहर निकला करती है। प्राचीन भारतीय इन प्रेतात्माओं से मुक्ति पाने के लिए एक सुगन्धित बूटी, अजा-शृंगी का और (अथर्ववेद ४ ३५ की बीन) का इस्तेमाल किया करते थे :—

अजाशृंगी के द्वारा
मैं इन अप्सराओं और गन्धर्वों को बिखेरता हूं
—अजाशृंगी की सुगन्धि को वे सहन नहीं कर सकते।
अप्सराए, गुग्गुलु, पिला, नलदी, औक्षगन्धी, श्रमन्दनी, . . .
—इन सब को मैंने खदेड़ दिया है, और अब
—ये नदियों में (या समुद्र में) पनाह ढूंढना चाहे, ढूंढ ले।
इनको मैंने पहिचान लिया है :
अब ये मेरे सामने टिक कैसे सकती हैं ?
अश्वत्थ और न्यग्रोध की छाया में
ये छुप सकती हों, तो छुप जाएं !
गन्धर्व—किस तरह अप्सरा के साथ नाचता हुआ आया था ?—
कहां है उसके वे 'दो-दो मुंह' ?
—वह बिलकुल निर्वीर्य हो चुका है !
वही गन्धर्व—जो अभी तक कुत्ते की तरह
बेचारी अप्सरा के पीछे पड़ा हुआ था—
उसके वे घुंघराले बाल,
वह उसका उल्लास,
—अब कहां है ?
अप्सरा और गन्धर्व, दोनों ही,
अ-मानुषी हैं :
अब वे—इन्सानों की बस्ती में—मर कर भी नहीं आएंगे।

पुराने जादू-टोनों में जर्मनी और भारत में, इन अजीबो-गरीब देवताओं को नदियों और वृक्षों में मुह छुपा कर रखने के मन्त्र है। भारतीय अप्सराओं और गन्धर्वों की तरह जर्मनी की जल-परिया तथा अन्य क्षुद्रात्म (अर्ध-पशु) नृत्य और गान द्वारा मर्त्यों की जिन्दगी को दूभर बना देते है। जर्मन गाथाओं में भी गन्धर्वों में यह शक्ति होती है कि वे जब चाहे अपना रूप बदल सकते है—कुत्ता बन कर, बन्दर

बन कर, लहराते वालो से, वे—मनुष्य को विचलित कर सकते है। वृक्षो मे पींग डाल कर वे भी शाखाओ के साथ झूले झूलते है। सुगन्धित बूटिया इन दैत्यों को खदेडने के लिए काफी है। इतनी समानताए आनुषंगिक नही हो सकती। करीब साठ वर्ष हुए दोनों देशो के जादू-टोनो की तुलना करके एडाल्बर्ट कु'न' इस परिणाम पर पहुचा था कि इन्द्रजालीय वाङमय के कुछ अश ही नही, पूर्ण गीत, पूर्ण मन्त्र —जर्मनी और भारत मे इण्डो-यूरोपियन युग के अवशेष रूप मे आज भी, तद् यावत्, चले आते है जिनके द्वारा प्रागैतिहासिक इण्डो-यूरोपियन कविता का पर्याप्त परिचय हमे मिल सकता है।

अथर्ववेद का अगला प्रसग **आयुष** सूक्तो का है जिसमे स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई है, किन्तु, इन्द्रजाल-परक मन्त्रो मे ये सूक्त कुछ बहुत भिन्न नही। चूडाकर्म, मुण्डन आदि पारिवारिक उत्सवो पर, तथा उपनयन पर, इन सूक्तो द्वारा दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की जाती थी—जिसमे बार बार 'शरद· शतम्' के लिए एक-सौ-एक तरह की मृत्युओ से मुक्ति, तथा सभी तरह के रोगो से रक्षा, प्रभाव-बाह्यता के लिए—प्रार्थना करना प्राय पुनरुक्ति-सा प्रतीत होने लगता है। १७वे अध्याय मे इस प्रकार के तीस पद्यो का एक पूरा का पूरा सूक्त है—जिसमे आयुर्वेद की एक ओषधि से बार-बार वही प्रार्थना की गई है जो अक्सर बाजूबन्द या तावीज को सम्बोधित करके की जाया करती है।

इसी प्रसग मे **पौष्टिक** सूक्तो का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। बात यह है कि किसान, गडरिये और व्यापारी बिना देवी-देवता की पूजा के एक कदम—जिन्दगी मे—उठा नही सकते, सो, किसी मकान का शिलान्यास करना हो, किसी जमीन पर पहली बार हल चलाना हो, बीज बोना हो, फसल काटनी हो, या फिर—खेती को कीडो से या आग पानी आदि की कजा से बचाना ही अभीष्ट हो, और—इसी प्रकार—अपने पशुधन की जगली जानवरो से, डाकुओ से अभिरक्षा इष्ट हो, या यात्रा के लिए स्वस्त्ययन ही इष्ट हो, जुए पर दाव लगा हुआ हो, या साप के प्रभाव से बचना हो 'प्रार्थना' अपना प्रसग आप ही ढूंढ लेती है। इन मन्त्रो मे कवित्व की खोज करना बेवकूफी है, क्योकि—सारे मे वही की वही रट होती है (एकाध पक्ति निहायत खूबसूरत भी यदा-कदा आ सकती है)। इन सुन्दर सूक्तो मे एक सूक्त (अथर्ववेद ४ १५) है जहां हवा के पंखो पर उडते बादलो के बारे मे कहा गया है कि "बादलो की ओढनी ओढे यह महान् वृषभ चिघाडता है मेह बरसाता है और पृथ्वी फिर से हरी-भरी हो जाती है।" मेघ से (पद ६) प्रार्थना की गई है —

इतना पानी बरसाओ
—कि इन्सान पनाह ढूंढता रह जाय।

किन्तु—ग्वाले को
सही-सलामत ही उसके घर पहुंचने देना ।

किन्तु जिन मन्त्रों मे सार्वजनीन सुख अथवा दु ख कष्ट से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई है, उन मे कवित्व बहुत ही कम है। अथर्व ४. २३-२९ मे इस प्रकार के **मृगार** सूक्तो का एक स्तवक प्रस्तुत है जिसके हर सूक्त मे सात-सात मन्त्र है। सूक्तो का सम्बोधन क्रमश अग्नि, इन्द्र, वायु और सविता, द्यावापृथ्वी, मरुत, भव और शर्व, मित्र और वरुण—से किया गया है कि 'हमारे कष्ट दूर करो।'

अद्भुत यह है कि ऐसे प्रसगो मे **अंहस्** शब्द का अर्थ कुछ 'मुसीबत, कष्ट' है तो कुछ 'पाप, अपराध' भी। शायद इसीलिए, उपरिनिर्दिष्ट सूक्त-सप्तक का विनियोग प्रायश्चित्त-प्रकरण मे होता है। इन प्रायश्चित्त सूक्तो मे और रोगनिवारण, दीर्घायुष्य परक सूक्तो मे कोई बहुत भेद नही है क्योकि—भारतीय विचारधारा के अनुसार—प्रायश्चित्त का अवसर कोई वास्तविक पाप व नियम-भग ही हो, ऐसी बात नही, यहा तो मन-वचन-कर्म—तीनो को ही पाप का एक-सा माध्यम माना जाता है। इसलिए उधार लेना और उसे वापिस न करना, जुआ खेलना लेकिन बाजी न दे सकना, गैर-कानूनी शादी या छोटे भाई का बडे भाई से पहले विवाह—इत्यादि के लिए यहा—जहा प्रायश्चित्त का विधान है वहा बीमारियो,अपशकुनो पर, युग्मजो के जन्म पर, अथवा किसी भयकर 'ग्रह'-यन्त्रणा एव दुर्घटना के प्रत्यक्ष पर भी—प्रायश्चित्त-परक तन्त्र, मन्त्र,गीत विहित है। भारतीयो के मन मे पाप, अपराध, किस्मत, बुरे विचार—प्रायः, पर्यायवाची होते है; और यह भी माना जाता है कि बीमारी और बदकिस्मती गुनाह और बुरा-ख्याल—सभी के लिए कोई-न-कोई प्रेतात्मा जिम्मेवार है, जैसे कि एक बीमार आदमी या एक पागल, समाज का एक अपराधी या एक छुपा पापी—सभी किसी-न-किसी दैत्य या चुडैल के कब्जे मे समझे ही जाते है। सभी बीमारिया, अपशकुन और दुर्घटनाए, सभी प्रकार के प्रकोप इन्ही देवता-स्वरूपो की देन है। १० ३ मे एक बाजूबन्द की स्तुति की गई है और उसे मन्त्र-शक्ति से इतना भर दिया गया है कि कोई अभिशाप, कोई बुरा स्वप्न या शकुन या टोना अब उसे पहनने वाले के खिलाफ कारगर नही हो सकता यही नही, एक-ही बाजबन्द सम्पूर्ण परिवार को सर्वथा-सुरक्षित रखने के लिए समर्थ है और सभी प्रकार की बीमारियो के विरुद्ध एक रामबाण भी है।

पारिवारिक वैमनस्य भी इन्ही तथाकथित देवताओ का प्रकोप ही होते है। सो, जहा अथर्ववेद मे **सांमनस्य** के गीत आते है, उनकी स्थिति इन प्रायश्चित्त सूक्तो तथा आशीर्वचनो के बीच-की ही होती है,क्योकि—इन मन्त्रो मे, एक ओर, परिवार मे सुख शान्ति के लिए प्रार्थना होती है तो उसके साथ, दूसरी ओर,वही शब्द देवता के प्रकोप को शान्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुए होते है। ऐसे प्रसगो के साथ ही सभा

मे, राज्याधिकरणो मे—वाग्मिता आदि अन्यान्य प्रसगों का भी संकेत प्राय: समानान्तर होता है। इन मे भी अथर्ववेद ३. ३० को, एक प्रकार से, आदर्श-सूक्त कहा जा सकता है :—

तुम्हारी भावनाएं और चिन्तन एक हों,
तुममें परस्पर विद्वेष न हो,
परार्थ में ही तुम्हें सुख मिले :
—जैसे गौओं का सारा जीवन
अपने बछड़ों की देखभाल मे ही सब-कुछ पा लेता है।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो;
माता का आदर करे,
पत्नी पति के सम्मुख मीठे वचन ही होठों पर लाये।
भाई-भाई में प्रेम हो और बहनें
—भाइयों की छत्रछाया में—
आपस में सौतें न बन बैठें :
—मन, वचन तथा कर्म में यह विश्व
एक खुला घोंसला बन जाए, सर्व-जन-हित-सुखाय
—एक 'सर्वार्थसिद्धि' मन्दिर बन जाय !

और इन सामनस्य सूक्तों का प्रयोग पति-पत्नी के बीच मे उठ-खड़े वैमनस्य को दूर करने के लिए भी किया जा सकता था। किन्तु विवाह और प्रेम सम्बन्धी अभिचार मन्त्र अथर्ववेद का एक स्वतन्त्र विभाग ही हैं . **कौशिक सूत्र** मे हमे कितने ही प्रकार के प्रेम-सम्बन्धी अभिचार-तन्त्रो का विधान मिलता है जिन्हे वहा **स्त्री-कर्माणि** कहा गया है, और इन स्त्रीकर्माणि के प्रसग में ही अथर्ववेद के इन सूक्तो और मन्त्रो का प्रयोग मूलत: हुआ भी करता था। विवाह और प्रेम सम्बन्धी ये अभिचार मन्त्र प्राय दो प्रकार के होते है : एक तो वे—जिनकी उपयोगिता वैवाहिक (एव सामाजिक) जीवन मे पुत्रोत्पत्ति द्वारा शान्ति इष्ट हो, और दूसरे वे—जिनकी 'धार्मिकता' कुमारी कन्याओ द्वारा वर ढूंढने मे (और वरो द्वारा वधू खोजने मे) स्वय-सिद्ध हो जाती है, इसी प्रकार नव-विवाहितो के प्रति आशीर्वाद, अथवा गर्भिणी के गर्भ की रक्षा, तथा अजात एव नवजात की अभिरक्षा—की दृष्टि से, तथा पुसवन की अभिलाषा से, उद्‌गीर्ण भावो मे इन सूक्तो की उपयोगिता सिद्ध है। अथर्ववेद का १४वा अध्याय इसी प्रकार के मन्त्रो और सूक्तो से भरा पडा है जो वस्तुत: ऋग्वेद के विवाह-सम्बन्धी मन्त्रो का ही एक परिवर्धित एवं नूतन सस्करण प्रतीत

होता है। इन मन्त्रों के अतिरिक्त, कुछेक सूक्त वैवाहिक जीवन मे विक्षोभ तथा मन-मुटाव लाने के लिए भी प्रयुक्त हुआ करते थे : इसमे कोई सन्देह नहीं। और मन-मुटाव एक बार हो जाने पर पत्नी को हम प्रायः पति की विद्वेष-भावना को शान्त करने के लिए कुछ शान्ति-मन्त्रों का पाठ करती हुई पाते है, तो उधर पति एक विश्वासघातिनी पत्नी का प्रेम पुनः प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार के मन्त्रों का उपयोग करता है। अथर्ववेद ४-६ मे प्रेमी प्रेयसी के यहा रात को चुपके-चुपके आ गया; उसके मुख से उस समय निकले मन्त्र है "तेरी मा नीद मे सोई रहे, तो तेरा पिता, घर के सब वृद्ध, नीद मे मस्त रहे—कुत्ते की भी आख न खुलने पाए, तेरे सगे-सम्बन्धी अभी उठे नही।" गन्धर्वलीला के प्रसग मे कुछ तन्त्र-मन्त्र उस प्रागैतिहासिक सभ्यता की स्मृति ताजा कराते प्रतीत होते हैं—जब मन्त्रो द्वारा किसी व्यक्ति को लोग उसकी अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रेम करने पर मजबूर किया करते थे। विश्व भर मे उस युग मे तब एक विचार प्रसिद्ध था कि किसी व्यक्ति की तस्वीर या मूर्ति बना कर उसके द्वारा उस व्यक्ति के हृदय को(अपने) वश मे लाया जा सकता है। भारत मे भी यही अवस्था थी। यदि कोई पुरुष किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त करना चाहे, तो उसके लिए बडा आसान तरीका यह था कि "प्रेयसी की एक वह मिट्टी की मूर्ति बना ले और पोस्त के रेशो से धनुष की डोरी बना कर, फूलो-भरी डालियो का एक धनुष बना कर, तीर मे एक काटा सिर-लगा कर, उल्लू के पख से तीर के पिछले भाग को सजा कर, और काली लकडी की एक कमान बना कर—यदि उस मूर्त्ति के हृदय को अब तीर के साथ बीधना शुरू कर दे तो, —उसका अर्थ यह समझा जाता था कि, इस प्रकार, प्रेमी अपनी स्वप्न-प्रिया के हृदय को काम-विद्ध कर रहा है, 'परवश' कर रहा है अब वह निश्चय ही उसकी, उसी की, बन जाएगी।" इस प्रसग मे अथर्ववेद ३ ३५ के कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं :—

मन्मथ तुझे मथित कर दे;
बिस्तर में तुझे शान्ति की नींद न आए :
काम के घोर शर द्वारा मैं तेरे हृदय को बींध रहा हूं।

यह तीर—जिसमें मेरे मनोरथ के पंख लगे हैं,
मेरे प्रेम की नोक,... .
मेरी अदम्य इच्छा जिसकी कमान है
—कामदेव इसके द्वारा तेरे हृदय को बींध दे।
काम के उस लक्ष्य-वेधी बाण द्वारा
—जो पंखों से उड़ता है,

विपक्षी को भस्म कर देता है—
उसके दिलो-जिगर को लूक कर देता है :
—मैं तेरे हृदय को बींधता हूं ।

काम की अन्तर्ज्वाल द्वारा विद्ध होकर, समिद्ध हो कर,
अपने सूखे लबों के साथ—प्यास की मारी—
तू मेरे पास, झट से, आ जा :
—अपने अभिमान को एक ओर रख के
वाणी की मधुरता के साथ
मेरे प्रेम में पगी—मेरी ही बन कर—
मेरे यहा पहुंच जा—मेरे हृदय मे, मेरे अंगों मे
समा जा !

एक अंकुश चुभो कर, मानो,
मैं तुझे तेरे माता-पिता से पृथक् करता हूं
कि अब तू मेरी (वशं-वद) हो जा
मेरी इच्छा की दासी बन जा ।

हे—देवी युगल, मित्र और वरुण
तुम उसे विचारशक्ति से सर्वथा हीन कर दो, और—
इच्छाशक्ति से भी सर्वथा विरहित करके
उसे मेरी ही 'अधीन' कर दो ।

और यदि किसी औरत के मन मे भी कुछ ऐसी ही इच्छा पैदा हो जाय तो वह भी इसी प्रकार के मन्त्रों द्वारा किसी भी पुरुष को 'निर्वश' करके अपना सकती थी। तरीका वही है पुरुष की मिट्टी की मूर्त्ति बना कर अपने सामने रख लो, और अथर्ववेद ६ तथा १३८ के मन्त्रों के साथ उस मूर्त्ति पर तीर चलाने शुरू कर दो। इन मन्त्रो की टेक है "हे देवताओ, अपने काम-दूत इधर भेजो और इसे मेरे प्रति प्रेम से दग्ध कर दो।" कुछ मन्त्र इस प्रकार है —

हे मरुतो, हे वायु, हे अग्नि :
इसे प्रेम से पागल कर दो,
—इसमें मेरे लिए मुहब्बत की मस्ती जगा दो ।
'मैं तुझे शाप देती हू

और अपनी उत्कट इच्छा से—
तुझे प्रेम से आहत करती हूं ।

हे देवताओ, अपने काम-दूत इधर भेज दो
और इसे मेरे प्रति प्रेम से आविष्ट कर दो ।

'भले ही तू तीन योजन, पांच योजन
(दिन में) दौड़ सकता हो—
उतनी दूर जहां तक कि एक घोड़ा
पहुंच .... ओझल हो जाय !

'तुझे लौट कर वापिस आना ही पड़ेगा—
मेरी घर-गिरस्ती का, और हमारे नन्हे-मुन्हों का,
पालक—पिता—तुझे बनना ही पड़ेगा ।'

कुछ मन्त्र ऐसे भी है जिनमे यह 'प्रेम' पशुता की हद तक पहुच गया है। ऐसे अवसरो पर जबकि स्त्री का उद्देश्य अपने प्रतिपक्षियो के, अपनी सौतनो के उच्छेद और विनाश के अतिरिक्त और कुछ न हो—(ऐसे अवसरो पर) घृणा के अतिरिक्त ओर वह उगल भी क्या सकती है? अथर्ववेद १ १४ का एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए —

'मै उस कम्बख्त की सारी सम्पत्ति को,
—सारी विभूति को,
इस प्रकार अपना रही हूं
—जैसे किसी वृक्ष से एक फूलो की माला
गूथ रही होऊ !'

× × ×

'एक विपुल पर्वत
जिस प्रकार अपने विपुल आधार के साथ
वहीं जमा रहता है :
—वह भी
युग-युगान्तर अपने माता-पिता के
घर मे ही जमी रहे ।

'हे, यमराज,
यह औरत तेरी ही पत्नी बनने के काबिल है :
तब तक—यह अपनी मां के साथ,

अपने भाई के साथ,
अपने पिता के साथ,
—बनी रहे : 'सौभाग्यवती' बनी रहे !

'हे यम,
यह औरत तेरी ही गृहिणी बने तो बने
—तेरा ही घर संभाले,
और इससे पूर्व कि इसके बाल सिर से झड़ नहीं जाते
यह अपने ही रिश्तेदारों में—क्वारी ही अच्छी !'

× × ×

असित, कश्यप और गय
के प्रभावशाली मन्त्रों द्वारा
मैं तेरे सौभाग्य को
उसी प्रकार आच्छादित करती हूं
जैसे—किसी सन्दूक में कोई कंजूस अपने मनहूस खजाने को।

यही पशुता, शायद, मीमांल्लघन तक पहुंच चुकी प्रतीत होती है जब कि इन अभिशाप-मन्त्रों का प्रयोग, अथर्ववेद ७ ३५ में, औरत को बांझ बनाने के लिए—या फिर, अथर्ववेद ६ १३८ एवं ७ ९० में, पुरुष को उसकी जननेन्द्रिय से विहीन करने के लिए—करने का विधान है।

प्रेम के प्रसंग में, इन मन्त्रों का प्रयोग शुरू-शुरू में अंगिरासि के व्यापक नाम द्वारा हुआ करता था **अंगिरांसि**—अर्थात् दैत्यों, जादूगरों, तथा शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त होने वाले अभिशापों का विधान—जिनका दूसरा नाम **आभिचारिकाणि** भी है। घाव और बीमारी वगैरह को शान्त करने के लिए प्रयुक्त मन्त्र भी आरम्भ में, सम्भवत, इसी श्रेणी में आते थे, क्योंकि—तब अन्ध-विश्वास यही था कि बीमारी दैत्यों, दानवों, राक्षसों की ही एक देन होती है। इसी प्रकार के सूक्तों का एक समुदय अथर्ववेद अध्याय १६ का उत्तर-भाग है जिसमें **दुःस्वप्न** से मुक्ति पाने के लिए मन्त्र में कहा गया है कि वह शत्रुओं के घर में अपना डेरा लगाए, और, जब ये अभिशापमन्त्र प्रयुक्त होते हैं—तब, दैत्यों ऐन्द्रजालिकों, चुड़ैलों में किसी प्रकार का भेद मालूम नहीं देता क्योंकि—(ऐसे प्रसंगों में) अग्नि को विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाता है कि वह आकर हमारी इन राक्षसों से मुक्ति दिलाए। दैत्यों के कितने ही लोकप्रसिद्ध नाम—जिनका प्रसंग और कहीं नहीं आता—इन सूक्तों में हमें प्राय मिल जाते हैं। और इन नामों के साथ सम्बद्ध कथाएं भी, वस्तु एवं विन्यास में, वैदिक न हो कर लोकवाङ्मय-गत अधिक है। इस प्रकार, एक बद्धमूल-सी

आस्था लोकमानस मे घर कर चुकी है कि बीमारी और बदकिस्मती दानवो के अतिरिक्त जादू-टोनों से समर्थित विशिष्ट-पुरुषो की—वी-आई-पी'ज़ की—देन भी हो सकती है ! मन्त्र-शक्ति मे यह विश्वास, मात्र भारतीय नही, सार्वलौकिक है। जिस मन्त्रशक्ति द्वारा ये दुष्ट (जन) मुसीबत लाते है, प्राचीन गीतो मे वह प्रायः कोई जीती-जागती-सी वस्तु समझी जाती है; और उससे बचने का उपाय भी जादू-टोनों के द्वारा उसी प्रकार समर्थित कोई बूटी, कोई कगन, कोई तावीज, या कोई और चीज, होती है जिसके सामने आते ही मुसीबत आप से आप छू-मन्तर होने लगती है। कुछ हो, जादू-टोनो के इन मन्त्रों एव सूक्तो मे जादू का बुरा और अच्छा प्रयोग भले ही हमे पसन्द न हो, लेकिन उसकी ताकत को, उसकी शक्तिमत्ता को, हमें मानना ही पडता है, और उसमे भी अपनी ही एक खूबसूरती होती है जो ऋग्वेद के यज्ञपरक सूक्तो मे हमे कही नही मिलती। अथर्ववेद ५.१४ मे जादू की बुरी निगाहो से बचने के लिए कुछ मन्त्र इस प्रकार आते है जो निस्सन्देह विश्व लोक-वाङमय का एक अविभाज्य अग माने जा सकते है —

एक गरुड़ ने तुझे कहीं पाया था :
एक जंगली सूअर
—पता नहीं जमीन के किस कोने से—
तुझे अपनी थूथनी से कुरेद कर बाहर लाया था ।
हे ओषधि, उठ
और उठ कर कुछ करामात दिखा :
—इस जादू-भरी मुसीबत को
खत्म कर दे—दूर भगा दे ।

इन यातुधानों को
इन ऐन्द्रजालिक वृत्रों को खदेड़ दे ;
हे ओषधि, अपने जादू से
हमें तंग करने वाले इस आदमी को
परे ले जा ।

सफेद पैरों वाले कृष्ण मृग को
जैसे उसी की खाल की बनी रस्सी से बांध देते हैं,
जादू की सुनहरी शृंखला से,
हे परमेश्वर,
खुद नामुराद जादूगर को बांध दे ।

'जादू-टोने' का यह जबरदस्त हाथ पकड़ कर
उसे, वापिस जादूगर के पास लौटा दे,
जादूगर के सामने इसे टिका दे
कि जादूगर को अपनी ही मौत नजर आने लगे।

जादू की इस कला को, इस अभिशप्ति को,
अभिशाप देने वाले उस जादूगर के
घर ही वापिस ले जा।

जादू का यह सुनहरी रथ
अपने पहियों के साथ
उलटा चलना शुरू कर दे,
और स्वयं जादूगर को ही कुचल दे।
जैसे—घोड़े को रस्सी से बांध कर
उसे उसके ठिकाने पर वापिस ले जाते हैं :
जो कोई भी यहां—मनुष्यों में, पशुओं में—
अद्‌भुत शक्ति द्वारा मुसीबतें बरसाता है
—हम उसी की शक्ति से आज उसी-को क्षीण करते हैं।

और तू भी, ओ जादू और जादू की छड़,
—वहीं वापिस पहुंच जा
जहां से कि तेरा जन्म हुआ है !
एक कुचले हुए साप की तरह चमक उठ—
और अपने बन्धनों से छूट
—उस बांधने वाले को ही बांध दे,
डस दे, खत्म कर दे !

इसी प्रकार, अथर्ववेद ६ ३७ में भी अभिशाप को ऐसे सम्बोधित किया गया है जैसे वह कोई प्रतिमूर्त्ति एक दानवी शक्ति हो :—

रथ में घोड़ों को जोत कर, शाप
—सहस्राक्ष बन कर—
मेरे अभिशप्ता को ढूंढने निकल पड़ा है
—जैसे भेड़िया किसी गडरिये का घर ढूंढने
निकला हो !

किन्तु, हे अभिशाप—,
तूने हमें न छूना;
जैसे दावानल सरोवर को छोड़ जाती है;
और जैसे बिजली आसमान से नीचे की ओर गिरती है
और वृक्ष को भी अपने साथ गिरा देती है
—तुझे भी अपने शत्रु का पता हो।

जो कोई भी हमें शाप देता है
या स्वयं अभिशप्त हो कर, या अनजाने यूं-ही,
हमारी जिन्दगी से खिलवाड़ करता है:
मैं उसे मृत्यु के ग्रास की तरह उसी तरह फेंकता हूं
जैसे—किसी कुत्ते को कोई
हड्डी का एक टुकड़ा फेंक रहा हो!

अथर्ववेद ४ १६ मे—वरुण की जो उदात्त स्तुति गाई गई है, परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को जिस प्रकार प्रत्यक्ष किया गया है उसका कुछ आभास हमे पाश्चात्यो की धर्मपोथी बाइबल के 'साम' गीतो मे हो चुका है। किन्तु अथर्ववेद के मन्त्रो मे कुछ विशेषता है जो हमे इधर नही मिलती, क्योकि—सूक्त के उत्तरार्ध मे फिर झूठो के विरुद्ध, द्रोहियो के विरुद्ध, अभिशाप की वही पुरानी वृत्ति फिर से जाग उठी है जो अथर्ववेद मे तो प्राय मिलती ही है किन्तु (भारत में) अन्यत्र दुर्लभ है। सूक्त इस प्रकार है—

सातवे आसमान मे रहने वाला परमेश्वर
हमारे कृत्यों को भली भांति जानता है
—जैसे वह, यहीं-कहीं, निकट मे खड़ा हो!
हम अपने कुकृत्यों को कितना ही छिपा-ले,
क्या देवताओं से भी कुछ ओझल किया जा सकता है?

हम खड़े हों, चलते-फिरते हो,
चोरी करते हों, या फकत हेरा-फेरी करते हो,
कहीं जा कर छुप जाएं:
—देवता हमारी सारी गतिविधि हर घड़ी देख रहे होते हैं।

जहां-कहीं भी षड्यन्त्र हो रहा होता है—
और दोनों जने सचमुच समझ भी यही रहे होते हैं कि और कोई नहीं है,..

वे अनजान—क्या जानें कि वरुण भी उन्हीं में
—एक तीसरा बन कर—वहीं-कहीं ओट में विद्यमान है !

वरुण सर्वव्यापक है,
पृथ्वी और आकाश में उसका साम्राज्य है, उसी एक का साम्राज्य है।
यह चतुर्दिक्-अनन्त समुद्र उसी का विश्राम-स्थल है
और छोटे-छोटे ये सरोवर—सब उसी बाल-कृष्ण के क्रीड़ागार हैं !

भले ही आसमान से परे पहुंच जाओ,
—वरुण की आंख से नहीं बच सकोगे, कभी नहीं।
आसमान से ही उसके दूत,
उसके गुप्तचर, उतरते हैं—
और अपनी उन हजारों आंखों से
पृथ्वी का कोना-कोना छान जाते हैं !
पृथ्वी, आकाश और वह परात्पर व्योम :
—विश्व में कुछ भी तो नहीं, जहां वरुण की आंख न पहुंच सकती हो !
यहां तक कि—हमारे आंख झपकने तक को
वह उसी प्रकार गिन सकता है—
जैसे कोई जुआरी—
जुए के सब दावों को !

हे वरुण,
तेरे घोर पाश,
सात-सात करके तीन बार
पापी को लपेट लें, झूठ बोलने वाले को निकम्मा कर दें—
और—सच बोलने वाले को छोड़ दें।

हे वरुण,
तुम-तो हमारी सब करनी जानते हो ;
झूठा आदमी बच कर निकलने न पाए,
उसे अपने सैकड़ों पाशों में बांध लो !
दुश्चरित्र का पेट फाड़ दो—
उसकी सारी पोल उसी प्रकार खुल कर बाहर आ जाय
जैसे कहीं कोई पीपा उलट गया हो !

वरुण के जो भी पाश
दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे—फैले हुए हैं
—वे पाश जो हमें ज्ञात है,
—वे पाश जो, हमें ज्ञात नहीं, बंधी हैं—
उन सबसे मैं अपने शत्रु को बांध रहा हूं,
उसके वंश को निर्मूल कर रहा हूं।

इसी सूक्त के सम्बन्ध मे रोथ ने एक स्थान पर कहा है "सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मे कोई भी और स्थल ऐसा नही शायद जहा दैवी सर्वज्ञता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों मे वर्णित किया गया हो; किन्तु इतनी सुन्दर कलात्मक कृति का प्रयोग अभिशाप के लिए करके उसे 'अवद्य' कर दिया गया। खैर, अथर्ववेद के अन्यान्य स्थलो की भाति यहा भी अनुमान यही निकलता है कि प्राचीन सूक्तो मे कुछ ही अश ऐसे अवशिष्ट रह गए है जिनकी उपयोगिता इन जादूभरे विनियोगो के अतिरिक्त और कुछ न रह गई थी। अन्यथा, सूक्त के प्रथम पाच मन्त्रों मे और पिछले चार मन्त्रों मे सगति बिठा सकना असम्भव है।" इसके विरुद्ध ब्लूमफील्ड का यह कहना कि सम्पूर्ण कविता ही शुरू से अभिशापमूलक थी—कुछ उचित नही जचती।

कितने ही अभिचार-सूक्त राजाओ और क्षत्रियो के लिए लिखे गए थे, जिनमे अपनो के लिए आशीर्वाद तथा परायो के लिए शाप स्वाभाविक ही प्रतीत होता है 'पुराने समय से भारत मे प्रत्येक राजा को अपने लिए एक कुल-पुरोहित नियुक्त करना आवश्यक होता था, और इस कुल-पुरोहित के लिए राज-जीवन के अग-भूत अन्यान्य मन्त्र-तन्त्रो, विनियोगो, और मन्त्रो का परिचय आवश्यक होता था। अथर्ववेद का इस प्रकार क्षात्र धर्म से अथवा **राजकर्माणि** से भी निकट सम्बन्ध है। राज-कर्म-परक इन सूक्तो मे सिहासन पर बिठा कर राजा को अभिषेक करने के लिए कुछ मन्त्र है, तो दूसरे कुछ मन्त्र अन्य सामन्त- नृपतियो पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए भी विहित है, और, साथ ही, कवच धारण करते समय, रथ पर चढते समय या युद्ध जाते समय—उसकी अभिरक्षा के लिए प्रार्थनाए भी है। अथर्व ३.४ मे राजा के निर्वाचन के समय एक प्रार्थना गाई गई है जिसमे स्वय देव-राट् वरुण उपस्थित हो कर राजा का चुनाव करता है, क्योकि—वरुण का मूल सम्बन्ध √वृ धातु से जो है। अथर्व ३ ३ मे निर्वासित राजा को पुन पद-प्रतिष्ठित करने के लिए एक अद्भुत उपाय अभि-लिखित है। क्षत्रियो से सम्बद्ध सूक्तो मे सबसे सुन्दर कृति सम्भवत अथर्ववेद के **युद्धगीत** है—और उनमे भी, विशेषत, योद्धाओ को युद्ध और विजय के लिए उकसाने वाले गीत। दो **दुन्दुभि-गीत** अथर्ववेद ५ २०-२१ है जिनमे कुछ पक्तिया हम यहा उद्धृत करना चाहेंगे —

काष्ठनिर्मित और चर्मबद्ध--
उच्च ध्वनि वाला दुन्दुभि ही
हमारा परम वीर है, हमारा सेनापति है ।
सिंह की तरह दहाड़ते हुए, हे दुन्दुभि,
उठ, और उठ कर, शत्रुओं को भयभीत कर दे
नष्ट कर दे ।

और जब शत्रु की सेना, डर मे,
तितर-बित्तर होने लगे
एक जंगली बैल की तरह
तू उसकी सम्पत्ति पर कूद पड़;
व्यथा से शत्रु के हृदय को बींध जा
और उसमे फिर वापिस आने की ताकत न रहने दे !
शत्रु
अपना घर भी छोड़ कर भाग जायं ! !

दुन्दुभि की दूर तक पहुंचने वाली
प्रतिध्वनि को सुनकर
शत्रुओं की पत्नियां जाग उठें
और--आकुलता में--
पुत्र का हाथ पकड़ कर
बेतहाशा--हमारे अस्त्रों की ओर ही--
भागती आएं ।

इन ब्राह्मण-पुरोहितों मे अल्पज्ञता, समझ ही नही, समझदारी भी, थी कि वे इन मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग अपने लिए नही, राजाओं और क्षत्रियों की सेनाओं के लिए ही, किया करते थे। किन्तु इस प्रकार नहीं कि उससे उनके अपने ही स्वार्थ को हानि पहुंचने लग जाय। मनुस्मृति (११ ३३) मे भी स्पष्ट शब्दों मे निर्देश हैं कि जादू-टोनो और अभिचार-मन्त्रों का प्रयोग कहां और किस प्रकार होना चाहिए. "ब्राह्मण को पूर्ण अधिकार है कि वह बिना किसी झिझक के अथर्ववेद के पवित्र मन्त्रों का प्रयोग समय आने पर करे, क्योंकि--'शब्द ब्रह्म' ही तो ब्राह्मण का अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए, एकमात्र और अनुपम, ब्रह्मास्त्र है।" अथर्ववेद के दिनों मे भी ब्रह्मास्त्र का मुख्य प्रयोग शुरू-शुरू मे ब्राह्मणों के हित में हुआ करता था, क्योंकि--एतद्विषयक सूक्तों मे ब्राह्मण की सम्पत्ति को, ब्राह्मण के जीवन का, बड़े स्पष्ट और सशक्त शब्दों मे अप्रधृष्य कहा गया है। जो भी उस तरफ आंख उठाएगा,

उसकी खैर नही। ब्राह्मण का सारा तेज जैसे उसके अभिशापो मे ही पुजीभूत हो!
इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण को मिलने वाली दक्षिणा का अर्थ समझाने के लिए भी बडे विलक्षण, अतिशयोक्तिपूर्ण, रहस्यात्मक शब्दो का प्रयोग किया गया है। जहा ब्राह्मणो पर रोब-दाब कसना सबसे बडा **पाप** है, उन्हे छेडना अपनी मौत है, उसी प्रकार—सबसे बडा **पुण्य** भी ब्राह्मणो को उदारतापूर्वक दक्षिणा देन के अतिरिक्त और कुछ नही। अथर्ववेद इसी प्रकार के गणनातीत, मूलभूत, विचारो मे परिपूर्ण है जिन्हे धर्म की दृष्टि से बहुत ऊचा नही कहा जा सकता। जिन सूक्तो मे बुद्धि, ज्ञान, यशस्विता, धर्मबोध, और नीतिमत्ता के लिए प्रार्थना की गई है, वे कुछ इने-गिने ही सूक्त है—जो निश्चय ही अथर्ववेद सहिता मे (साहित्य एव धर्म की दृष्टि से) बहुत पीछे आए।

अथर्ववेद सहिता के पिछले भागो मे कुछ ऐसे गीत और मन्त्र भी है जिनकी रचना विशुद्ध यज्ञ-विनियोग की दृष्टि से की गई थी। इन परतर सूक्तो का अभिप्राय अथर्ववेद को शप तीन वेदो के साथ एक ही श्रेणी मे—अर्थात् यज्ञपरक रूप मे बिठा देने का प्रतीत होता है। इस प्रसग मे अथर्ववेद के दो आखिरी सूक्त उद्धृत किए जा सकते है जो ऋग्वेद के अन्यान्य यज्ञात्मक सूक्तो से किसी प्रकार भिन्न नही। १५ वे अध्याय मे यजुर्वेद की भाति कुछ **गद्यात्मक** वाक्याश भी है जिनका प्राय आधा भाग जल की शुद्धि एव शोधक शक्ति के अन्यान्य विधानो एव उपकरणो से परिपूर्ण है। १८वे अध्याय के अन्त्येष्टि-परक सूक्त, तथा पितरो की पूजा मे आने वाले श्राद्ध सरीखे विधान भी—इसी श्रेणी मे आते है।

ऋग्वेद के अन्त्येष्टि सूक्तो की प्राय उन्ही शब्दो मे यहा पुनरावृत्ति हुई है, यद्यपि—उनमे बहुतेरा मसाला और भी यहा जोड दिया गया है। इसी प्रकार अध्याय २०, जो अथर्ववेद मे बहुत पीछे से जोडा गया, प्राय सारा का सारा, ऋग्वेद के ही सोम-सत्र परक विभिन्न अशो का उल्था एव पुन सम्पादनमात्र है। इस अध्याय के सूक्त १२७-१३६ की सगति क्या है (स्वय **कुन्ताप** का शब्दार्थ क्या है) यह कोई आज तक जान नही पाया। इतना ही अनुमान होता है कि ये कुन्ताप भी मूलत यज्ञ-परक ही थे, क्योकि—**अर्थ** की दृष्टि मे ये प्राय ऋग्वेद की दानस्तुतिया-सी प्रतीत होती है (जिनमे यजमान की उदारता की प्रशसा तो की ही गई है, लेकिन साथ ही कुछ पहेलिया भी इनमे है—उनके उत्तर भी है और कुछ—भद्दे, बेहूदा मजाक भी)। महासत्रो के प्रसग मे—जब कि यज्ञ की विधि अक्सर बहुत लम्बी हो जाया करती थी—इस प्रकार के सूक्तो मे पुरोहितो मे परस्पर एक यज्ञ-विषयक वाद-विवाद भी अनु-विहित थे।

अथर्ववेद के कुछ सूक्तो को एक और ही नाम देना पड़ेगा जिसमे **धर्मशास्त्र** तथा **सृष्टिशास्त्र** मुख्य विषय बन कर आते है। अथर्ववेद के साधारण जादू-टोनो मे,

अन्धविश्वास मे और सृष्टिशास्त्र की वैज्ञानिकता मे, दार्शनिको की पैनी दृष्टि में परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है समझ मे नही आता, निश्चय ही ऐसे अश अथर्ववेद संहिता के अर्वाचीनतम अश है। परन्तु इनका सकलन भी मूलत प्रयोगात्मकता की दृष्टि से, स्वार्थपरता की दृष्टि से, हुआ था इसमे कोई सन्देह नही,[७] सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित हो कर अथवा सृष्टि के गूढ रहस्यो के समाधान की आकाक्षा से इन सूक्तो के ऋषि कवि नही बने थे। अपितु दार्शनिकता के व्यपदेश से दार्शनिको की परिभाषाओं के चतुर, कृत्रिम, प्रयोगो द्वारा और अर्थहीन कल्पनाओं द्वारा—यहा केवल रहस्यात्मकता का कुछ इन्द्रजाल ही बना गया है जो-कुछ पहली नजर मे गम्भीरता नजर आती है वह जरा मे चिन्तन से कितनी थोथी, उल्थी और अर्थविहीन सिद्ध हो जाती है! रहस्यमय शब्दो मे मामूली सच्चाई को ढक देना—पुरानी जादूगीरी है। फिर भी, यह तो मानना ही पडेगा कि इन सूक्तो की पृष्ठभूमि सचमुच दर्शन के पर्याप्त उच्च विकास ने ही जुटायी थी। उपनिषदो के मुख्य विचार—जहा परमेश्वर को स्रष्टा और प्रजापति के रूप मे वर्णित किया गया है, जहा सृष्टि के मूल मे एक अपौरुषेय नियम के दर्शन होते है, जहा **तपस्**, **असत्**, **मनस्**, **प्राण** आदि परिभाषाओ का स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है—एक शब्द मे, उपनिषदो की सम्पूर्ण **ब्रह्मविद्या** की पृष्ठभूमि, ब्रह्मविद्या का मूल स्रोत भी तो–यही-कही होना चाहिए। निष्कर्ष यह कि अथर्ववेद के इन अध्यात्म और सृष्टिपरक सूक्तो का स्थान भारतीय दर्शन के विकास मे एक पूर्वपीठिका के रूप मे निश्चित है। ऋग्वेद के जिन सूक्तो मे दार्शनिकता के प्रथम दर्शन हमे होते है उनका परतर विकास उपनिषदो मे हुआ, किन्तु—अथर्ववेद के दार्शनिक विचार भी क्या सचमुच उपनिषदो की उडान के पूर्वाभास है? क्या प्राचीन भारतीय 'ब्राह्मण' दर्शन मे तथा उपनिषदो के परतर दर्शन मे अथर्ववेद एक कडी है? डाउसन के अनुसार—अथर्ववेद की यह दार्शनिकता—भारतीय-दर्शन के महान् प्रवाह की एक धारा न होकर उसके साथ कुछ दूर तक बहने वाली एक सरिता हो, तो हो।[८]

रहस्यात्मकता की इस धुन्ध मे से कभी-कभी सचमुच एक गम्भीर अनुभव, एक उच्च दार्शनिक विचार, चमक उठता है, किन्तु ऐसे स्थलो पर सन्देह यही होता है कि अथर्ववेद का कवि इस विचार या अनुभव का कर्त्ता नही, (किसी अन्य ऋषि के पूर्वोद्भासित उद्गारो का) प्रयोक्ता मात्र है। इस प्रकार **काल** के विषय मे यह उद्गार कि वह सृष्टि का प्रथम कारण है—सचमुच दार्शनिकता मे शून्य नही। परन्तु सोचना यह है कि इस विचार की दार्शनिक महत्ता को अथर्ववेद (१९ ५३) के छायावादी 'कवि' ने क्या से क्या कर दिया! :—

काल एक अश्व है:
उसके सात रश्मियां है,

सहस्र आंखें हैं,
वह अजर है, अमर है,
और 'बीजों' से भरा है ।
...लोक लोकान्तर उसके रथ के पहिये हैं
जितेन्द्रिय और उदात्त विचार वाले ऋषि ही
उसकी सवारी कर सकते हैं ।

काल-रूपी रथ के सात पहिए हैं,
सात ही उसकी नाभियां हैं,
अमृत उसका अक्ष है,
सब लोक लोकान्तरों को वह, अपनी ही इच्छानुसार,
ले चलता है ।
काल ही प्रथम देव है,
और वह अपनी यात्रा पर अग्रसर है !

एक पूर्ण कुम्भ काल के सिर पर रखा हुआ है ;
यहां हम उसके विभिन्न रूपों को ही देख पाते हैं,—
सच्चा स्वरूप तो उसका हम
—उसके आत्म पदों में ही —
किसी और लोक में ही देख पाएंगे
—जिधर लोक लोकान्तरों को
यह अविरत लिए जा रहा है ।

पांचवें और छठे मन्त्र में काल की सर्वोत्पादकता की स्तुति गाई गई है :—

काल ने ही परम व्योम को बनाया,
काल ने ही लोक लोकान्तरों को बनाया,
यह वर्तमान, भूत और भविष्य :
—सब-कुछ काल ही की महिमा है ।

यह पृथ्वी काल ही की कृति है
काल ही में सूर्य प्रकाशित होता है,
काल ही में सब लोक-लोकान्तर, और प्राणी, बसते हैं ।
काल ही में यह नन्हीं-सी आंख अपने से परे सब-कुछ देख लेती है !

किन्तु इसके एकदम ही बाद, अगले सूक्त (१९. ५४) में, हर तरह की चीजों की महज एक सूची बनाकर पेश कर देना : इसे कहां तक दर्शन कहा जाय,

कहा तक कविता कहा जा सकता है ? परमेश्वर के जितने भी नाम उन दिनो प्रचलित थे—प्रजापति, तपस्, प्राण—सबका जनक काल है !

अथर्ववेद का ८वा अध्याय **रोहित** सूक्तो से भरा पड़ा है जिसमे दार्शनिकता की अपेक्षा रहस्यात्मकता का प्रलाप अधिक है। सूक्तो मे तरह-तरह की असम्बद्ध कल्पनाए एक साथ पेश कर दी गई है, जैसे—पहले ही सूक्त मे रोहित को, अर्थात् उगते सूर्य की लालिमा को, सृष्टि का मूल तत्त्व उद्घोषित किया गया है रोहित ही द्यावापृथ्वी का स्रष्टा है, रोहित की शक्ति ही पृथ्वी और आकाश को अपने-अपने ठौर सभाले हुए है, इत्यादि। किन्तु—बीच मे ही, कही से, एक पार्थिव राजा आ टपकता है और आकाश के सम्राट् रोहित को और उस पृथ्वी-सम्राट् को, जान-बूझ कर, एक सम्मिश्रित रूप मे उपस्थित कर दिया जाता है ! यही नही, सूक्त मे—निरर्थक-शत्रुओ और प्रतिस्पर्धियो के विरुद्ध शाप उगले गए है (और जो लोग गो को लताडते है और सूर्याभिमुख हो कर मूत्र विसर्जन करते है, उन्हे भी धिक्कारा गया है !) १३ ३ मे कुछ मन्त्र सचमुच वरुण के पूर्वोद्धृत करुणापूर्ण सूक्तो की श्रेणी मे रखे जा सकते है, जिनमे रोहित की परम-देव करके स्तुति की गई है, किन्तु, सूक्त की टेक यह है कि 'रोहित क्रोध मे आकर ब्रह्म-द्रेष्टा को कुचल दे' —

पृथ्वी और आकाश का जो जनक है,
लोक-लोकान्तर जिसके आवरण है,
ये छः अन्तरिक्ष जिसके अन्दर समाए हुए है,
जिसके निर्मल अन्तराल में से
पक्षियो की पैनी, क्रान्त दृष्टि दूर तक वस्तुस्थिति को भांप सकती है,
और ब्राह्मण जिसने विद्या अधिगत कर ली है (!), .

हे वरुण,—
उसे अस्थित कर दे,
उसे नष्ट कर दे,
—ब्राह्मण के विद्वेषी को
अपने पाशो मे बाध ले।

रोहित पापी पर कुपित होता है;
रोहित से ही प्रसूत हो कर
ये हवाए ऋतु धर्मानुसार बहती है
रोहित से ही निकल कर
ये समुद्र दिशा-दिशा मे फैल जाते है,
रोहित ही परम देव है; इत्यादि।

रोहित ही जीवन का दाता है,
रोहित ही जीवन का हर्त्ता है;
रोहित ही प्राणि-मात्र में
प्राण का आधान करता है;
रोहित ही
पृथ्वी और आकाश को—
समुद्र के उदर को—
अनुप्राणित करता है
रोहित ही परम देव है : इत्यादि ।

इन उदात्त स्तुतियो के साथ-साथ जब हम यह पाते है, यज्ञ के बृहत् और रथन्तर छन्दो के परिणय से रोहित की उत्पत्ति हुई या यह कि गायत्री अमृत का निधान है, तो—सन्देह होने लगता है कि कही ऋषि रहस्यात्मकता के विचार के साथ खिलवाड तो नही कर रहा। ऐसे प्रसगो के धुधलेपन को दूर करना व्यर्थ है। इसी प्रकार का एक स्थल अथर्ववेद ४ ११ है जिसमे **वृषभ** की स्तुति सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप मे की गई है। किन्तु उसमे किसी प्रकार की दार्शनिकता (तथ्यो की खोज) किसी परिणाम पर नही पहुचेगी ·

वृषभ ही—
पृथ्वी और आकाश का कर्त्ता है;
वृषभ ही—
अन्तरिक्ष का जनक है;
वृषभ ही—
इन छ. अन्तरिक्षों का जनयिता है;
वृषभ ही—
सम्पूर्ण सृष्टि का पिता बन कर
—लोक-लोकान्तर में व्याप्त है ।

समस्या तब भी सुलझ नही जाती जब हमे बताया जाता है कि यह वृषभ इन्द्र है या कोई और परम-देव है, उल्टे, उलझन बढ जाती है, इससे, जब आगे चलकर हमे बताया जाता है कि यह वृषभ दूध देता है और कि यह दूध ही उसका यज्ञ रूप धारण कर लेता है,..कि पुरोहित की दक्षिणा सचमुच इस वृषभ का दोहन ही है—और कुछ नही ! यही नही, बडे बलपूर्वक फिर कहा है कि जो भी कोई वृषभ के इन सप्त दोहनो को जान लेना है, उसके घर पुत्र उत्पन्न होता है और वह स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है ! इसी प्रकार की निरर्थक स्तुति वृषभ की, पुनः, अथर्ववेद ९.४ मे की गई है यह वृषभ-रूप-रूप का परम निधान है, आरम्भ मे यह जल रूप था,

आपः था—इत्यादि। किन्तु, अन्त मे, हम चकित रह जाते है—यह जानकर—कि यह वृषभ यज्ञ-मेध्य के पशु के अतिरिक्त और कुछ नही है !

इन अतिशयोक्तियो का अभिप्राय स्पष्ट है। अथर्ववेद १०.१० में दार्शनिकता और रहस्यात्मकता का ढोंग खुद-ब-खुद खुल जाता है। **गौ** के विषय मे रहस्योद्घाटन करते हुए लिखा है कि गौ ही पृथ्वी-आकाश की, और समुद्रो की, रक्षा करती है। इस गौ के पीछे सौ दुग्ध पात्र, सौ गवाले, और सौ दोग्धा बैठे है। देवता इस गौ मे प्राणो का आधान करते है, उन्हे ही इस गौ के विषय में सच्चा ज्ञान है; यह गौ क्षत्रिय की माता है, यज्ञ गौ का पुनीत अस्त्र है, विचारो की मूल जननी है, इसी प्रकार के विचारो का विकास होते-होते गो-विषयक परम रहस्य का उत्कर्ष अन्ततोगत्वा इन शब्दो मे होता है "गौ ही अमृत है, गौ की ही मृत्यु के रूप मे पूजा होती है, ये लोकलोकान्तर देवी-देवता, मनुष्य, असुर, ऋषि—सब गौ के ही रूपान्तर है।" किन्तु इसके अनन्तर—रहस्य की क्रियात्मकता स्वय प्रकट हो जाती है। केवल वही व्यक्ति जो इस परम ज्ञान को समझता हो, **गोदान का सच्चा अधिकारी** है, और जो व्यक्ति ब्राह्मणो को गोदान करता है लोकलोकान्तर का स्वामी बन जाता है, क्योकि—**गौ** मे ही ऋत, ब्रह्म, तथा तपस् के परमतत्त्व अन्तर्निहित है। उपसहार में, एक बार फिर, कहा गया है —

> **गौ पर ही**
> **देवताओं का जीवन आश्रित है;**
> **गौ पर ही**
> **मनुष्यो का जीवन आश्रित है;**
> **गौ पर ही**
> **सारे संसार का जीवन आश्रित है;**
> **जहां तक भी**
> **सूर्य की किरणें पहुंच सकती है,**
> **जीवन का एकमात्र आधार—यह गौ ही है।**

अथर्ववेद ११ ५ मे वैदिक **ब्रह्मचर्य** की स्तुति भी प्राय इन्ही शब्दो मे की गई है। रोहित, वृषभ तथा गौ की तरह वह भी सर्वशक्तिसम्पन्न है। अध्याय १५ मे तो जैसे एक सूक्तावलि-सी **पर-ब्रह्म** की स्तुति मे गाई गई है जिसमे ब्रह्म को—**व्रात्य** कह कर—महादेव, ईशान, रुद्र आदि का पार्थिव रूप कहा गया है ! मूल मे व्रात्य लोग शायद भारत की पूर्वी सीमा पर रहने वाली कुछ जातिया थे। वे आर्य थे अथवा अनार्य—कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु वे सावित्री-पतित थे, ब्राह्मण-बाह्य थे। अपने जनधन को पशु-धन को, गाडियो मे रख कर, और ढक कर—बे-घर, बे-ठिकाने—इधर-उधर घूमा-फिरा करते थे; उनके अपने ही धर्म-नियम,

पूजा-पाठ आदि के विधान थे; किन्तु—कुछेक वैदिक यज्ञादि के अनुष्ठान द्वारा उन्हे ब्राह्मणधर्म मे पुनर्दीक्षित होने का अधिकार था। और इसी प्रकार का ब्राह्मण-धर्म मे दीक्षित व्रात्य ही अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त' का एक स्वतन्त्र विषय भी है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तो मे कुछ अर्थ, कुछ सगति, बिठाने के लिए दाउसन" ने एक पूरा जीवन खपा दिया। दाउसन के अनुसन्धान के अनुसार—अथर्ववेद १० २, ११ ८ का विषय मानव जीवन मे **ब्रह्मसिद्धि** है; १० २ मे यह सिद्धि अगर आधि-भौतिक रूप मे अधिगत की जा सकती है तो ११ ८ मे आध्यात्मिक स्तर पर भी सुलभ है। हमे अलबत्ता इन सूक्तो मे 'वही दार्शनिकता' नही मिली। दार्शनिकता के नाम से जो-कुछ ऐसे स्थलो पर कहा गया है वह विश्व के दर्शनशास्त्र को (इनकी) कोई नई-देन प्रतीत नही होती, अपितु मनुष्य के अन्तर्गत असीम सम्भावनाओ की प्राचीन दृष्टि को रहस्यात्मकता का एक निरर्थक बाना पहना दिया गया है—बस जो कुछ यहा स्पष्ट था उसे और भी अस्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद १० १२१ मे ऋषि ने सृष्टि की असीम विभूतियो मे चकित हो कर प्रश्न उठाया था कि—क्या स्रष्टा भी स्वय सृष्टि के परम रहस्य को जानता है ? क्या इस (कुतूहल) का कोई स्रष्टा है भी ? अथर्ववेद १० २ मे इसी प्रकार कवि 'पुरुष' के अग-प्रत्यग का विवेचन 'समाप्त' कर के अन्त मे पूछता है: पुरुष की ये एडिया, यह उसका बाह्य चर्म, ये उसके टखने, ये उसकी कोमल उगलिया और देवपुरी के आमन्त्रक ये 'नव द्वार', और घुटनो को ढकने वाला यह आच्छादन—आखिर किसने बना दिया यह सब ? इसके दोनों पैरो को अलग किसने किया—क्यो किया—आखिर यह किसकी कल्पना-सिद्धि है ?

इसी प्रकार की जिज्ञासा मे आठ पद अर्पित है, और फिर अगले नौ पद्यो मे मानव जीवन के सभी अगो का वर्णन करके स्वय जीवन को ही पहेली मान कर पूछा गया है, "यह रुचि, यह अरुचि, नीद, भय, थकान, यह सुख और आनन्द, यह गरीबी और मुसीबत—आखिर आती कहा से है ?" इसी प्रवाह मे, आगे चल कर, तरह-तरह के सवाल पूछे गए है कि—शरीर मे जल, और नसो मे खून, किसने डाला ? मनुष्य को यह कद, बुत, यह नाम, यह गति, बुद्धि, प्राण, सत्य-असत्य, मृत्यु और अमृत, वस्त्र, लम्बी उम्र, शक्ति और शीघ्रता किसने दी ? फिर अन्त मे, प्रश्न किया गया है कि—मनुष्य प्रकृति पर विजय किस प्रकार पा लेता है ? और, तब कही, सभी प्रश्नो का समाधान एक ही वाक्य मे कर दिया गया है कि **ब्रह्म-रूप** हो कर ही पुरुष इतना सामर्थ्य पा लेता है, सर्वशक्तिमान् हो जाता है। सूक्त मे कोई ऊचा काव्य नही, कोई अद्भुत सौन्दर्य भी नही, किन्तु—यहा तक, कम-से-कम —विचार कुछ स्पष्ट तो है, अन्त के आठ मन्त्रो मे, पुन:, वही रहस्यात्मकता सब-कुछ चौपट कर देती है :—

पुरुष के हृदय और बोध को
एक-सूत्र करके
अथर्वा ने—मस्तिष्क के ऊपर आकर—
उसे पवित्र कर दिया,
उसे प्रेरित कर दिया !

अथर्वा ही पुरुष के मस्तिष्क का अधिष्ठाता है :
पुरुष का मस्तिष्क एक छोटी-सी देवपुरी है
जिसकी रक्षा करना प्राण, अन्न और मनस् का काम है।

इस प्रकार के सूक्तो मे **दार्शनिकता** ढूंढना स्वय वैदिक वाङमय के साथ अन्याय करना होगा। अथर्ववेद ११ ८ के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार हमारे विचार दाउसन के विचारो मे मेल नही खाते। दाउसन का कहना है कि "यहा आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तत्वो के मैथुन मे मनुष्य की उत्पत्ति का वर्णन अभिप्रेत है और कि, अपने तई, अध्यात्म और अधिभूत स्वय अन्तत ब्रह्म पर आश्रित है।" किन्तु, यह तो वैसे ही हुआ जैसे कोई झूठा आदमी कभी-कभी इस ख्याल से ही सच बोल देता है कि लोग उस पर कुछ तो विश्वास करने लगेगे। अथर्ववेद का दार्शनिक अपनी निरर्थक कल्पनाओं को कुछ तथ्यान्वेषण का रूप देने के लिए कही-कही सचमुच की दार्शनिक उक्तियो का समावेश भी कर छोडता है! यह दार्शनिकता पल्लव-ग्राहिणी दार्शनिकता है, और इसलिए—अथर्व ११ ८ का आधारभूत सिद्धान्त भले ही, अनुसन्धान मे, पुरुष और ब्रह्म की एकात्मता हो, किन्तु क्या—वह अथर्व-वेद के कवि को भी उसी रूप मे स्पष्ट था ? उदाहरणार्थ, हम पूछते है—कवि का लक्ष्यार्थ प्रस्तुत मन्त्र मे क्या था ? —

इन्द्र, सोम और अग्नि की उत्पत्ति कहां से हुई ?
त्वष्टा और धाता की उत्पत्ति कहां से हुई ?
—इन्द्र ही इन्द्र का जनक है,
सोम सोम का, और अग्नि अग्नि का,
त्वष्टा त्वष्टा का, और धाता धाता का—जनक है।

यह सब एक थोथी तुकबन्दी के अतिरिक्त कुछ नही है। न इसमे कही दार्शनिकता है, न कविता। एक और स्थल पर अथर्ववेद मे कुछ मन्त्रों मे पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है, पृथ्वी की उत्पत्ति स्वय सृष्टिविकास-परक वैदिक वाङमय का एक अग है, परन्तु सृष्टि की उस उत्पत्ति मे कही भी कोई रहस्यात्मकता नजर नही आती और न दार्शनिकता ही। और, शायद इसीलिए, अथर्व० १२ १ का कवि ६३ मन्त्रो मे पृथ्वी माता की सच्ची स्तुति गा सका है कि किस प्रकार यह निर्जीव धरती ही—के स्थावर-जगम जीवन की धारयित्री तथा पालयित्री है। सूक्त

के अन्त मे इसी निर्जीव मिट्टी से ही मानव जीवन के सभी सुखो की आशा कवि करता है। प्राचीन भारत की धार्मिक कविता का एक सुन्दर नमूना है यह अथर्व-वेद का **पृथ्वी सूक्त** .—

ऋत, सत्य, यज्ञ, तपस्, ब्रह्म, श्रद्धा
—ये तत्त्व है जो पृथ्वी का अन्तर्धारण करते है।
पृथ्वी ही भूत और भव्य के सकल चक्र की
एकमात्र अधिष्ठात्री है।
पृथ्वी अपनी विशाल छाती मे
हमें स्थान दे।

पृथ्वी—
जो पहले समुद्र में जल-रूप थी;
जिसे ऋषि लोग अपनी अद्भुत शक्तियो से बाहर निकाल लाए;
पृथ्वी—जिसका हृदय
परम-व्योम मे अन्तर्निहित है;
स्वयं सत्य और ऋत
जिसके नित्य-स्पन्दन की रक्षा करते है,
वही पृथ्वी —हमे ज्योति दे, वर्चस् दे
—हमारी मनोभावनाओ को उदात्त कर दे।

पृथ्वी—
जिसे अश्विनीकुमारो ने
एक सिरे से दूसरे सिरे तक
सबसे-पहल मापा था;
और फिर विष्णु ने, इन्द्र ने,
अपनी परम शक्तियों द्वारा
रिपु-हीन कर दिया था
—वही पृथ्वी हमारी माता है,
हम बच्चो को दूध पिलाने वाली माता है॥

हे पृथ्वी,—
तेरे वन, अरण्य, पर्वत, . .
तेरे हिम शृंग
—हमारे लिए सुखदायी हों;

मैं पूर्ण स्वस्थता में तुझ पर विचरूं,
तेरी परिक्रमा करूं।
इन्द्र द्वारा परिरक्षित
इस रंग-बिरंगे और दृढ़ भूतल पर
मैं अभय हो कर विचरूं।

तू ही
द्विपाद्-चतुष्पाद् की, मर्त्यों की, जननी है;
तू ही
पंच-भूतों की जननी है :
तेरे ही आदेश में सूर्य
कण-कण में उजाला भर देता है।

पृथ्वी पर ही
हम मनुष्य यज्ञ करते हैं,
और देवताओं को आहुतियां देते हैं ;
और स्वयं—यज्ञ-शेष पर गुज़र कर छोड़ते हैं।
पृथ्वी
हमें प्राण दे, जीवन दे, लम्बी आयु दे।

जो कुछ वनस्पति या रत्न
मैं पृथ्वी में से उखाड़ कर बाहर ले आता हूं,
पृथ्वी की उर्वरता में उससे कोई कमी न आए ;
मैं अपनी उच्छृंखलता में, उच्छेदन में,
मां के (कोमल) मर्मस्थल को न छू जाऊं।

पृथ्वी—जिसकी विस्तृत छाती पर
लोग तरह-तरह के नृत्य-गान करते हैं,
दुन्दुभि की ध्वनियों से जिसका वातावरण
पूरित होता रहता है,..
वही पृथ्वी—हमारे शत्रुओं को खदेड़ दे।
पृथ्वी—जो ज्ञान-अज्ञान का, मृत्यु और अमृत का,
पाप और पुण्य का—बोझ उठाए है,..
पृथ्वी जो—मनुष्यता और पशुता का
एक-एव अधिष्ठान है,

एक ही घोंसला, हूं, एक ही घर हूं, एक ही हृदय हूं,..
—हमारे लिए सांमनस्य का प्रसाद इस धरती और आकाश में,
हमारे जीवन में, ला दे
—हमारे घर को सदा भरा-पुरा रखे !

यह सूक्त ऋग्वेद मे भी हो सकता था,—किन्तु अथर्ववेद मे यह है—इससे भी यह सिद्ध होता है कि, ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक, वैदिक युग के इन अवशिष्ट अशो मे कुछ निश्चित परस्पर-सगति है। अथर्ववेद मे लौकिकता, लोक-वाङ्मयता, लोक-विश्वास के साथ-साथ—ऐसे विचार-रत्न भी प्रकीर्ण और पनप-रहे मिलते है · यह सचाई भी—इसी ओर इगित करती प्रतीत होती है कि वैदिक युग की उस प्राचीन काव्यधारा का रस दोनो सहिताओ के एक साथ अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है—अनुभाव्य बन सकता है।

१ Whitney HOS, 7-8, 1905, Bloomfield SBE, 42 and *Grundriss* II, IB, Henry . *La Magiel dans L'India antique*, 1904, Edgerton *American Journal of Philology*, 35, 1916, 435 ff

२ Cf. the Flamines of Ancient Rome (Th. Mommsen· *Romische Geschichte*, G Auft, I, 170 f), and the 'bhrgu-angirasas' of *Cūlikā-upanisad*, 11

३ Paippalāda recension also now, published by Raghuvira.

४ SBE, X, II, 176, XLV, 105, 133, 363, *Manu*, IX, 258, 290; XI, 64. *Visnu*, 54, 25

५ *Zeitschrift* fur vergleichende Sprach[illegible]enschrift, XIII, 19 ff 113 ff

६ *Grundriss* II, I B, 96 ff

७ Studies in Honour of M Bloomfield, 11[illegible] ff

८ A G Ph, I, I, 209

९ Weber and Aufrecht, *Ind Stud* I, Hillebrandt, *Rituallitteratur*, 139 f, Bloomfield, *op cit*, 96 ff, Lanman, HOS 8, 769 ff *Vedic Index* II, 341 ff, JBRAS, 19, 1896, 357, ff, to ZKH, (23) 151 ff, (25) 355 ff, JRAS, 1913, 155 ff Hauer, *op cit* , 11 ff, 172 ff; *Festschrift fur Scherman*, 2B, VI, 1924-25, 48 f

१० A G Ph, I, 1, 209 ff 264 ff, Scherman· *Philosophische Hymnen*, 1887

प्राचीन वैदिक यज्ञ-परम्परा

ऋग्वेद और **अथर्ववेद** का बहिरंग परिचय हो लिया; और जो कुछ अन्तरग परिचय भी हमे इस प्रकार प्रसगात् प्राप्त हुआ, उससे भी इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दोनो वेदो की रचना यज्ञ-याग से प्रसक्त विनियोगादि को लक्ष्य करके नही की गई थी। यद्यपि ऋग्वेद के अधिकाश सूक्तो का उपयोग पीछे चल कर सत्रो के प्रसग मे होने भी लगा और, उसी प्रकार, अथर्ववेद के मन्त्रो-तन्त्रो की उपयोगिता को भी जादू-टोनो तक ही सीमित कर दिया गया, तथापि—दोनो सहिताओ मे सामान्यत सूक्तो की परस्पर-सगति मे, और क्रम मे, किसी प्रकार की विनियोगात्मकता इष्ट नही प्रतीत होती। दोनो ही सहिताओ मे सूक्तो का सम्पादन ऋषियो अथवा 'ऋषि-कुलो' की दृष्टि से वैसे ही किया गया था जैसे आजकल किसी भी 'कविता-निकुज' का किया जाता है, इसके अतिरिक्त—दोनो ही सहिताओ मे कही-कही विषय की दृष्टि, एव लघुता-गुरुता की दृष्टि, भी सकलयिता की नियामक हो गई प्रतीत होती है। दोनो वेदो के सकलन मे सम्पादक की दृष्टि साहित्यिक ही रही है, कर्मकाण्ड की उपयोगिता की नही।

सामवेद और **यजुर्वेद** का सम्पादन, अलबत्ता, प्रस्तुत दोनो वेदो से कुछ भिन्न है साम और अथर्व मे मन्त्र, मन्त्राश, आशीर्वचन उसी क्रम म सकलित है जिसमे कि यज्ञ मे उनका विनियोग इष्ट था। **साम** और **यजुष्**, सचमुच पुरोहित के हाथ मे 'सस्कार-विधि' सरीखे दो साधन है जो पीढी-दर-पीढी उपाध्यायो-गुरुओ की परम्परा मे ऋषियो के लिए सुरक्षित चले आते है, सो, इनकी उत्पत्ति को एव इनके विकास को समझने के लिए आर्य यज्ञ-प्रणाली के सम्बन्ध मे कुछ परिचय प्राप्त कर लेना अनिवार्य प्रतीत होता है। यज्ञ-परम्परा के कुछ अन्तरग परिचय के बिना, सच तो यह है कि, वैदिक वाड्मय के किसी भी अग को सही-सही हृद्गत कर सकना असम्भव है।

ब्राह्मण-धर्म को जहा तक उसे वैदिक कहा जा सकता है, इतिहास मे हमे उसके दो रूप मिलते है। हम ऊपर देख ही चुके है कि **ऋग्वेद** के कुछ सूक्तो का, और **अथर्ववेद** के अधिकाश मन्त्रो और गीतो का, उपयोग वैदिक जीवन मे विवाह, जन्म, मृत्यु, श्राद्ध आदि पवित्र अवसरो पर ही हुआ करता था, यद्यपि इसकी कुछ विस्तृत उपयोगिता पशुधन और कृषि धन के विकास की दृष्टि से उस कृषि युग मे निस्सन्देह थी। इन सस्कारो को भारतीय अपनी प्राचीन प्रथा के अनुसार '**गृह्य-कर्माणि**' कहते आये है। **गृह्यसूत्रो** मे इन गृह्य-कर्मो का विस्तृत विवेचन हुआ भी

है--जहां घरेलू जीवन से सम्बद्ध दैनिक, पाक्षिक, वार्षिक यज्ञो मे ब्राह्मण की स्थिति सर्वोपरि सर्वसम्मत है (क्योंकि ब्रह्मा--यजमान अथवा पुरोहित की आज्ञा या अनुमति के बिना--एक कदम भी न उठा सकता था)।[१] यज्ञों का रूप तब सामान्यत: कुछ निश्चित ही हुआ करता था: गृहमेधाग्नि से यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित की जाती और उसमे देवताओ के लिए आहुतिया अर्पित की जाती। इन दैनिक यज्ञो के अतिरिक्त, प्रत्येक आर्य का यह धार्मिक कर्त्तव्य होता था कि--वह गरीब हो, अमीर हो, कुलीन हो, अज्ञात-कुल-शील हो--इन्द्र आदि देवताओ से सम्बद्ध सोम-सवन आदि महायज्ञों मे हाथ बटाए, यद्यपि--इन महामत्रो का यजमान कोई राजा स्वय भी हो सकता था। यज्ञ-विधान मे महायज्ञों के प्रसग मे तीन पावन वह्नियों के आधान का नियम है जिसका उल्लघन सर्वथा अक्षम्य है, और इन महायज्ञो से सम्बद्ध पुरोहितों की चार विभिन्न श्रेणिया भी होती थीं जिनका काम यज्ञ की सम्पूर्ण पेचीदा गतिविधि की निगरानी तथा पालन करना होता था। यजमान का अधिकार यज्ञ मे इस प्रकार सर्वथा नगण्य था वह केवल उदारतापूर्वक ब्राह्मणो को दक्षिणा ही दे सकता था। सो, इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ब्राह्मणो ने यज्ञ को एक स्वतन्त्र-विद्या अथवा विज्ञान के रूप मे पल्लवित कर लिया, उसमे पर्याप्त अनुसन्धान किया जिस अनुसन्धान और आडम्बर का प्रथम परिचय हमे **ब्राह्मणग्रन्थो** मे मिलता है (जिसे प्राचीन परम्परा मूल वैदिक श्रुति का एक अविभाज्य अग ही मानती आई है)। इस नवीन परिभाषा मे यज्ञो का ब्राह्मण-प्रदत्त नाम था '**श्रौत-कर्माणि**' जब कि गृह्य कर्मो को स्मृति--अर्थात् दैवी श्रुति से कुछ भिन्न, लौकिक रीति-रिवाज--कहने की प्रथा भारत मे आज तक उसी रूप मे प्रचलित है भी। परन्तु स्मृति की प्रामाणिकता वह नहीं जो श्रुति की मानी जाती है।

अब हम श्रौत-यज्ञो से सम्बद्ध चार पुरोहितों को लेते है सबसे पहले--(१) **होता** का स्थान आता है जिसका काम होता था उपयुक्त ऋचाओं द्वारा स्तुतिया गा-गा कर देवताओं का यज्ञ मे आह्वान करना, (२) **उद्गाता**--जो सोम-सवनो मे, विशेषत साम-गीतों द्वारा, यज्ञ की एक पूर्व पीठिका-सी जुटाया करता था, (३) **अध्वर्यु** --जो यज्ञ के अन्यान्य विनियोगो की पूर्ति, गद्यमय यजुओं को गुनगुना कर, साथ-साथ करता चलता था, और (४) **ब्रह्मा**--जिसका काम होता था सम्पूर्ण यज्ञविधि पर निगरानी रखना कि कोई अप्रत्याशित सकट न आ खड़ा हो। कोई भी धार्मिक कृत्य क्यों न हो, कोई भी यज्ञ क्यो न हो--सकट तो बना ही रहता है, और, सो, यदि कोई विनियोग उचित विधि-विधान के अनुसार न किया जाय--उपदिष्ट आदेशानुसार उसमे मन्त्रोच्चारण न हो, गीत (प्रथा के प्रतिकूल) अशुद्ध गाए जाए--तो सारा-का-सारा धर्मकृत्य दूषित हो जाता है (जिसका उत्तरदायी यजमान को ही ठहराया गया है)। इसीलिए यज्ञशाला के दक्षिण मे

ब्रह्मा को एक ऊचे आसन पर प्रतिष्ठित करने का आदेश है, क्योंकि---दक्षिण-दिशा स्वय यमराज की (मृत्यु की) दिशा है, यज्ञ के शत्रु असुरो की (दण्ड-) दिशा है। ब्रह्मा प्रतिक्षण, चुपचाप, अपने मनश्चक्षुओ द्वारा यज्ञ की सम्पूर्ण गतिविधि का अनुसरण करता रहता है कि कही भी जरा-सी गलती न होने पाए, कही भी उच्चारण व लय मे फर्क न आजाए। (**स्वास्तिवाचन** गुनगुनाता हुआ वह चुपचाप भूल-चूक को शान्त भी करता चलता है।) यही नही, ब्रह्मा को (एक प्राचीन ग्रन्थ मे) 'पुरोहितो मे परम-वैद्य'[१] तक कहा गया है। किन्तु इस महान् कर्त्तव्य को निभाने के लिए ब्रह्मा को, अर्थात् पुरोहित-राज को, वेदमय (त्रयीमय) होना आवश्यक होता है कि उसकी निगाह मे किसी भी प्रकार की उपेक्षा न होने पाए।[२]

अन्य तीन पुरोहितो के लिए, इसके विपरीत, एक-एक वेद का ज्ञान होना ही पर्याप्त माना गया है। जिन पद्यो द्वारा होता देवताओ का आह्वान करता है उन्हे यज्ञ की परिभाषा मे **अनुवाक्य** कहते है, और जिन पद्यो द्वारा वह देवताओ को भेट उपस्थित करता है उन्हे **याज्य**। **होता** के लिए ऋग्वेद सहिता का ज्ञान आवश्यक है, ऋग्वेद उसे कण्ठस्थ होना चाहिए कि सोम-सवन के अनुषग मे प्रयोज्य **शस्त्र** सूक्तो का वह सही सकलन कर सके। अर्थात्--यद्यपि ऋग्वेद सहिता का वैसे कोई सीधा सम्बन्ध 'होता' से नही होता, होता का कर्त्तव्य ही स्वय---उसके अपने स्वार्थ के लिए---ऋग्वेद का ज्ञान आवश्यक करार देता है।

सोमसवन का सम्बन्ध होता द्वारा प्रस्तुत इन **शस्त्र** सूक्तो से तो होता ही है, साथ ही **उद्गाता** तथा उसके सहायको द्वारा गाए गए **स्तोत्रों** का सम्बन्ध भी यज्ञ-प्रक्रिया मे कुछ कम नही समझा जाना चाहिए। ये **स्तोत्र** प्राय ऋग्वेदीय ऋचाओ का ही एक लयमय रूप होते है जिन्हे **साम** कहने की प्रथा है। पुराने जमाने मे इन सामगीतो को सही-सही गाने के लिए विशिष्ट सम्प्रदाय हुआ करते थे जिनमे इन गीतो का सम्पादन इसलिए नही होता था कि ये कोई स्वतन्त्र रचनाए है अपितु इसलिए कि पद व पद्य एक होते हुए भी उस (पद व पद्य) के गान-प्रकार कितने ही हो सकते थे।

और अन्त मे---**अध्वर्यु** का काम होता था कि यज्ञ मे बडी धीमी आवाज के साथ वह निरन्तर गद्यमय **यजुष्**---और, ऋक्-सम्मिश्रित **निवित्**, गुनगुनाता चले।[१] यजुर्वेद मे य मन्त्राश और निवित्-रूप प्रार्थना-पद प्राय विनियोग-नियमो के साथ ही अध्वर्यु का दिशा-निदेश करने के लिए उसी क्रम मे रक्षित है जिस क्रम मे कि वे यज्ञो मे विहित होते है।

यज्ञ-मीमासा के इस विवेचन के अनन्तर अब हम **सामवेद** और **यजुर्वेद** की यज्ञ-परक सहिताओ को लेते है। अब हमने देखना यह है कि---ये **ऋग्वेद** और **अथर्ववेद** की सहिताओ की 'सूत्रिता' मे किस प्रकार भिन्न उतरते है?

१ **आश्व लायन** १. ३ ६; **गोभिल** १ ९. ८– । गृह्य यज्ञो मे ब्रह्मा की आवश्यक नही होती; और पाकयज्ञों में, विशेषत, एक ही ब्रह्मा से गुजारा चला लिया जाता है, यजमान स्वय होता के सब कर्त्तव्य निभा देता है।

२ **शतपथ** १४. २. २. १९ ; **छान्दोग्य** ४ १७. ८– ।

३ **ऐतरेय**-आरण्यक ३ २ ३. ६; **शतपथ** ९. ५. ८ ७ । श्रौत यज्ञो मे तो ब्रह्मा का अथर्ववेद से सीधा कोई सम्बन्ध नही होता; किन्न, गह्य यज्ञो मे क्योकि एक ब्रह्मा ही यज्ञ की सम्पूर्ण विधि को निभाने के लिए पर्याप्त समझा जाता था (और यह कार्य अथर्ववेद की आशीर्वचनो के बिना असम्भव था), तो दोनो मे परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट ही कुछ-न-कुछ था ही, यद्यपि—अथर्ववेद को '**ब्रह्म-वेद**' कहने की परम्परा बहुत पीछे चलकर शुरू हुई ।

४ विधि मे '**स्तोत्र**' पहले आते है, '**शस्त्र**' पीछे। **होता** ऋचाओ का उच्चारण करता है, **उद्गाता** उन्हे गीतमय करता है, जब कि **अध्वर्यु** निरन्तर निवित् गुनगुनाता रहता है, केवल **ऋत्विक्** आदि को वेदि पर बुलाने के लिए ही अध्वर्यु को अपनी आवाज को (निगदो मे) कुछ ऊचा उठाना जरूरी था ।

सामवेद

पुराणों में लिखा है कि किसी समय **सामवेद** की एक हजार संहिताएं थीं। किन्तु आज इनमें तीन बाकी रह गई है, और इन तीन में भी **कौथुम** संहिता ही अधिक प्रसिद्ध है। कौथुम—**पूर्वार्चिक** तथा **उत्तरार्चिक** दो भागों में विभक्त है। दोनों भागों में जो मन्त्र आते है वे प्राय: ऋग्वेद में भी उसी रूप में मिल जाते है। कुल मन्त्र १८१० है जिनमें से यदि आवृत्तियां निकाल दें, तो—१५४९ ही शेष रह जाते है। इनमें ७५ के अतिरिक्त सारे मन्त्र ऋग्वेद के ८वें और ९वें मण्डल में भी तथैव सकलित है। मन्त्रों की रचना प्राय गायत्री छन्द में, अथवा गायत्री तथा जगती मिश्रित प्रगाथा-वृत्तों में, हुई है। इनका मूल उद्देश्य गेय पदों की रचना करना था। ऋग्वेद में न मिलने वाले ७५ मन्त्र अन्य संहिताओं में जहां-तहां, और कभी-कभी कर्मकाण्डपरक ग्रन्थों में भी, प्रकीर्ण मिलते है। सम्भव है इनमें कुछ किसी अज्ञात संस्करण से भी लिए गए हों। वैसे, प्रतीत यही होता है कि, ऋग्वेद की बिखरी पंक्तियों को मिलाकर इनका एक ओर अर्थहीन-सा संस्करण सम्पादित कर दिया गया है, बस। **ऋग्वेद** और सामवेद में कुछ पाठभेद भी मिलते है जिनका अभिप्राय यह समझा जाता है कि कोई और प्राचीनतर संहिता थी जो आज हमें नहीं मिलती। प्रो० ऑफ्रेख्त ने इन पाठभेदों के कारणों को ढूंढने का प्रयत्न किया भी है, और उनका कहना है कि ये पाठ-भेद प्राय गान की सुविधा के लिए जान-बूझ कर किए गए है, क्योंकि—सामवेद के दोनों आर्चिकों में मूलपाठ मौलिक न होकर, किसी लक्ष्य की दृष्टि से, किंचिद् भिन्न है। यह लक्ष्य, सामवेद के सम्पादक का, गान की लय में विद्यार्थी को दीक्षित करना प्रतीत होता है क्योंकि सामवेद के उद्गाता का ध्येय, मुख्यत, सामवेद की मुख्य-मुख्य शाखाओं की आधारभूत लयों का अध्ययन ही हुआ करता था। पहली सहायता इनमें पूर्वार्चिक जुटाता, तो यज्ञ के गानों में स्तोत्रों को मौखिक गाने के लिए पुन उत्तरार्चिक का सहारा लेना पडता।

पूर्वार्चिक में कुछ मिलाकर ५८५ ऋचाएं है जिन्हें, वहां, विभिन्न यज्ञों की सगति में—विभिन्न लयों से सयुक्त कर दिया गया है। **साम** का मूल अर्थ लय था, यद्यपि पीछे चलकर उसका अभिप्राय गेय 'गेय ग्रन्थ' भी समझा जाने लगा। आजकल हम कहते है कि अमुक पद अमुक लय में गाया जाना चाहिए, जबकि भारतीय परम्परा इसके विपरीत यह प्रतीत होती है कि "अमुक लय अमुक साम का उदगीत है", और सचमुच वैदिक धर्मशास्त्रों में लय को पद से प्रसूत मानने की प्रथा भी है। उनकी परिभाषा में ऋचा 'योनि' है जिससे साम का (प्र)सवन होता है। और

यद्यपि एक ही पद को, कितनी ही स्वाभाविक लयो मे गाया जा सकता है—और यद्यपि एक ही लय कितना ही विभिन्न पदो को दी जा सकती है—तथापि भारत मे कुछेक विशिष्ट पदों को कुछ-ही विशिष्ट लयो की योनि माना जाता था। इस प्रकार **पूर्वार्चिक** मे ५८५ ऐसे पद संगृहीत हैं जिनको प्राय १२०० लयो मे गाया जा सकता है।[3] इस दृष्टि से हम सामवेद को एक ऐसा गान-ग्रथ कह सकते हैं जिसमे प्राय गीत का प्रथम पद ही अकित हुआ है कि गाने वाले को लय स्मरण करने मे मुश्किल पेश न आये।

उत्तरार्चिक मे, दूसरी ओर, तीन-तीन पदो के प्राय ८००छन्द है जिन्हे महासत्रो मे स्तोत्र-रूप मे गाने की प्रथा थी। पूर्वार्चिक मे जहा पदों अथवा सूक्तो को छन्द तथा देवतानुसार सकलित किया गया है, वहा उत्तरार्चिक मे तत्सम्बद्ध मुख्य-मुख्य स्तोत्रो को ही प्रमुख-मन्त्रो-के-अनुसार[4] प्रस्तुत किया गया है। **इस** प्रकार—तीन या तीन से अधिक पदो का स्तोत्र **पूर्वार्चिक** मे निर्दिष्ट किसी एक ही लय के अनुसार गाया जा सकता था अर्थात्—**उत्तरार्चिक** एक ऐसा गीत-सग्रह है जिसमे प्रत्येक गीत का पूर्ण रूप दिया हुआ है जबकि उस गीत का लय-सकेत **पूर्वार्चिक** मे पहले ही दिया जा चुका है। सो, **उत्तरार्चिक** सचमुच **पूर्वार्चिक** के अनन्तर सम्पादित हुआ—इसमे कोई सन्देह नही रह जाता।[5] इस सम्भावना की पुष्टि मे हम देखते भी है कि **पूर्वार्चिक** मे सगृहीत लयो मे कितनी ही लयें ऐसी है जिनका **उत्तरार्चिक** मे कोई प्रयोग नही हुआ, और साथ ही—उत्तरार्चिक मे कितने ही गान ऐसे है जिनके लिए **पूर्वार्चिक** मे कोई लय उपदिष्ट नही। **उत्तरार्चिक** इसके अतिरिक्त, **पूर्वार्चिक** का एक पूरक भी कहा जा सकता है जिसे हम उद्गाता के लिए एक और आर्चिक समझ सकते है।

सहिता के दोनो भागो मे मौखिक परम्परा ही सगृहीत है, क्योकि—गीत मे शिक्षित होने के लिए मौखिक तथा वाद्य विद्या का सहारा लेना आवश्यक था। लयो को षड्ज आदि स्वरो मे अकित करने के लिए पीछे चल कर गान-पुस्तके भी लिखी गई जिनमे प्रत्येक ऋचाओ के अक्षरो एव पदो का आयाम, आवर्त्तन, आगम स्पष्ट अकित है (जहा गीत-प्रवाह मे **होयि**, **हुआ**, **होई**, आदि का अभ्यागम ठीक वैसा ही प्रतीत होता है जैसे पश्चिम मे आनन्दातिरेक मे श्रोता या गाता के मुख से निरवश '**हुज्जा**' सरीखा कोई उद्गार आप से आप सख से निकल आता है। इन आवर्त्तनो तथा उद्गारो की परिभाषा थी '**स्तोम**'—जिसके लिपि-बन्धन के लिए सर्वप्रथम **त**, **चो**, **ण** आदि अक्षरो का प्रयोग किया गया। सात मूल स्वरो को मान सख्याओ १, २, ३, ४, ५, ६, ७ द्वारा उसी प्रकार अकित करने की प्रथा थी जिस प्रकार हमारे यहा F, E, D, C, B, A, G की परम्परा है। वैदिक गानो को गाते हुए स्वर-सकेत पुरोहित अपने हाथो और उगलियो की विविध गतियो से किया करता था।[6]

पूर्वाचिक मे सलग्न एक **ग्राम-गेय-गान** तथा एक **आरण्य-गान** भी है : जिसमे आरण्य-गान को कुछ भयावह-सा समझा जाता था और, सो, इन गीतों की लय को जगल मे ही, ग्रामो मे नही, सीखने का विधान था।[१] इन दोनो गानो के अतिरिक्त **ऊह गान** तथा **ऊह्य गान** मे ऋचाओ को उसी क्रम मे सकलित किया गया है जिस प्रकार कि यज्ञों मे उन्हे ग्राम-गेय तथा आरण्य गानो के प्रसग मे गाया जाना चाहिए।

शुरू-शुरू मे, सचमुच, साम-गान की लयें असख्य (८००० ?) ही होगी, और हर लय का अपना-अपना पृथक् नाम होता होगा। कर्मकाण्ड की पुस्तको मे उन्हे उनके नाम से ही सकलित किया गया है, और ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदो, के रहस्यावाद ओर सकेतवाद के विकास मे उनका योग भी कुछ कम नही रहा होगा। इन लयो मे **बृहत्** ओर **रथन्तर** का उपवर्णन और प्रयोग तो **ऋग्वेद** के युग से चला आता था। सो, ये लयें सभवत पुरोहितो की निजी रचना न होकर प्रागैतिहासिक लोक-गीतो के अवशेष है जिन्हे प्राचीन सत्रो तथा सक्रान्ति आदि महोत्सवो के प्रसग मे गाने का रिवाज था, हो सकता है—कुछ का सम्बन्ध (ब्राह्मण-धर्म से भी प्राचीन) जादू-टोनो से, रमते फकीरो के उस युग से, हो जब जादूगर छडी घुमाकर, उसे उलटा-सीधा पटक कर ओर निरर्थक शोर मचा कर, इनके साथ लोगो को प्रभावित किया करता था।[१] साम-गानो मे अकित 'स्तोत्र' नामक खुशी-के-उद्गारो का सकेत स्पष्ट है कि ये किस युग के अवशेष है, इसके अतिरिक्त, परतर ब्राह्मण-युग मे इन्हे विशिष्ट अद्भुत-शक्तियो से सम्पन्न माना भी गया है। सामवेद के कर्मकाण्ड से सम्बद्ध **साम-विधान-ब्राह्मण** का उत्तर भाग जादू-टोनो पर एक अच्छा शिक्षा-शास्त्र माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण-धर्म के एक विनिश्चित रूप मे आने से पूर्व विश्वास यह था कि यदि कही कोई साम की ध्वनि सुन पडे तो **यजुर्वेद** और **ऋग्वेद** का पाठ एकदम बन्द कर देना चाहिए, विशेषत **आपस्तम्ब** धर्म-सूत्र[२] मे तो एक स्पष्ट नियम उद्धृत भी है कि कुत्तो, गधो, गीदडो, भेडियो, उल्लुओ की, यहा तक कि वाद्य तन्त्रो की और रोने की, आवाज सुन कर—और **सामगान** सुन कर—ब्राह्मण को चाहिए कि वह वेदपाठ करना एकदम बन्द कर दे!

इस प्रकार, सामवेद सहिता का महत्त्व जहा भारतीय यज्ञ-परम्परा और जादू-परम्परा के इतिहास के लिए अपरिहेय है वहा **'भारतीय संगीत-शास्त्र'**[३] की उत्पत्ति पर भी उससे बहुत-कुछ प्रकाश पड सकता है—यद्यपि ऐसा कोई उपयोग सामवेद के गानो का अब तक वस्तुत किया नही गया। साहित्यिक रूप मे, वैसे, सामवेद का महत्त्व नगण्य है।

१ शेष दो सहिताओ के नाम क्रमश: **राणायनीय** तथा **जैमिनीय** है।
२ Theodor Aufrecht *Rgveda* (2nd ed, Bonn, 1877) II, pp xxxviii ff (Cf also Brune· *Zur Textkritik* der *dem*

Samaveda mit dem achten Mandala des Rgveda gemeinsamen Stellen, Diss, Kiel, 1909, and Oldenberg· *Hymnen des Ṛgveda* I, pp. 289 ff

३ Oldenberg· GGA, 1908, 712 A.

४ Hillebrandt· *Ritualliteratur* (Grundriss, III, 2), pp. 99 ff.

५ For the controversy, see Oldenberg, GGA, 1908, 713, 722.

६ Cf A. C. Burnell : *Arsheya Brahmana of the Sāma Veda* (Mangalore, 1876), Intro xxviii, xli-xlviii; Caland. *Die Jaiminīya Saṃhitā*, 2 ff, 10, Oldenberg GGA, 1908, 722 ff

७ A. Hillebrandt· *Die Sonnwendfeste in-Alt-Indien* (Sep aus der Festschript fur Konrad Hof mann), Erlingen 1889, 22 ff 34 ff, Bloomfield, *The God Indra and the Sāma-Veda*, in WZKM, 17, 1903, 156 ff

क्या 'साम' का मूल अभिप्राय, अवस्ता के शमनो की भाति, शान्ति-उपचार था। छन्दोगो मे 'साम' की व्युत्पत्ति √छन्द् (√चदि) आह्लादे से करने की प्रथा 'छन्दस्' भी है।

८ १.३.१.१९

९ Oldenberg : *Samaveda* (GGGA, 1908, 734), E Felber · *Die indische Musik der vedischen und der klassischen Zeit, mit Texten und Uebersetzungen von B Geiger*, SWA, 1912, R. Simon, , *Die Notationen der vedischen Liederbucher*, WZKM, 27, 1913, 305 ff.

वैदिक पदो को मूल भावना को आधारित करने के लिए भाषा-विज्ञान के साथ-साथ 'प्राचीन भारतीय सगीत' का परिचय भी आवश्यक है। प्रोफेसर फेल्बर के (वियना एकेडमी की 'फोनोग्राम-आर्कीव' मे सुरक्षित) क्रियात्मक अनुसन्धान भी आखिर तीन हजार साल पुरानी गीत-परम्परा के लिए कहा तक प्रामाणिक कहे जा सकते है ?

यजुर्वेद

सामवेद यदि उद्गाता के हाथ मे एक गान-पुस्तक है, तो **यजुर्वेद** मे अध्वर्यु की सुगमता के लिए वैदिक प्रार्थनाए-निवेदन सगृहीत है। व्याकरणकार पतजलि का कहना है कि "अध्वर्यु-वेद की एक-सौ-एक शाखाए मिलती है", यह असम्भव भी नही, क्योंकि—यज्ञ के विभिन्न कर्मकाण्डो मे अध्वर्यु के कर्त्तव्यो तथा अध्वर्यु द्वारा प्रस्तूयमान निविदो के विषय मे पर्याप्त मतभेद रहा है और, तदनुसार, सभव है अध्वर्यु की सहायता के लिए विभिन्न मतो ने विभिन्न कर्मकाण्ड-पुस्तक तथा प्रार्थना-पुस्तक प्रचलित भी किए हो। यज्ञ-प्रक्रिया मे जरा-से मतभेद अथवा परिवर्तन से एक नया सम्प्रदाय खड़ा होना कोई अस्वाभाविक प्रतीत नही होता; खैर, लेकिन जो अवशिष्ट रूप इन मतभेदो का आज, यजुर्वेद की शाखाओं के रूप मे, मिलता है—उनकी सख्या केवल पाच है और वह इस प्रकार है —

१ **काठक** सहिता,

२ **कपिष्ठल-कठ** सहिता (जिसकी केवल एक टूटी-फूटी हस्तलिपि ही उपलब्ध हो सकी है),

३ **मैत्रायिणी** सहिता;

४. **तैत्तिरीय** अथवा **आपस्तम्ब** सहिता,

ये चार सहिताए किसी एक मूल मे ही उद्भूत हुई प्रतीत होती है जिसे वैदिक परम्परा मे **कृष्ण-यजुर्वेद** का नाम दिया जाता है, जब कि—

५ **वाजसनेयि**-सहिता (जिसका नामकरण याज्ञवल्क्य-वाजसनेय के नामकरण पर हुआ) के भी कठ तथा माध्यन्दिन, दो परस्पर मिलते-जुलते से, सस्करण (**शुक्ल यजुर्वेद** के) आज मिलते है।

शुक्ल तथा **कृष्ण** यजुर्वेद मे भेद केवल इतना ही है कि वाजसनेयि-सहिता मे जहा केवल मन्त्र, स्तुति तथा उपासना ही उपस्थित है, कृष्ण यजुर्वेद मे वहा इनके अतिरिक्त यज्ञप्रक्रिया की तथा यज्ञप्रक्रिया-परक किंचित् विवेचन को भी साथ-साथ दे दिया गया है अर्थात्—**कृष्ण** यजुर्वेद की सहिताओ मे वैदिक मन्त्रो के साथ (वैदिक परिभाषा का) ब्राह्मण-अश भी प्रत्येक प्रसग मे, यथावसर, सगृहीत है! और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि—अध्वर्युओं का कर्त्तव्य जब एक बार निश्चित हो गया कि यज्ञ से सम्बद्ध प्रत्येक अग का निर्वाह उन्हे ही करना होगा (और, सो, क्योंकि इन मन्त्रो मन्त्राशो का महत्त्व, सम्पूर्ण यज्ञ-परम्परा मे, बहुत ही कम हुआ करता था), तदनुसार—यजुर्वेद की प्रार्थना-पुस्तको मे निर्देश-आहुत्य

असगत नही ठहराया जा सकता । इसके अतिरिक्त, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **कृष्ण** यजुर्वेद **शुक्ल** यजुर्वेद की अपेक्षा एक प्राचीनतर सहिता है जिसका पुनः—सम्पादन आगे चल कर, शेष वेदो के अनुकरण पर, विशुद्ध मन्त्र-रूप मे भी कर दिया गया ।[१]

और यजुर्वेद की एक ही सहिता की विभिन्न शाखाओ मे पुरोहितो और धर्म-प्रवक्ताओ की दृष्टि से भले ही पर्याप्त मतभेद रहा हो, आज हमारे लिए उस मत-भेद का कुछ महत्त्व नही है, और, सम्भवत काल-दृष्टि से भी **कृष्ण** तथा **शुक्ल** संहिता की शाखाओ मे परस्पर अन्तर कभी उतना न रहा हो । इसलिए—वाजसनेयि-सहिता का विषय विवेचन ही यजुर्वेद की सारी शाखाओ मे परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए ।

वाजसनेयि-सहिता मे ४० अध्याय है जिनमे अन्तिम १५ (शायद २२) अध्याय मूल मे पीछे से जोड दिए गये प्रतीत होते है । यजुर्वेद के पहले २५ अध्यायो मे महामत्रो के प्रसग मे पढी जाने वाली प्रार्थनाए सगृहीत है । प्रथम २ अध्यायो मे **दर्श** और **पूर्णमास** (चन्द्र-सम्बन्धी) दो मत्रो का विधान है जिनमे **पिण्ड-पितृ यज्ञ** परक आहुतिया देने का जिक्र भी है । तीसरे अध्याय मे दैनिक '**अग्निहोत्र**' के प्रार्थना-मन्त्र, **अग्न्याधान**, प्रात तथा साय पढे जाने वाले विशिष्ट आग्नेय मन्त्रो का, एव **चातुर्मास्य** सत्र का उल्लेख है । **सोम**[२]-**यज्ञ** सामान्य रूप मे, तथा सोम-सम्बद्ध पशु-यज्ञ, के प्रकरण मे (चौथे से आठवे तक) पाच अध्यायो का विषय है । सोम-यज्ञो मे कुछ यज्ञ यदि एक दिन की अवधि के है तो कुछ कितने ही दिनो तक फैल जाते है । एक-दिवस यज्ञो मे हम क्षत्रियो तथा राजन्यो की रथेष्टियो से सम्बद्ध **वाजपेय** सत्र का निर्देश पाते हे जिसमे सोम-पान की भी अनुमति थी (यद्यपि सोम-पान का विधान अन्यत्र ब्राह्मणो के लिए ही हुआ है)। **राजसूय** का सम्बन्ध राजाओ से ही हुआ करता था, परन्तु इस यज्ञ के साथ सलग्न दो-एक प्रथाए और भी थी, जैसे—जय-यात्रा का नाट्य, जूए के एक-दो दौर, और तरह-तरह के जादू-टोने - इन दोनो सत्रो से सम्बद्ध मन्त्रो का विधान नवम तथा दशम अध्याय मे मिलता है । इसके अनन्तर ११वे से १८वे अध्याय तक **अग्निचयन** सम्बन्धी—विविध मन्त्रो तथा मन्त्राशो का सम्पादन हुआ है, क्योकि—यह अग्नि-चयन सारा साल, निरन्तर, चलता रहता था और अग्नि-चयन के प्रत्येक अग की, प्रत्येक रहस्य की, व्याख्या ब्राह्मणो मे भी काफी खोलकर की गई है । यज्ञवेदि ही अग्निदेव का पार्थिव प्रतिरूप है और, सो, पुजारी की ध्यान-धारणा का एकमात्र विषय है । यज्ञवेदि को १०८०० ईटो से, एक पख-फैलाए विशाल - पक्षी के रूप मे, बनाने का आदेश हे । वेदि के निम्नतर आधार मे पाच यज्ञ-पशुओ को गाडा जाना चाहिए और इन पशुओ के शरीरो को पवित्र जल मे फेंक कर हो ईटे और यज्ञ-पात्र बनाने चाहिए । इन ईटो मे प्राय. प्रत्येक का

पृथक् नाम है, पृथक् निर्माण-प्रकार है। उसी प्रकार, यज्ञ के पवित्र पात्र को पकाने का भी एक विशिष्ट ढंग विहित है। छोटे-छोटे प्रक्रियागो का अपना-अपना अर्थ है, अपना-अपना रहस्य है जो बिना विशिष्ट मन्त्रों-मन्त्रांशों के शक्तिहीन हो जाता है। १९ से २१ के तीन अध्यायो मे **सौत्रामणि** सत्र का उपवर्णन हुआ है जिसमे सोम के स्थान पर **सुरा** का प्रयोग विहित है, और इस यज्ञ की आहुतियो के देवता है— अश्विनी कुमार, सरस्वती और इन्द्र। इस यज्ञ का विशेष प्रसग कोई भी ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसने सोमपान मे इतनी अति कर दी हो कि अब सोम का उस पर कोई प्रभाव ही न पड़ता हो, मूल अभिप्राय इस यज्ञ का शायद यही था; किन्तु इसके अतिरिक्त—ब्राह्मण किसी कार्य मे सफलता के लिए, निर्वासित राजा खोए राज्य को पुन प्राप्त करने के लिए, क्षत्रिय विजय के उद्देश्य से, तो वैश्य धन कमाने की गर्ज से . इसका उपयोग कर सकता है। यज्ञ के कितने ही मन्त्र इन्द्र की उस पुरानी गाथा की ओर सकेत करते प्रतीत होते है जिसमे सोमपान मे मस्त, और होशहवास खो-बैठे देवराज का उपचार कभी, कहते है, अश्विनीकुमारो ने और सरस्वती ने किया था। और अन्त मे २२ से २५ तक के चार अध्यायो मे प्राचीन चक्रवर्त्तियो के प्रिय यज्ञ **अश्वमेध** का वर्णन है। पुरानी गाथाओं मे तथा महाकाव्यो मे हम कितने ही राजाओ का उल्लेख पाते है कि वे अश्वमेध कर के चक्रवर्ती बने, लोक-लोकान्तर के स्वामी बने। अश्वमेध को वैदिक यज्ञो का शीर्ष-स्थानीय समझा जाता है और इसी के साथ प्राचीन वाजसनेयि-सहिता समाप्त होती है। २२वे अध्याय के २२वे मन्त्र मे अश्वमेध के चरम ध्येय को इन सुन्दर शब्दो मे अकित किया गया है —

विश्व में, सभी-कहीं—
वर्चस्वी,
ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मणों की 'शान्त ज्योति' की छाया हो;
तेजस्वी
शूर, धनुर्धारी, महारथी क्षत्रियों का अनुशासन हो।
घर-घर में सम्पन्नता हो—
दुधेला गाए, शक्तिशाली वृषभ, और फुर्तीले घोड़े,
और साध्वी गृहिणियां घर-घर की शोभा बढ़ायें;
यजमान का घर—
वीर-पुत्र की विजयों से
वीर-गीतों से, वीर-प्रवचनो से . .
—प्रतिध्वनित होता रहे।
पृथ्वी पर, कहीं भी,
मेघ अकाल न आने दें,

वनस्पतियां फलें-फूलें :
सभी-कहीं खुशहाली ही खुशहाली नजर आए ।

हमने कहा था कि यजुर्वेद के अन्तिम १५ अध्याय मूल यजुर्वेद का भाग नही है, क्योकि–एक तो २६ से ३५ अध्याय तक आपूर्ण यजुर्वेद को स्वय भारतीय ही खिल अर्थात् परिशिष्ट मानते आए है, साथ ही—यह भी प्रसिद्ध है कि २६ वे से २९वें अध्याय तक का ग्रन्थाश पिछले अध्यायो की परिपूर्ति-मात्र है। इसके अतिरिक्त ३० वा अध्याय तो पुरुषमेध मे आहुति रूप पडने वाले विविध पशुओ की परिगणना के अतिरिक्त कुछ और है भी नही—कही भी कोई प्रार्थना नही, कोई मन्त्राश नही, और जिन देवताओ को यह आहुति पडनी है, वे भी क्षण-एक के लिए देव-पद प्राप्त कर चुकी कुछ (पार्थिव) शक्तिया ही है—बस। **पुरुषमेध** के प्रसग मे कम से कम १८४ पशुओं, मनुष्यो को ज़िबा कर देने का हुक्म है जिसके कुछ उदाहरण ये है "ब्राह्मण को पुरोहित देवता के लिए, क्षत्रिय को राजन्य देवता के लिए, वैश्य को मरुतो के लिए, शूद्र को तप के लिए, चोर को अन्धकार के लिए, हत्यारे को नरक के लिए, नपुसक को पाप के लिए, वेश्या को हीन वासना के लिए, गायक को शोर-शराबे के लिए,भाट को नृत्य के लिए, अभिनेता को गान के लिए, शिकारी को मौत के लिए, जुआरी को जुए के लिए, अन्धे आदमी को नीद के लिए, बहरे को अन्याय के लिए, आग लगाने वालो को चमक-दमक के लिए, धोबिन को 'यज्ञ' के लिए, रगरेज औरत को 'इच्छा' के लिए, बाझ औरत को यम के लिए, बसी-वाले को उत्सव की खुशी के लिए, सितार बजाने वाले को 'चीख' के लिए, लगडे आदमी को पृथ्वी के लिए, और गजे को स्वर्ग के लिए (!)—हम अर्पित करते है।" यह असम्भव प्रतीत होता है कि इतने प्रकार के आदमियो को एक साथ देवार्पित करने के लिए कभी सचमुच शाला मे लाया जाता हो। मूल भावना साकेतिक प्रतीत होती है। इन विविध पुरुषो की गुडिया बना कर अथवा नाम से ही उन्हे आग के अर्पित किया जाता था—असम्भव नही। और तो और—इस साकेतिकता मे अश्वमेध भी पुरुषमेध* से पछाड खा गया, सो, स्पष्ट ही है कि यज्ञ-याग का पूर्ण आडम्बर मूल रूप मे रहस्यात्मक ही अधिक था। हमारी इस कल्पना की पुष्टि मे यजुर्वेद ३१ मे सम्पादित **पुरुषसूक्त** का 'एक और रूप' दिया जा सकता है जिसमे प्राय ऋग्वेद ९ ९० के प्रसिद्ध शब्दो मे ही पुरुषमेध द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का विशद वर्णन है और, साथ ही, वहा सूक्त के अन्त मे पुरुष को ही विश्वरूप कह कर, सृष्टि का परमोत्कर्ष बताते हुए, स्वय (पुरुषमेध) सूक्त को उपनिषद् का नाम दे दिया गया। अध्याय ३२ भी, विषय एव विषय के उपन्यास की दृष्टि से, एक उपनिषद् ही ठहरता है जिसमे पुरुष को, एव ब्राह्मण को, स्रष्टा एव प्रजापति की उपाधि दी गई है। अध्याय ३४ के प्रथम छ मन्त्रो का तो नाम ही है—

शिवसंकल्पोनिषद् । अध्याय ३२-३४ में सम्भवत सर्वश्रेष्ठ यज्ञ, **सर्वमेध**, का उल्लेख है जहा यजमान अपना जीवन-शेष, वानप्रस्थ रूप मे बिताने से पूर्व, अपनी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति को ब्राह्मण देवता के हाथ, अन्तिम दक्षिणा के रूप मे, दे जाता है। अध्याय ३५ मे ऋग्वेद से सगृहीत कुछ **अन्त्येष्टि** मन्त्र है। अध्याय ३६-३९ मे उसी प्रकार **प्रवर्ग्य** से सम्बद्ध कुछ मन्त्र हैं जिनमे एक बड़े कड़ाहे को यज्ञ-कुण्ड पर इतना तपाया जाता है कि वह लाल होकर सूर्य की तरह चमकने लगता है और, उसे सूर्य का प्रतिरूप समझ कर ही, उसमे दूध उबाला जाता है और उस दूध को आहुति रूपमे अश्विनों के मुख मे डाल दिया जाता है। प्रवर्ग्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया अद्यावधि स्पष्ट नही हो पाई, इसकी परिसमाप्ति यज्ञपात्रों को 'पुरुष' के रूप मे सजाकर ऐसे की जाती है कि—दुग्ध-पात्र पुरुष का सिर प्रतीत हो (जिस पर केशो की भ्रान्ति कुश-निक्षेप द्वारा करने का विधान भी है), दो दोहन-पात्र इधर उधर रख दिए जाते है (जो उस पुरुष-मूर्ति के दो कान-से लगते है), दो स्वर्ण-पत्र पुरुष की आखे लगती है तो दो छोटे-छोटे पात्र उसकी एड़िया, और फिर आटा छिड़क कर, पुरुष-कंकाल की सम्भावना उपस्थित करते हुए, दूध और शहद की मिश्रित धाराए रक्त-वाहिनियो का चित्र उपस्थित करने लगती हैं। प्रक्रिया के सभी अग प्राय वैसे ही है जसे तान्त्रिको के कर्मकाण्ड मे हम (वाममार्गीय दर्शनों मे) सामान्यत पाते है।[x] और चालीसवा अध्याय, यजुर्वेद का, तो सचमुच है ही **ईशोपनिषद्** जो सभी उपनिषद् सग्रहों मे सकलित है (और जिसका उल्लेख हम आगे चल कर उपनिषदों के अध्याय मे करेगे भी)।

यह वर्णन स्वत -पर्याप्त है जिससे स्वय सिद्ध हो जाता है कि यजुर्वेद के अन्तिम १५ अध्याय प्रक्षिप्त प्रकरण है। इस बात की पुष्टि, अन्यथा, **कृष्ण यजुर्वेद** मे आलोचित यजुषो द्वारा भी हो जाती है, क्योकि—उन मन्त्रों तथा मन्त्राशो मे **शुक्ल** सहिता का प्रथम भाग ही उद्धृत हुआ है।

अब हम यजुर्वेद मे आए मन्त्राशो तथा यज्ञ-विधान परक वाक्यों को लेते हे—जिनसे कि यजुर्वेद की शाखाओं का मुख्य अग विनिर्मित होता है। यज्ञ-विधि मे ऋचाओ तथा गद्याशो का प्रयोग साथ-साथ होता है। गद्याशो की परिभाषा है **यजुष्** और यजुषो के समुदय को ही दूसरे रूप में यजुर्वेद कह सकते है, किन्तु इन गद्याशो अथवा यजुषो की भी प्राय अपनी ही लय होती है, अपनी ही काव्यमयता होती है। ऋचाए प्राय. ऋग्वेद से ही ली गई होती है। किन्तु यजुषो की अपनी उडान भी कुछ कम नहीं। यजुर्वेद की ऋचाओ मे कहीं-कहीं पाठभेद भी है, किन्तु वह पाठभेद मूल यजुर्वेद मे किसी कदर कम पुराना नहीं, क्योंकि—ये परिवर्तन ऋचाओं को वस्तुत. यज्ञ-प्रक्रिया मे सुसगत करने के लिए ही समय-समय पर होते रहे होगे। ऐसे स्थल बहुत ही कम है जहा ऋग्वेद के सूक्त

के सूक्त ही यजुर्वेद में उद्धृत हुए हो। प्रायः एक-दो ऋचाएं ही, या ऋचा के कुछ अंश ही, यज्ञ के प्रसंग मे अनुकूलता के साथ बिठा दिए गए है। स्वयं यजुर्वेद की दृष्टि मे इन ऋचाओ का वह महत्त्व नही जो विशुद्ध यजुर्वेदीय गद्य मन्त्रो का होता है।

यजुष् का सरलतम रूप वह है जिसमे देवता का नाम लेकर आहुति को चुपचाप अग्निमुख मे डाल दिया जाता है और यजुर्वेद मे इस तरह के मन्त्राश है भी वस्तुत बहुत अधिक है: **अग्नये त्वा, इन्द्राय त्वा, इदमग्नये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा** इत्यादि। और, यह कह कर, आहुति को एक ओर रख दिया जाता है, या, आग मे डाल दिया जाता है। **अग्निहोत्र** मे जिस प्रकार एक छोटे मे वाक्य द्वारा अग्नि को स्तुति और (दूध की) आहुति अर्पित की जाती है, उसमे और छोटा रूप प्रार्थना का दूसरा हो भी क्या सकता है? **अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्नि, स्वाहा**—इस प्रकार साझ के वक्त, तो—**सूर्यो ज्योति, ज्योति सूर्य, स्वाहा** के साथ प्रात काल। और यज्ञ की इस पवित्र प्रक्रिया का मानवीय ध्येय क्या है, यह भी बहुत थोडे शब्दो मे ही कह दिया जाता है पुरोहित उठता है और एक शाखा काट कर बछडो को गौओ से पृथक् करते हुए कहता है --**रसाय त्वा शक्तये त्वा**। इसी प्रकार, इन पवित्र कार्यों मे प्रयुक्त होने वाले पात्रो के साथ भी कोई न कोई इच्छा जोड दी जाती है, यहा तक कि—यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करने वाली समिधाओ को अर्पित करते हुए ऋत्विक् के शब्द होते है 'अग्नि ने तुझे प्रज्वलित किया, तुझ मे अग्नि की जीवन-ज्योति समा जाय और, समाकर, हमे भी प्रज्वलित कर दे, प्रत्युज्जीवित कर दे।' और यदि यज्ञवेदि पर प्रयुक्त होने वाले किसी भी साधन मे किसी प्रकार की कोई आशका हो, तो छोटा-सा एक वाक्य पढ कर उसके दुष्प्रभाव का नष्ट कर दिया जाता है। जिस रस्सी से मेध्य-पशु को यूप के साथ बाधा जाता है वेदो मे उसके लिए सम्बोधन है 'तू साप न बन जाना'। वह छुरी जिससे वैदिक मन्त्रो के साथ दाढी के बाल काटे जाते है, जैसे सुन सकती हो 'तू कोई जख्म न कर देना!' राज्याभिषेक के समय—राजा की आखे नीची होती है, और उसकी प्रार्थना होती है '(पृथ्वी) मा! मैं तुझे, कभी दुख न पहुचाऊ; तेरी गोदी मे मै सुख ही सुख पाऊ।'[1]

इन यज्ञ-परक मन्त्रो से देवताओ को सीधे शब्दो मे सम्बोधित नही किया जाता जब तक कि पहले उनका सम्बन्ध प्रसगात् यज्ञगत किसी पात्र अथवा प्रक्रिया से बन न चुका हो। उदाहरणार्थ—यजमान की पत्नी को रस्सी से बाधते हुए पुरोहित कहता है "तू रस्सी नही, अदिति की मेखला है।' सोम-सवन के उत्सव मे यजमान, स्वय अपने को मूज की मेखला मे बाधते हुए, कहता है "तू अगिरस् की शक्ति है, तू ऊन की तरह कोमल है—तेरी यह मृदुता मुझे बल दे।" और इसके अनन्तर कौपीन मे गाठ बाधता हुआ यह कहता है 'तू सोम की ग्रन्थि है।' और

फिर—सिर पर पगड़ी बांधता हुआ, या उत्तरीय पहनता हुआ, वह गुनगुनाता है: तू विष्णु का आवरण है, यजमान का आवरण है।" कृष्णमृग के सींग को, उत्तरीय के एक पल्ले मे बाधते हुए, अन्त मे, सम्बोधन करता है : 'तू इन्द्र की योनि है।" यज्ञ की समाप्ति पर, रथ से यज्ञ का प्रसाद लेते हुए, पुरोहित के शब्द होते हैं : 'तू अग्नि की देह है, मै तुझे विष्णु के अर्पित करता हू'; 'तू सोम की देह है, मै तुझे विष्णु के अर्पित करता हू।' यज्ञपात्र ग्रहण करते समय, पुरोहित की प्रसिद्ध उक्ति होती है : "सविता के आदेश से मै तुझे अश्विनी-कुमारो की बाहो द्वारा, और पूषा के हाथों द्वारा, ग्रहण कर रहा हू।"[१]

यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित करने का प्रकार भी निश्चित होता है; और, इस प्रकार, अरणियो की रगड से पैदा होने के कारण हम आग को उन्ही अर्थो मे **अरणि-पुत्र** मान सकते है—जिस प्रकार पिता और माता के सयोग से, सामान्यत:, प्राणी का जन्म होता है! किसी-किसी स्थल पर तो—जिस प्रकार आज भी इण्डोनेशिया मे मलय लोग अरणियो को माता और पिता नाम से स्मरण करते है, उसी प्रकार वेदो मे सोम-सवन के प्रसग मे अग्नि-समिन्धन के समय दोनो अरणियों को पुरुरवस् तथा उर्वशी (दो प्रेमियो) के नाम से स्मरण किया भी गया है। लकडिया रगडते हुए ऋत्विक् कहता है 'तू अग्नि की योनि है, तू आयु की योनि है,' और—कुश की दो पत्तिया ऊपर रखते हुए पुन., उन पत्तियो को पुरुष के वीर्योत्पादक अगो के नाम से स्मरण करता है। लकड़ी का एक छोटा-सा फलक बिछाते हुए, कहता है 'तू उर्वशी है' और, दुग्ध पात्र को यज्ञकुण्ड पर रखते हुए लकडी से उसे हिलाता जाता है और कहता जाता है : 'तू आयु है', 'तू आयु है'; दोनो लकडियो को एक साथ मिलाकर ऊपर वाली लकडी को सम्बोधन करके कहता है—'तू पुरूरवस् है'; दोनो लकडियो को हिलाता है, रगडता है, और साथ-साथ कहता चलता है, 'मै तुझे त्रिष्टुभ् द्वारा उद्दीप्त करता हूं, गायत्री द्वारा उद्दीप्त करता हू, जगती द्वारा उद्दीप्त कर रहा हू'।[२]

इस प्रकार के निरर्थक मन्त्रो व मन्त्राशो की यजुर्वेद मे भरमार है। ऐसे सुसगत स्थल, शृखलित स्थल अथवा वाक्य, जिनमे यजमान गद्य मे अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करे (जैसे कि अश्वमेध के प्रकरण मे हमने ऊपर देखा भी था), सचमुच बहुत कम है। सामान्यत छोटे-छोटे मन्त्राश ही कुछ सार्थक विचार प्रकट करते प्रतीत होते है—

हे अग्नि,
तू शरीरो का रक्षक है :
तू मेरे शरीर की रक्षा कर।
हे अग्नि,

तू जीवन का दाता है:
मुझे जीवन दे ।
हे अग्नि,
तू शक्ति का दाता है :
मुझे शक्ति दे ।
हे अग्नि,
तू मेरी अपूर्णताओं को पूर्ण कर दे
यज्ञ के द्वारा
हमारे जीवन में, हमारे प्राणों में,
हमारी दृष्टि में, हमारी श्रुति में,
हमारी दृढ़ता मे, हमारी यज्ञमयता में,
—पूर्णता आ जाए ।

किन्तु, इसके विपरीत, कितने ही यजुष् हमे इस प्रकार के मिलते है जैसे कोई पारावार हो और उसका ओर-छोर हमे समझ न आए .

एकाक्षर द्वारा
अग्नि ने प्राण पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
द्वयक्षर द्वारा
अश्वियो ने द्विपदों पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
त्र्यक्षर द्वारा
विष्णु ने तीनो लोकों में विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
चतुरक्षर द्वारा
सोम ने चतुष्पाद्-जगत् पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
पंचाक्षर द्वारा
पूषा ने पांचो लोकों पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
षडक्षर द्वारा
सविता ने छः ऋतुओ पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।

सप्ताक्षर द्वारा
मरुतों ने सात गृह-पशुओं पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
अष्टाक्षर द्वारा
बृहस्पति ने गायत्री पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
षोडशाक्षर द्वारा
अदिति ने षोडशविध स्तोम पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
और सप्तदशाक्षर द्वारा
प्रजापति ने सप्तदशविध स्तोम पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं। (वाज० ९. ३१-३४)

इन प्रार्थनाओं में, यज्ञ-मन्त्रों में, जो निरर्थकता का आभास हमें होता है, उसका कुछ कारण है वह यह कि—परस्पर-असगत वस्तुओं को यजुर्वेद में कुछ बेमतलब जोड देने की प्रवृत्ति ही है। उदाहरणतया—आग पर पड़े एक पतीले को सम्बोधन कर के कहा गया है —

तू आकाश है, तू पृथ्वी है,
तू मातरिश्वा का पाक-भाजन है। (वाज० १. २.)

और जब गौ को, सोम दे कर खरीदा जाता है—तब पुरोहित कहता है

तू विचारशक्ति है, तू मन है,
तू बुद्धि है, तू दक्षिणा है,
तू स्वामित्व के योग्य है,
तू यज्ञ-पात्र है,
तू द्विशिरा अदिति है। (वाज० ४. १९)

यज्ञ-वेदि के निर्माण के समय पात्र में पड़े जिन अंगारों से अग्नि-समिन्धन करना होता है, उसे लक्ष्य करके कहा जाता है -

तू ही सुपर्ण (पक्षी) है :
त्रिवृत् स्तोम तेरा मूर्धा है,
गायत्र-छन्द तेरी आंख है,
बृहत् और रथन्तर तेरे पंख हैं,

स्तुति तेरी आत्मा है,
विभिन्न वृत्त तेरे अंग हैं,
याजुश मन्त्र तेरा नाम है,
वामदेव्य गीत तेरा शरीर है,
यज्ञायज्ञिय गीत तेरी पूंछ है,
ये अंगीठियां तेरे-क्षुर हैं,
—तू सुपर्ण है :
तू स्वर्ग की ओर उड़ जा ! (वाज० १२. ४)

और फिर अग्नि-पात्र को हाथ मे ले, तीन कदम उठाता हुआ, पुरोहित कहता है

"तू विष्णु का शत्रुंजय पग है,
तू गायत्री पर सवार हो कर पृथ्वी की परिक्रमा शुरू कर दे;
विष्णु का तू शत्रुञ्जय पग है,
त्रिष्टुभ् पर सवार हो कर तू अन्तरिक्ष की यात्रा शुरू कर दे;
तू विष्णु का दुश्चरित्रनाशी पग है,
जगती पर सवार हो कर तू द्युलोक की यात्रा शुरू कर दे,
तू विष्णु का अरिन्दम पग है,
अनुष्टुभ् पर सवार हो कर तू लोक-लोकान्तर की यात्रा शुरू कर दे।
(वाज० १२. ५)

इस प्रकार की प्रार्थनाओं के सम्बन्ध मे कभी श्रेडर ने कहा था . "प्राय हमे सन्देह भी हो उठता है कि क्या ऐसे वाक्य किसी बुद्धिमान् (व्यक्ति अथवा) जाति की रचना हो सकते है, क्योकि—प्राय एक ही विचार को लेकर (किसी हतबुद्धि मर्ख की तरह) प्राय उन्ही शब्दो मे (या थोड़े से अदल-बदल के साथ) उसी की पुन-पुन आवृत्ति पुरोहित करता चलता है।" और यह लिख कर श्रेडर कुछ उदाहरण मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयो के वातावरण से भी,यजुर्वेद की तुलना मे, उद्धृत करता है। इस सम्बन्ध मे हम यह भुला न बैठे कि अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के प्राचीन जादू-टोनो की तरह यजुर्वेद मे 'अन्धविश्वास के अवशेष' सगृहीत नही है, अपितु, —ब्राह्मणो ने जनता के ऊपर अपना हाथ बनाए रखने के लिए कितने ही अमूल्य ऐन्द्रजालिक-से मन्त्रो की रचना की थी !

यजुर्वेद के इन मन्त्रो मे कुछ तो स्पष्ट ही गद्यमय है—और जादू-टोने के अतिरिक्त और कुछ नही। कही-कही तो इन यजुषो का रूप, इनका अर्थ, बिल्कुल

वैसे ही लगता है जैसे कि अथर्ववेद में हम ऊपर देख चुके हैं। जिस रथ पर यज्ञपात्र रखे जाते हैं, उसे लक्ष्य करके एक प्रार्थना मे कहा गया है कि :—

"तू रथ का जुआ है,
तू हमारे शत्रुओं को हानि पहुंचा :
जो हमें हानि पहुंचाता है, उसे
हानि पहुंचा।" (वाज० १. ८).

इसी प्रकार के दो-एक उद्धरण और श्रेडर[1] ने **मैत्रायिणी** सहिता से इस प्रकार दिए है :

"जो हमारे प्रति शत्रुता से पेश आता है,
जो हमारे से घृणा करता है, विद्वेष करता है,
जो हमें नुक्सान पहुंचाना चाहता है,
उसे तू
चकनाचूर कर दे, मिट्टी में मिला दे।"
"हे अग्नि, तू अपनी आग से—
जो हमारे से द्वेष करता है, या जिससे हम द्वेष करते हे—उसे
जला दे.
उसकी ओर अपनी लपटें फेंक,
उसको चकाचौंध कर दे—अपनी अदम्य शक्ति से भयभीत कर दे।"
"मृत्यु और तबाही
हमारे प्रतिस्पर्धियो को नष्ट कर दे।"

इसी प्रकार के अभिशापो एव शाप-मन्त्रो की प्रागैतिहासिकता हम यजुर्वेद में संगृहीत कुछ पहेलियो मे भी पाते हैं, यद्यपि—अधिकाश पहेलियो की भाषा यहा ब्रह्मविद्या" के मूल सिद्धातो मे प्रसूत है। और इस अश मे ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सकलित लोक-वाङमय का ही कुछ परतर अश ये **पहेलियां** प्रतीत होती भी है। यजुर्वेद के कुछ विशिष्ट स्थलों पर तो ऐसी क्रीडाए परम्परागत और, सो, अपरिहेय प्रतीत होती है; अध्याय २८ मे वाजसनेयि सहिता मे अश्वमेध के प्रसंग मे ऐसा कुछ सग्रह उपलब्ध होता है—जिसमे कुछ पहेलिया छिछोरेपन की है, तो कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्ड मे सम्बद्ध रहस्यात्मकता की छाया लिए हुए, और कुछ और उपनिषदो की अन्तर्दृष्टि से स्पृष्ट भी। यजु० २८ ४५-४८, ५१ से निम्न उद्धरण अप्रासगिक न होंगे —

होता—यह कौन है जो पथ पर एकाकी ही चला जा रहा है ?
यह कौन है जो निरन्तर नए से नया जन्म लेता

रहता है ? क्या चीज है जो जुकाम का, और सर्दी
का, एक साथ इलाज बन सकती है ? और इस महान्
आवपन का नाम क्या है ?

अध्वर्यु—सूर्य ही वह एकाकी यात्री है,
चन्द्रमा है जो निरन्तर नया जन्म लेता है,
अग्नि सर्दी और जुकाम का एक-सा उपचार है,
और पृथ्वी ही वह महान् आवपन है।

अध्वर्यु—क्या सूर्य-सदृश कोई और ज्योति भी है ?
क्या समुद्र-सदृश कोई और प्रवाह भी है ?
कोई वस्तु ऐसी भी है जो पृथ्वी से ज्यादा बड़ी हो ?
कोई वस्तु है जिसकी कोई उपमा, कोई मिति, न हो ?

होता—हां, ब्रह्म है—जो सूर्य-सदृश है,
आकाश—समुद्र-सदृश है,
और इन्द्र पृथ्वी से बढ़-चढ़कर है;
किन्तु—काम धेनु की कोई उपमा नहीं।

उद्‌गाता—कहां-कहां तक पुरुष पहुंच चुका है ?
क्या-कुछ है जो पुरुष मे समा चुका है ?
—क्या मेरी इस पहेली को ब्रह्मा भी बुझा सकता है ?

ब्रह्मा—पुरुष पंचजन में समा चुका है
और पंचजन पुरुष मे समाए हुए हैं।
यही मेरा बोध है और यही—
इस विकट समस्या का सरल-सुबोध उत्तर भी है।

देवपूजा मे, प्रार्थनाओ-विधिमत्रो के अतिरिक्त, इन प्रहेलिका-वाक्यों का भी वही महत्त्व हुआ करता था, क्योकि—पूजा की सर्वांगीणता में यह विधि-मन्त्र-मन्त्राश एक छोटा-सा अग ही तो है, और कर्मकाण्डो मे याजुष मन्त्रों का उद्देश्य फकत देवताओ की स्तुति नही हुआ करता था, अपितु—एक अदम्य शक्ति द्वारा देवताओ को परवश करके पुरोहित की निजी स्वार्थपूर्ति अधिक होता था। भोग-विलास और आनन्द-बहार देवताओ को भी भाता है, और—बार-बार वैदिक सूक्तो मे और ब्राह्मणों मे हमे बतलाया गया है कि "देवता स्वभाव मे ही परोक्ष-प्रिय होते है—प्रत्यक्ष-द्वेषी होते है"।

यजुर्वेद में देवताओं को प्रभावित करने की एक विशेष विधि-सी बन चुकी प्रतीत होती है : भिन्न-भिन्न नामों और विशेषणों द्वारा देवता का आह्वान किया जाता है कि कोई-न-कोई विशेषण तो उसका (पुरोहित के) लक्ष्य पर जा लगेगा ! और इसी प्रथा का पल्लवित रूप हम आगे चल कर **विष्णुसहस्रनाम** और **शिवसहस्रनाम** की महिमा में पाते भी है। इस अन्ध-विश्वास का सर्वप्रथम आभास हम वाजसनेयि संहिता के अध्याय १६ में, तथा तैत्तिरीय संहिता ४-५ में **शतरुद्रिय** के प्रकरण में, पाते है।

इनके अतिरिक्त एक और प्रकार की प्रार्थनाएं भी यजुर्वेद के मन्त्रो मे हमे मिलती है—जिनमे एक-दो निरर्थक अक्षरों के महत्त्व को बहुत ही बढा-चढ़ाकर, यज्ञो मे उनकी आवृत्ति को, अपरिहेय उद्घोषित किया गया है। "स्वाहा' कह कर यज्ञ-वह्नि मे आहुति का देवार्पित करना, और उसी प्रकार 'स्वधा' कहकर पितरो को श्राद्ध भेंट करना ये दोनो विधियां तो शायद कुछ सार्थक हों, किन्तु—**वषट्**, **वेट्**, **वाट्**, का अर्थ क्या था—अभी तक कुछ स्पष्ट नही हो पाया है। और सम्भवत, सबसे अधिक रहस्यपूर्ण है—**ओंकार** की एकाक्षर ध्वनि (मूल मे जिसका अर्थ केवल 'स्वीकृति' अथवा 'हां' हुआ करता था, किन्तु आज तक इसकी सारगभितता को कोई भी विद्वान् पूर्ण रूप से समझ चुका हो—कहा नही जा सकता। हजारो वर्षो से उपनिषदो के ऋषि वैदिक धर्मियो से यह कहते आए है कि "ओंकार ब्रह्मस्वरूप है, विश्व की आत्मा है, ध्यानी का एक मात्र ध्येय है।" **कठोपनिषद्** २ १६ मे तो यहा तक कह दिया गया है कि जो इस प्रकार परम-अक्षर को समझ लेता है वह स्वय ब्रह्म के समान हो स्वत -पूर्ण हो जाता है। इस एकाक्षर मन्त्र के साथ **भू भुंव स्व** को—कुछ के अनुसार जिसका अभिप्राय होता है 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश'—शाश्वतवत् जोड दिया गया है, यही नही, उसे मैत्र,यणी १ ८ ५ ब्रह्म, सत्य, ऋत एवं यज्ञ का आधार तक उद्घोषित किया गया।

सदियो पश्चात् भारतीय धर्म-विकास के अपेक्षया अर्वाचीन युग मे, हम पृष्ठो पर पृष्ठ—**अं, आं, ह्रं, एं, कों, हट्, अह** इत्यादि—अव्यक्त ध्वनियो से भरे पाते है जिनकी रहस्यात्मकता, बुद्धिगम्य न होकर, अन्धविश्वास की वस्तु अधिक है; सम्भवत उन दिनो---मन्त्र का अर्थ, ऋक् और यजुः न रह कर, तान्त्रिक जादू ही प्रचलित हो गया हो। यह अर्थ-परिवर्तन बहुत मुमकिन है—यजुर्वेद मे शुरू हो ही चुका था, और शायद—दोनो परिभाषाओं में कोई स्पष्ट अन्तर कभी रहा भी नहीं।

साहित्यिक दृष्टि से यजुर्वेद की संहिताओं का अध्ययन एक नीरस-विरस वस्तु है, यह सच ही है। किन्तु धार्मिक दृष्टि से, भारतीय धर्मों के लिए ही नही—तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के लिए, उनकी मानस्विता अप्रत्याख्येय है। धर्म के इतिहास

मे जो भी कोई प्रार्थना की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करना चाहे, यजुर्वेद को उपेक्षा नही कर सकता ।

स्वत्र भारत के परतर दार्शनिक एव धार्मिक साहित्य को सही समझने के लिए सहिताओ का महत्त्व कभी भी कम नही हो सकता, तो उधर—विशेषत, ब्राह्मणो और उपनिषदो की भावना को बिना यजुर्वेद -पारायण के अवगत कर सकना नितान्त असम्भव है ।

१ **शतपथ** १४ ९ ४ ३३ तथा ४ ४ ५ १९ को एक उक्ति—शुक्लानि आदित्यानि यजूंषि—मे यह स्पष्ट है कि **वाजसनेयि**-शाखा की तथाकथित शुक्लता 'आदित्य'—प्रसूत है, यजुर्वेद के शुद्धाशुद्ध अपिवा व्यक्ताव्यक्त दो सस्करणो के सशयित भेद पर आधारित नही । Cf Keith HOS 18, Lxxx ff.

२ प्राचीन भारतीय यज्ञो को अन्न-सत्र तथा सोम-सत्र दो प्रमुख श्रेणियो मे बाटा जा सकता है । पशुमेध का तथा अग्नि-पूजा का सम्बन्ध दोनो प्रकार के ही यज्ञो मे है ।

३ पुरुषमेध-सम्बन्धी विवेचन के लिए Oldenberg (*Religion des Veda*, 2nd ed, 362 ff), Keith (HOS, 18, xxxcviii), Hillebrandt (*Retualliteratur*, Grundriss III 2, pp 153) देखिये ।

४ Hillebtadnt (*ibid*, 97-166), Oldenberg (*ibid*, 537, 474), E. Hardy (*Die Vedische-brahmanische periode der Religion des alten Indiens*, Munster, W, 1893, 154 ff.), and Keith (HOS, 18, ciii ff)

५ **वाज०** ८.१, ६ १२, २ १४, ११, ३९, १०.२३.

६ **वाज०** १.३०, ४.१०, ५ १, ६ ३०

७ **वाज०** ५.२, **शतपथ** ३ ४ १.२. ff, ८ ५.२ १.
Cf Wever *Ind Stud*, 8, 1863, 8 ff 24 ff.

८ ILC, 133 f

९ ILC, 122.

१० Cf Ludwig *Der Rigveda*, Rud Kaegel : *Geschichte der deutschen Literatur* I, 1, 1894, p 5, 54 ff.

ब्राह्मण ग्रन्थ[1]

काल-क्रम की दृष्टि से और विषय-वस्तु महत्त्व की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान वेदो के बाद आता है। मैक्समूलर ने कभी कहा था : "साहित्यिक दृष्टि से ब्राह्मणो का भले ही कुछ महत्त्व हो तो हो, सामान्य पाठक के लिए उनका महत्त्व कुछ बहुत नही। ब्राह्मणो का अधिकाश थोथी बकवास है; लेकिन इस बकवास को धर्म का नाम नही दिया जा सकता। जिस व्यक्ति को भारतीय मनोविकास के विकास मे ब्राह्मणों का स्थान क्या है—इसका कुछ पूर्व ज्ञान न हो, वह इनके दस पृष्ठ पढ कर ही ऊब जाएगा।"[2]

यह बात शायद यजुर्वेद के सम्बन्ध मे अधिक सचाई के साथ कही जा सकती है। यजुर्वेद के अध्ययन मे अपना कोई आकर्षण नही है। किन्तु, साथ ही सचाई यह भी है कि भारतीय दर्शन-एवं-धर्म के 'एक सर्वांगीण परिचय' के लिए ही नही, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान की सगति के लिए भी—यजुर्वेद की उपेक्षा नही की जा सकती, न ही ब्राह्मणो की। यदि यजुर्वेद की सहिताए प्रार्थना-विधि के इतिहास पर प्रकाश डालती है तो, उसी प्रकार, ये ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञो और पुरोहित-प्रणाली के इतिहास को विस्पष्ट करने वाले प्राय एकमात्र प्रमाण-स्रोत है।

'ब्राह्मण' शब्द का मूल अर्थ यज्ञ-विज्ञान के (किसी प्रामाणिक आचार्य द्वारा) सन्दिग्ध स्थलो की व्याख्या होता था। समय बीतने पर ऐसी व्याख्याओ को सगृहीत करके एक सम्पूर्ण-यज्ञ-परक ग्रन्थ को भी गौण रूप मे ब्राह्मण नाम दे दिया जाने लगा। (यद्यपि यह सच है कि आज ब्राह्मणो का अधिकाश शायद सीधे रूप मे यज्ञो की प्राचीन प्रणाली मे सम्बद्ध न हो, क्योकि—ब्राह्मणो मे तरह-तरह के आख्यान और सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसग भी तो है, किन्तु इससे भी कोई इन्कार नही कर सकता कि इन कथानको, अख्यानको की उद्भव-भूमि ये यज्ञ ही थे)। ब्राह्मणो का मुख्य विषय **वाजसनेयि-संहिता** मे आये महामत्र ही है और, इसी लिए, विविध यज्ञो-उत्सवो के प्रकरण मे किन मन्त्रो, मन्त्राशो, वैदिक प्रकरणो का प्रयोग होना चाहिए--इस सम्बन्ध मे भी कही सकेत रूप मे तो कही पूर्ण रूप मे, ब्राह्मणो मे निदश मिलते है। और, प्रकरण से ही, कही-कही इन ब्राह्मण ग्रन्थो के रचयिता उत्सव की प्रक्रियाओ और मन्त्राशो को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए उनकी साकेतिक व्याख्या भी कर देते हैं। जहा-कही मतभेद उठ खडा होता है सामान्य प्रवृत्ति वहा पक्षपातिनी हो जाया करती है, अर्थात—एक मत का समर्थन करते हुए अन्य मतो का निरस्कार (मात्र एक वैदिक पद्धति नही है)। कही-कही यह मतभेद

—देशभेद अपिवा अवस्थाभेद के अनुसार—अनुमत भी होता है। कुछ हो, और बातें छूट जाएं तो छूट जाए, किन्तु—छोटे-से-छोटे याज्ञिक प्रसंगों में भी पुरोहित की दक्षिणा क्या हो ब्राह्मण लोग यह बताना कभी नहीं भूल सकते; और, साथ ही, इस बात पर भी प्रकाश डालना वे कभी नहीं भूलते कि यजमान की उदारता उसे, इह लोक मे और परलोक मे, क्या-क्या फल ला सकती है। इस प्रकार, यदि विज्ञान शब्द के प्रयोग पर धार्मिक-साहित्य के प्रकरण में कोई आपत्ति न हो, तो ये ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ-विज्ञान के प्राचीन पुस्तक है। पुराने समय में कितने ही ब्राह्मण (ग्रन्थ) उपलब्ध थे। भारतीयो मे ऐसी परम्परा भी है और, स्वय ब्राह्मणो मे, एतद्विषयक उक्तिया भी है। खैर, जितने ब्राह्मण-ग्रन्थ अवशिष्ट रह गये है वे भी कुछ कम नही; किन्तु इनका सही अर्थ समझने के लिए भारतीय साहित्य मे उनका स्थान पहले निश्चित करना होगा, क्योकि—हर ब्राह्मण-ग्रन्थ चारो वेदो मे से किसी एक वेद के साथ ही सम्बद्ध है (और वेदों की भी किसी एक ही शाखा के साथ)। ब्राह्मणो की व्याख्यानात्मक प्रवृत्ति का पूर्वाभास हम **कृष्ण यजुर्वेद** के प्रसग मे ऊपर देख आए है जहा मन्त्रो तथा मन्त्राशों के साथ यज्ञ के उद्देश्य और अर्थ पर विचार-विनिमय भी साथ-ही-साथ उल्लिखित मिलता है। यजुर्वेद के ऐसे स्थलो को हम ब्राह्मण नाम दे भी सकते हैं, और सच तो यह है कि यज्ञ के सम्बन्ध मे इन्ही प्रथम सकेतो को लेकर ही, आगे चलकर, ब्राह्मण ग्रन्थो की स्वतन्त्र रचना हुई और कुछ समय बाद हर वैदिक सम्प्रदाय का अपना ब्राह्मण होना चाहिए—ऐसा भी आवश्यक समझा जाने लगा। यही कारण है कि ब्राह्मणो की सख्या इतनी विपुल है, और यही कारण है कि परवर्ती वैदिक साहित्य का कितना ही अश सही अर्थो मे ब्राह्मणो न होते हुए भी ब्राह्मण कहलाता है। उदाहरणतया—सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थो की शृखला, और अथर्ववेद से सम्बद्ध **गोपथ ब्राह्मण**, ब्राह्मण न हो कर **वेदांग** अधिक है। गोपथ सम्भवत. ब्राह्मण-ग्रन्थो मे अर्वाचीनतम योग है, और स्वय वेद-ज्ञानी ब्राह्मण हमे बताते है कि—शुरू-शुरू मे अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण ही नही था लेकिन पीछे चलकर यह खाना-पूरी आवश्यक समझी गई।

प्राचीन ब्राह्मणो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मणो का विवरण इस प्रकार है :—

ऋग्वेद का अपना ब्राह्मण है—**ऐतरेय**, जो ४० अध्यायों मे विभक्त है। पाच-पाच अध्यायो को मिलाकर सम्पूर्ण पुस्तक के आठ पचक बनते है। ऐतरेय का परम्परागत 'लेखक' महीदास (ऐतरेय) सम्भवत ग्रन्थ का सम्पादक था। ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य विषय सोम, याग, अग्निहोत्र तथा राजसूय सत्र है। अन्तिम १० अध्याय प्राचीन समय से प्रक्षिप्त माने जाते है।

ऐतरेय से बड़ा निकट सम्बन्ध ऋग्वेद के **कौशीतकी** (अथवा **शांखायन**) ब्राह्मण का है जिसके ३० अध्यायों में प्रथम छ: अध्याय अग्निचयन, अग्न्याधान, दर्श, पूर्णमास आदि हव्य-यज्ञ परक है तो ७-३० प्रायः ऐतरेय के अनुकरण पर ही सोम-परक हैं। दोनों ब्राह्मणों में भेद इतना ही है कि—जहा ऐतरेय के सम्पादन मे केवल महीदास का ही हाथ नही रहा—कौशीतकी के क्रम मे, अलबत्ता, सगति एक-ही है।

सामवेद का अपना ब्राह्मण है—**ताण्ड्य महाब्राह्मण** (अथवा **पंचविंश**), जिसके २५ अध्यायों मे ब्राह्मणों के सम्भवत प्राचीनतम आख्यान सगृहीत है। इन आख्यानों मे व्रात्यस्तोम यज्ञों का आकर्षण अपना ही है, क्योंकि— इनके द्वारा व्रात्यों को ब्राह्मण धर्म मे पुनः-प्रविष्ट होने का अधिकार होता था।[1] एक और ब्राह्मण भी सामवेद का मिलता है जो पंचविंश का पूरक होने के नाते **षड्विंश** कहलाता है। षड्विंश के अन्तिम भाग मे चमत्कारो पर और शकुनो पर एक 'वेदाग-सूत्र' ग्रथित है जिसे स्वतन्त्र रूप मे **अद्भुत ब्राह्मण** सज्ञा दे-दी गई है। एक तीसरा ब्राह्मण जो शायद ताण्ड्य से भी अधिक प्राचीन है, धर्म और गाथाओ के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु, इसके अभी तक कुछ अश ही उपलब्ध हो सके है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण है—**तैत्तरीय**, जो वस्तुत तैत्तरीय सहिता का ही उत्तर-विकास है। कृष्ण यजुर्वेद मे जहा-तहा पडी व्याख्याओं को लेकर ही यह ब्राह्मण पल्लवित हुआ और—क्योंकि इसमे केवल **पुरुषमेध** का ही वर्णन मिलता है, इससे भी—हमारा अनुमान पुष्ट हो जाता है कि सहिता भाग मे **पुरुष-मेध** को यज्ञ-विद्या के परतर विकास द्वारा ही वेद का अन्तरग कभी किया गया था।

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण सम्भवत सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङमय मे सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण ब्राह्मण है। ब्राह्मण का नाम है—**शतपथ**[2] क्योंकि उसमे १०० अध्याय है। बडा-ही विपुल ग्रन्थ है और, वाजसनेयि सहिता के दो भेदो की तरह, इस के भी **काण्व** तथा **माध्यन्दिन** सस्करण मिलते है। माध्यन्दिन मे इन सौ अध्यायों को पुनः १० कण्डिकाओ मे विभक्त कर दिया गया है। प्रथम कण्डिकाओ मे वाजसनेयि सहिता के प्रथम १८ अध्यायो की अविकल व्याख्या है, और यही भाग सम्भवत शतपथ का प्राचीनतम (मूल) भाग है। प्रथम कण्डिकाओं की परस्पर-सगति विशेषत और-भी सुश्लिष्ट है; इसीके सम्बन्ध मे याज्ञवल्क्य की प्रामाणिकता सिद्ध हो सकी है, यद्यपि स्वय शतपथ मे १४वीं कण्डिका मे जाकर ही, कही, उसे सम्पूर्ण ब्राह्मण का कर्त्ता उद्घोषित किया गया है। किन्तु प्रश्न उठता है ६-९ कण्डिकाओ मे, अग्निचयन के प्रकरण मे, याज्ञवल्क्य का स्मरण छूट कैसे गया। जहा,

प्रत्युत, शाण्डिल्य को प्रामाणिक आचार्य के रूप मे स्वीकृत भी कर लिया गया है। यही नही, इसी शाण्डिल्य को पुन: कण्डिका १० मे **अग्नि-रहस्य** का प्रवक्ता उद्घोषित किया गया है। साथ ही साथ यहा यह बताना भी अप्रासंगिक न होगा कि अध्याय ११-१४ मे कितने ही ऐसे विषयों—यथा उपनयन, वेदारम्भ, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, वेदि-निर्माण आदि—की विस्तृत चर्चा मिलती है जिनका सकेत स्पष्ट है कि यह भाग 'मूल' शतपथ के परिशिष्ट है। १३ वी कण्डिका का विषय है—**अश्वमेध**, **पुरुषमेध**, तथा **सर्वमेध**। और १४ वी कण्डिका का विषय है—**प्रवर्ग्य**। और अन्त मे इस महान् ग्रन्थ की मूर्धा पर सम्पूर्ण उपनिषद्—वाङ्मय की मूर्धन्य उपनिषद् **बृहदारण्यक** की मूर्धिन-स्थिति परिनिष्ठित की गई है।

विभिन्न वेदो से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मणो मे परस्पर अन्तर याज्ञिक प्रक्रिया के विधि-विधान का ही मौलिक अन्तर पाया जाता है. **ऋग्वेद के ब्राह्मण** मे **होता** के लिए ऋचाओ का पाठ करने के सम्बद्ध मे निर्देश है, तो **सामवेद** के ब्राह्मण **उद्गाता** के पथप्रदर्शक है, **यजुर्वेद** के—**अध्वर्यु**-सम्बन्धी क्रिया-कलापो पर प्रकाश डालते है। अन्यथा, सभी ब्राह्मणो मे मौलिक विषय प्राय एक ही है और उन विषयो का विवेचन भी प्राय एक ही प्रकार मे हुआ है। कुछ शतियो का एक विशेष युग ही था जिसमे ब्राह्मण-वाङ्मय की उत्पत्ति हुई, और विकास हुआ। और यदि स्वय ब्राह्मणो मे ही संकलित **वंश** परम्पराओ पर हम अविश्वास न करे, तो—इन उपाध्यायो, आचार्यों की करीबन ६० पीढियो के लिए एक हजार साल पर्याप्त प्रतीत नही होते। इन वश-कथाओ का मुख्य उद्देश्य यज्ञ-विधान की प्राचीन परम्परा को ब्रह्मा, प्रंजापति, सूर्य आदि देवताओ तक ले जाना प्रतीत होता है, फिर भी कुछ नाम इन सूचियो मे स्पष्ट ही ऐतिहासिक (पुरखो के) है जिन्हे काल्पनिक कह कर जान नही छुडाई जा सकती; और ब्राह्मणो मे स्वय जिन आचार्यो को प्रमाण रूप मे उद्धृत किया गया है वे इन वशावलियो से 'पृथक्' जीते-जागते पुरुष ही थे—जिससे सिद्ध यह होता है कि इन ग्रन्थो का सम्पादन-सकलन प्राय यज्ञ-विद्या के प्रारम्भिक दिनो से ही परम्परित-सुरक्षित चला आता है, और—स्वय यज्ञ-विद्या के विकास के लिए भी तो शतियो की अवधि चाहिए।

किन्तु, यदि हमसे कोई पूछे कि ब्राह्मण वाङ्मय के विकास की निश्चित तिथि क्या दी जा सकती है तो हमे मानना ही पडेगा कि हमारा उत्तर ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे उतना ही अनिश्चयात्मक है जितना कि स्वय सहिताओ के सम्बन्ध मे। निश्चय रूप से तो बस हम इतना ही कह सकते है कि ऋग्वेद के सूक्तो का युग पर्याप्त प्राचीन हो चुका था जब यज्ञो, मन्त्र-तन्त्रो की नई विद्या का जन्म हुआ।

सम्भवतः यह भी निश्चित है कि **अथर्ववेद** और **यजुर्वेद** के मन्त्र तन्त्रात्मक वाङ्मय का अधिकांश, एव सामवेद की गीतियो को अधिकाश, ब्राह्मण ग्रन्थों के ऊहापोह से एक पर्याप्त पूर्वतर वस्तु है। दूसरी ओर यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के जादू-टोनो तथा यज्ञ-परक संहिताओ को अन्तिम रूप मे सम्पादित प्रायः ब्राह्मण-युग के प्रारम्भ मे ही किया गया और, इस दृष्टि से, इन वैदिक अशों तथा ब्राह्मण वाङ्मय के पूर्वांश परस्पर समकालीन भी हो सकते है। कम-से-कम भौगोलिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो का सकेत स्पष्ट है कि अथर्ववेद और यजुर्वेद की. और साथ-ही ब्राह्मण ग्रन्थो की, स्थिति ऋग्वेद के काल और युग से बहुत-दूर पडती है। **अथर्ववेद** के समय तक, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, ऋग्वेद की मूल-भूमि (**सिन्धु** देश) मे विचरने वाले आर्य लोग **गंगा** और **यमुना** की अन्तर्भूमि तक फैल चुके थे। **यजुर्वेद** की सहिताओ मे तथा ब्राह्मणो मे जिस **आर्यावर्त्त** का उल्लेख हम पाते है वह महाभारतकालीन **कुरुओं** तथा **पांचालों** का देश है। उन दिनो भी कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र बन चुका था और देवता यज्ञ की आहुतिया लेने स्वय वहा अवतरित हुआ करते थे। **सरस्वती** तथा **दृषद्वती** के बीच मे अवस्थित यह पवित्र भूमि गगा तथा यमुना के पश्चिम मे सदियो मे चली आती है जबकि पाचाल लोग, कुरुओ के ही पड़ोस मे, उसी गगा-यमुना प्रदेश के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण पूर्व मे कुछ दूरी पर बसते थे। देहली से लेकर मथुरा तक फैले हुए गगा-यमुना के इस दो-आब का ही पुराना नाम **ब्रह्मावर्त्त** था जो सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए स्मृतियो मे आदर्शरूप मे अभिपूजित है और भरत-भूमि का यही भाग मूलत —यजुर्वेद की संहिताओ और ब्राह्मणो का ही नही, अपितु—सम्पूर्ण ब्राह्मण धर्म एव सस्कृति का मूल-स्थान है—जहा से आर्य सस्कृति का उत्तरोत्तर विकास आगे चल कर भारत के उत्तर मे, और नीचे दक्षिण की ओर, क्रमश होता गया।

धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियो मे भी **ऋग्वेद** के समय से पर्याप्त अन्तर आ चुका है। ऋग्वेद के देवताओ की स्तुति यद्यपि **यजुर्वेद** की सहिताओ—मे, तथा ब्राह्मणो मे, अब भी होती है—जिस प्रकार कि अथर्ववेद मे होती ही आ रही थी, किन्तु उनकी मौलिक महिमा अब कुछ नही रह गई . उनमे जो कुछ प्रभावकता है, आज, वह सब यज्ञ-मूलक है। यही नही–विष्णु, रुद्र, शिव आदि जो देवता ऋग्वेद के दिनो मे बहुत गौण थे, उनका महत्त्व इन यज्ञपरक सहिताओ मे तथा **ब्राह्मण** वाङ्मय मे बहुत बढ़ चुका है। यजुर्वेदीय दृष्टिकोण मे **प्रजापति** ही देवाधिदेव भी है असुरो का अधिपति भी। ऋग्वेद मे **असुर** कुछ सारगर्भित शब्द था और प्रायः उसकी अद्भुत शक्तियो का अधिष्ठान वरुण को ही समझा जाता था, किन्तु यहा —लौकिक संस्कृत की भाति—ब्राह्मणो मे भी न केवल उसका शब्दार्थ 'दैत्य' हो गया है अपितु आये-रोज देवो और असुरो मे सग्राम छिड जाते है। एक बात बड़े

आश्चर्य की यह है कि इन देवासुर-संग्रामो मे वह पुरानी भयावहता नही जो ऋग्वेद के इन्द्र और वृत्र के बीच मे हुए युद्धो में हुआ करती थी; यहा तो यज्ञ की शक्ति द्वारा सम्पन्न हो कर देव और असुर परस्पर स्पर्धा में रत है; और कुछ नही। देवताओं को भी यदि कुछ सिद्धि प्राप्त करनी इष्ट होती है तो उन्हे भी 'तदर्थ' यज्ञ मे निपुणता प्राप्त करनी होती है। यज्ञ-प्रक्रिया का महत्त्व, फल-प्रदता मे, सभी सासारिक साधनो से बढ़-चढ कर है। ये यज्ञ, साधन ही नही, परम सिद्धि है। यज्ञ के द्वारा प्रकृति की अन्त:शक्तियो पर प्रभुता प्राप्त की जा सकती है और ब्राह्मणो मे स्थान-स्थान पर 'यज्ञ ही प्रजापति है।' इस प्रकार की घोषणा की भी गई है, जब कि अन्यत्र कहा है कि—यज्ञ प्राणिमात्र की, देवाधिदेवो की, आत्मा है; जो यज्ञ का पुजारी हो जाता है वह स्वय यज्ञमय हो जाता है, सर्वात्म हो जाता है और, इस प्रकार, यज्ञ-प्रक्रिया को सम्पन्न करते हुए वह सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा बन जाता है (शतपथ ३ २ १, ३. ६. ३. १)! यज्ञ ही नही, यज्ञ से सम्बद्ध सभी वस्तुओ मे—यज्ञ-पात्र, मन्त्र-मन्त्राश, छन्द, गीत, लय, सभी मे—कुछ अद्भुत शक्ति विद्यमान मानी गई है। यज्ञ की छोटी-से-छोटी क्रिया को बडी सूक्ष्मता के साथ निभाना होता है, एक बाल भी इधर-उधर हो गया तो आशंका बनी रहती है। कौन-सी प्रक्रिया दाए हाथ से कीजिए, कौन-सी बाए हाथ से, यज्ञ-पात्र को वेदि के किस किनारे रखा जाए, कुशाओ को उत्तराभिमुख स्थापित किया जाए या उत्तरपूर्व की ओर, पुरोहित अग्नि के सम्मुख हो कर यज्ञशाला मे होकर आता है या पीठ-पीछे से, उसका मुख किस ओर है, पुरोडाश को कितने भागो मे विभक्त किया गया है, घी की आहुति अग्निकुण्ड के मध्य मे पडती है या उत्तर या दक्षिण की ओर, किसी मन्त्र अथवा गान-पक्ति की आवृत्ति किस स्थल पर की जानी चाहिए[६]—इन सब यज्ञागो पर प्राचीन मनीषियो ने वर्षों चिन्तन किया था जिसका वैज्ञानिक रूप निहायत सूक्ष्मता के साथ इन ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रस्तुत है। इन्ही के अन्तर्बोध पर यजमान तथा ब्रह्मा का पार्थिव सुख निर्भर करता है। "सचमुच, यज्ञ के अग-अग कितने दुरूह एव दुर्गम है कि शीघ्र-से-शीघ्र रथ पर सवार हो कर भी उसके शिखर तक पहुच सकना मुश्किल नजर आता है; और यदि यज्ञ-विद्या को जाने बिना कोई व्यक्ति यज्ञ करने बैठ जाता है, तो—भूख, प्यास, दुष्ट और चुडैले उस पर उसी प्रकार टूट पडती है जैसे जंगल मे भटकते मुसाफिरो पर भूत-प्रेत। किन्तु यज्ञ-विद्या को प्रथम अधिगत कर के यज्ञ-प्रणाली मे कूदा जाए तो देवता स्वय, आप से आप, ऐसे यज्ञ-कर्त्ता के सहायक बन आते है, उसे एक के बाद दूसरे सुखतर लोक की ओर—स्वर्ग की ओर—ले जाते हैं!" (शतपथ १२. २ ३. १२)

'जो भी जानता है कि यह वर्णन यज्ञ तथा यज्ञकर्त्ता के प्रसंग मे शायद

ही कभी ब्राह्मण-ग्रन्थों मे भुलाया जा सका हो—वर्ण-व्यवस्था तब तक अपने सूक्ष्म-तम भेदो मे छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और यहा ब्राह्मणो मे, जैसे कि कुछ हद तक पहले अथर्ववेद मे—वह यह भी जानता है कि ब्राह्मण-जाति के दावे अब बहुत बढ़ चुके है, वे भू-देव (तैत्तिरीय सहिता १ ७.३.१) ही नही एक-मात्र देव हैं :—

"देवता दो प्रकार के होते हैं, एक तो आसमानों के देवता, दूसरे पृथ्वी के देवता। ये पृथ्वी के देवता हमारे ब्राह्मण ही हैं जो स्वाध्याय द्वारा देवपद पर जा-पहुंचे हैं। और इसी लिए यज्ञ के 'उपाहरण' को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है : आहुतियां आसमान के देवताओं के लिए और दक्षिणा धरती के देवताओं के लिए। इस प्रकार दोनो देवताओ को सन्तुष्ट कर के ही मनुष्य स्वर्ग के सुखों का अधिकारी बन सकता है।" (शतपथ २. २. २. ६, ४. ३. ४. ४)

ब्राह्मण के ये चार कर्तव्य बताए गए है . ब्राह्मण कुल मे जन्म, तदनुसार कुलीन आचरण, यशस्विता, तथा यज्ञादि विनियोग द्वारा साधारण जनो मे परमतत्त्व का कुछ दैवी अश आहित करने मे रति। दिव्याश मे युक्त ये **साधारण जन** कुछ अशो मे स्वय ब्राह्मण बन जाते है और उनके **कर्त्तव्य** भी (ये) चार ही होते है . ब्राह्मणो का सत्कार करना, योग्य पात्रो को दान देना, किसी का दमन न करना, किसी भी प्राणी की हिमा न करना। राजा को भी यह **अधिकार** नही कि वह ब्राह्मण की सम्पत्ति को छू सके और यदि किन्ही परिस्थितियो मे सम्पूर्ण विभूति-सम्भृति से भरी यह पृथ्वी ही उठाकर कोई राजा किसी भिखारी को दान देने पर उतर आए, उस अवस्था मे भी, वह **ब्राह्मण धन** को नही छू सकता। ब्राह्मण को कष्ट देना राजा की शक्ति मे तो है, किन्तु—ऐसा करने मे उसे फल बुरा मिलता है। राज्याभिषेक के समय पुरोहित प्रजा के सम्मुख आकर दिखलाता है कि "हे मनुष्यो!—यह व्यक्ति आज से तुम्हारा राजा है, किन्तु—हम ब्राह्मणो का राजा सोम है।" इसी स्थल के सम्बन्ध मे **शतपथ** ब्राह्मण (९ ५ ७ १, १३ ५.४ ३४, १३ १५ ४, ५ ४ २ ३) मे उद्धृत है कि इस मन्त्र द्वारा वह सम्पूर्ण राष्ट्र को (करादि के नियम मे) राजा के लिए उपभोज्य बना देता है, किन्तु—ब्राह्मण स्वय इस उपभोग-सम्पदा के सदा बाहर ही रहता है, क्योकि—ब्राह्मणो का राजा भू-पति नही, दिवम्-पति सोम है।" ब्रह्महत्या को ही एकमात्र हत्या, अथवा परमहत्या, भारत मे माना जाता है। यदि एक ब्राह्मण मे और किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति मे लडाई छिड जाए तो न्याय को भी ब्राह्मण की ही तरफदारी करनी चाहिए—ऐसा वेदो का आदेश है (शतपथ १३ ३ ५ ३. तैत्तिरीय-सहिता २ ५ ११ ७)। ब्राह्मणो मे लडाई मोल लेना खालाजी का घर नही। कोई भी वस्तु अभोज्य क्यो न हो, अस्पृश्य क्यो न हो, किसी भी कारण

से हेय क्यो न हो—जैसे पत्थर या किसी मरे आदमी के बर्तन या अग्निहोत्र के लिए सुरक्षित गाय (जो बीमार पड चुकी हो या, स्वभाव से, जिद्दी हो)—ब्राह्मण को दान करने मे उसका कोई बुरा असर नही पडता—ब्राह्मण की पाचन शक्ति उससे बिगड नही जाती (तै० स० २ ६ ८ ७)।[६]

ऐसे उद्धरणो मे, आखिर मे, एक निष्कर्ष भी निकाला गया है कि एक पार्थिव देवता स्वर्गीय देवताओ की तुलना में उनका निकटवर्ती ही नही बन जाता, अपितु —देवताओ से कुछ ऊपर ही अपना स्थान बना लेता है। **शतपथ** मे एक स्थान (१२ ४ ४ ६, मनु० ११ ३१७, ३१९) पर कहा है कि **ब्राह्मण देवता, ऋषियों का अवतार है, वह देवता स्वरूप है, सभी देवता उसमें समा चुके है।** ब्राह्मण का अपने ही विषय मे इतने बढे-चढे दावे पेश करना (जिसका पूर्वाभास हम ब्राह्मण ग्रन्थो मे पाते है) सास्कृतिक इतिहास मे पुरोहित के अहकार का जीता-जागता प्रतीक तो है ही, साथ ही प्राचीन-भारत की पतितात्मा का वह घृणित पूर्व रूप भी है जिसे हम इन्डो-यूरोपियन चेतना मे निविष्ट पाते है। उदाहरणार्थ–हिब्रू कवि जब कहता है 'इन्सान मे आखिर वह क्या चीज है जिससे आकृष्ट हो कर तू उसे, समय समय पर, दर्शन देता रहता है—इन्सान तो एक नाचीज है', और जब ग्रीक कवि के इसके विपरीत उद्‌गार है कि 'दुनिया शक्ति का भण्डार है और—सासारिक शक्तियो मे सबसे अधिक महस्विनी शक्ति मनुष्य है', या फिर जब जर्मन कवि, 'अति-मानव' की कल्पना करता हुआ, अध्यात्म-लोक के दरवाजे खटखटाता है और प्रणव का गीत गाते हुए अभिमान पूर्वक कहता है

'तुम से भी कम्बख्त,
ऐ देवताओ,
इस दुनिया मे कोई चीज है ?'.

यह—वही प्राचीन भावना ही तो दूसरे शब्दो मे अर्पित है जो ब्राह्मण-ग्रन्थों मे यज्ञ-शक्ति द्वारा सम्पन्न हो कर भू-देवो ने पार्थिव जीवन का अग बना ली है—वही शक्ति जिसे (**महाभारत** तथा **रामायण** मे) तपोधनो ने अधिगत करके देवताओ के सिहासनो को डावा-डोल कर दिया था। बौद्ध धर्म मे तो ये देवता बडी-ही उपहासास्पद स्थिति मे जा गिरे है इन्द्र आदि की अपनी कुछ शक्ति नही, और साधारण मनुष्यो और देवताओ मे यदि कुछ अन्तर है भी तो बस यही कि—देवताओ के पास सुविधाए कुछ अधिक है, किन्तु ये सुविधाए भी उनकी तभी तक ही बनी रहती है कि जब तक उनकी बुद्ध-पूजा मे कोई कसर नही आ जाती। स्वय बुद्ध का आसन देवताओ के सातवें आसमान से कही बहुत दूर है—किन्तु उसे भी (कोई-भी) साधारण जन प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के द्वारा, त्याग की उत्कट भावना द्वारा—अर्हत होकर—पा सकता है![८]

ब्राह्मण ग्रन्थो मे इस प्रकार '**बौद्ध**' **क्रान्ति के बीज** निहित है, क्योकि—मूल **ब्राह्मण** ग्रन्थो के विषय मे यह सन्देह कभी हुआ ही नही कि उनका रचना-काल बुद्ध से पूर्व है— ब्राह्मण ग्रन्थो मे बौद्ध-धर्म मे तनिक भी परिचय का उल्लेख नही मिलता जब कि बौद्ध-धर्म के विवेचन मे, पगपग पर, सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङमय का होना स्वत सिद्ध-सा प्रतीत होता है । सो, यज्ञपरक सहिताओ तथा सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङमय के उत्पत्ति काल को हम—ऋग्वेद की सूक्तियों के अनन्तर तथा बौद्ध धर्म के पूर्व—बिना किसी हिचक के स्थापित कर सकते है ।

अब जरा ब्राह्मण ग्रन्थो के विषय एव अन्तरग मे भी कुछ परिचय प्राप्त कर लिया जाए । भारतीय परम्परा स्वय ब्राह्मणो को **विधि तथा अर्थवाद** दो अशो मे विभक्त करती है । विधि का अर्थ है—'नियम' और, उसी प्रकार, अर्थवाद का अभिप्राय होता है—'नियम की व्याख्या' । ओर यही क्रम हम ब्राह्मणो मे पाते भी है—पहले यज्ञ के विविध अगो के सम्बन्ध मे कुछ नियम दे दिये जाते है और, उसके अनन्तर, इन याज्ञिक प्रक्रियाओ एव निवेदनो का अभिप्राय क्या था यह समझाने का प्रयत्न किया जाता है । उदाहरणतया—**शतपथ** ब्राह्मण का आरम्भ दर्श तथा पूर्णमास से पूर्व उपवास की विधि से आरम्भ होता है (जिसके सम्बन्ध मे नियम इस प्रकार है) —

"उपवास का इच्छुक व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियो के बीच में खड़ा हो कर, पूर्वाभिमुख हो कर, जल का स्पर्श करे । यह आचमन इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य—असत्यवादिता से अर्जित पाप को पहले धो ले, तभी—यज्ञ के योग्य बनता है । पवित्रता लाने की यह शक्ति जल मे स्वतःसिद्ध है । इसीलिए उपवास शुरू करने से पूर्व मुंह-हाथ धोकर भक्त यह जप भी करता चलता है कि 'जल की पावन धाराओं द्वारा पूत हो कर ही मै अब यज्ञ-विधान का अधिकारी बन रहा हूं'।" (शतपथ १. १. १. १)

कभी-कभी तो कर्मकाण्ड के सम्बन्ध मे किसी प्रश्न पर आचार्यो के विभिन्न मत भी उद्धृत कर दिये जाते है । यज्ञ मे दीक्षित होने से पूर्व, अथवा किसी भी तप मे आहुत होने से पूर्व, उपवास आवश्यक है या नही—इस सम्बन्ध मे **शतपथ** १ १ १ १ ७-१० मे यह उद्धृत है.

"अब जरा उपवास के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा कर लें । आषाठ सावयस का इस सम्बन्ध में कहना है कि उपवास स्वयं ही तप है, तप का अंग नहीं : क्योंकि—उनकी युक्ति थी कि—देवता तो पहले से ही मनुष्य के हृदय को जान चुके होते है सो उन्हे पहले से ही पता होता है कि कल यह तपोधन हमें प्रातःकाल मे ही आहुति देने वाला है ; सो, देवता-जन (आषाढ़-सावयस का कहना है) उस गृहस्थ के घर स्वयं आ जाते हैं और उसके निकट

(या उसकी यज्ञशाला के निकट) रहने लग जाते हैं, (मक्खियों की तरह) मंडराने लग जाते हैं और—इसीलिए—इसका एक नाम उप-वसथ भी है !

फिर प्रश्न उठाया गया है कि "अतिथियों को खिलाने से पूर्व क्या गृहस्थ स्वयं मुंह मीठा कर सकता है ? और इसी युक्ति से —वह देवताओं को आहुति देने से पूर्व कुछ-भी कैसे खा सकता है ? सो उपवास, इस द्वितीय सम्प्रदाय के अनुसार, अनिवार्य है; जब कि—

"याज्ञवल्क्य का मत इन दोनों के विपरीत कुछ और था : 'सच बात तो यह है कि उपवास करके मनुष्य पितरों का श्राद्ध ही कर रहा होता है; और यदि वह उपवास न करे तो उस पर आक्षेप आ जाता है कि देवताओ को भोग चढ़ाने से पूर्व उसने स्वयं प्रसाद को उच्छिष्ट कर दिया ! इस लिए यजमान को चाहिए—वह जो कुछ खाए ऐसे समय पर खाए कि लोग उसे खाया-हुआ ही न समझें ।' क्योंकि दुनिया में ऐसी चीजें भी तो हैं जो आहुति नहीं डाली जा सकतीं (ऐसी चीजों को खा लेने से कोई पाप नहीं आता), और जब ऐसी चीजें खाई जाती हैं तो मनुष्य पर यह लाञ्छन स्वभावतः नहीं आ सकता कि यह देवताओ का पुजारी न हो कर निरा पितृ-पूजक है ! इस प्रकार यज्ञ-विधि में दोष नहीं आता; सो, आरण्य ओषधियों और फलों को खाने की, अनुमति, यजमान तथा पुरोहित को 'शास्त्रों द्वारा' मिल चुकी है—ऐसा ही समझना चाहिए ।" (शतपथ ६. १. १. २)

जिस प्रकार ऊपर 'उपवसथ' की व्युत्पत्ति का निदर्शन आया है ब्राह्मण ग्रन्थो मे व्युत्पत्ति-परता जैसे एक प्रवृत्ति ही बन चुकी है। व्युत्पत्ति यदि कुछ अस्पष्ट हो तो और भी अच्छा, क्योकि—'देवताओ को परोक्ष वस्तु मे ही ज्यादह प्यार होता है'। इस प्रवृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण **इन्द्र** शब्द है इन्द्र का मूल है √इन्ध् (प्रज्ज्वलित करना) अर्थात्—'तेजोमय पुरुष'। किन्तु इन्द्र कह कर उसकी तेजोमयता पर जैसे एक झीना आवरण-सा डाल दिया जाता है ! इसी प्रकार उलूखल (ऊखल) का अर्थ समझाने हुए कहा गया है कि इसमे चीज का परिमाण बढाने की (**उरू-करत्** शतपथ ६ १. १ २, ७ ५ १ २२) शक्ति विद्यमान है। व्युत्पत्ति मे कही-कही तो तादात्म्य-बुद्धि तथा सकेत-बल ब्राह्मणो मे इतना आगे बढ गया है कि यजुर्वेद के (वे पुराने) उदाहरण बहुत-ही फीके जचने लगते है और मजा यह है कि इन तुलनाओ मे निपट विषम वस्तुओ को सम, सगत, एकीभूत-तद्रूप तक प्रदर्शित कर दिया जाता है ! इस प्रकार की व्याख्याए ब्राह्मण-ग्रन्थो मे, पृष्ठ-पृष्ठ पर, मिलेंगी —

"और अब वह कुशा को यज्ञाग्नियो के चारो ओर छिडकता है और, दो-दो करके, यज्ञ-पात्रों को वहां ले जाता है—आवपनी तथा चमस्, काष्ठ

असि तथा घट-कर्पर, शमी तथा कृष्ण मृगचर्म, उलूखल तथा उलूखलदण्ड, चक्की के अधर तथा उत्तर पाषाण—ये सब मिलाकर १० होते हैं : क्योंकि—विराज् छन्द में १० अक्षर होते हैं, और विराज् स्वयं—और कुछ-नहीं—यज्ञ की चकाचौंध ही तो है ! इस प्रकार विराज् तथा यज्ञ एकरूप हो जाते हैं। कोई पूछ सकता है कि यज्ञ की वस्तुओं को वह दो-दो करके क्यों लाता है ? इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि दो जनों में शक्ति आप-से-आप द्विगुणित हो जाती है और, दूसरा यह कि 'दो' जनों में, प्रजा उत्पन्न करने के लिए, मैथुन की प्रतीकता भी विद्यमान होती है—इसलिए (शतपथ १. १. १. २२)!

"पुरुष ही यज्ञ है। क्योंकि—पुरुष ही यज्ञ का वितान करता है और पुरुष यज्ञ का उतना ही वितान कर सकता है जितना लम्बा-चौड़ा कि वह स्वयं है। इसी लिए पुरुष को यज्ञ कहते हैं।

"पुरुष-स्वरूप यज्ञ के ही अंग-प्रत्यंग हैं यज्ञ के ये विभिन्न अंगादिक—जूहू, उपभृत् तथा ध्रुवा (आदि चमस्)। चमस् पुरुष-स्वरूप यज्ञ का मेरुदण्ड हैं और, क्योंकि मेरुदण्ड से ही सम्पूर्ण शरीर प्रसृत हुआ करता है, ध्रुवा से ही उसी प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ प्रसृत हुआ करता है। यज्ञ का स्रुव (चमस्) पुरुष का प्राण है जो—अन्दर पहुंच कर—अंग-अंग को, यज्ञ की स्रुवा आदि (चमसियों) को स्पन्दित करता है।

"जुहू पुरुष के फैलाने के लिए—प्रकाश है, उपभृत् अन्तरिक्ष है, ध्रुवा पृथ्वी है। जिस प्रकार पृथ्वी से ही लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ध्रुवा से ही सब यज्ञ-याग उदित होते हैं।

'स्रुव प्राण है। स्रुव ही लोक-लोकान्तर में बहने वाला पवन है और यज्ञ में स्रुचा आदि अन्यान्य चमसियों तक उसकी पहुंच होती है।" (शतपथ १. ३. २. १–५)

कितने ही स्थलों पर ब्राह्मणों में **यज्ञ को विष्णु अथवा प्रजापति के रूप में** वर्णित किया गया है, और कितने ही अन्य स्थलों पर **संवत्सर** को प्रजापति में एकरूप कर दिया गया है, जबकि कहीं और **अग्नि** को (क्योंकि यज्ञवेदि के निर्माण में प्रायः एक वर्ष निकल जाता है) संवत्सर नाम दे दिया गया है। एक स्थान पर यदि कह दिया अग्नि ही संवत्सर है, और संवत्सर ये लोक-लोकान्तर है—तो, उसकी अगली पंक्ति में ही, अग्नि को प्रजापति और प्रजापति को संवत्सर कहने से न चूके। इसी प्रकार एक ओर जगह प्रजापति को, एक ही साथ, यज्ञ भी कहा गया है संवत्सर भी जब कि—प्रतिपदा की रात्रि को उसके द्वार, तथा **चन्द्रमा** को उस **द्वार** की चिटखनी, के रूप में वर्णित किया गया है (शतपथ ८ २ १ १७-१८; ११ १ १ १) ! ब्राह्मण युग में ऐसे संकेतात्मक वर्णनों का अपना ही महत्त्व

होता होगा, किन्तु शायद आज हम समझ नही सकते। एक उदाहरण है

"चार (पदों) के साथ वह (कुछ भस्म) उठाता है; और इस प्रकार वह उसे (अर्थात् अग्नि को) चतुष्पाद् पशुओं से युक्त कर देता है,––ये पशु ही तो उसका भोजन होते हैं। तीन (पदों) द्वारा वह भस्म को (पानी की ओर) नीचे ले आता है। चार और तीन मिल कर इस प्रकार सात बन जाते हैं और––यज्ञवेदि की सात ही तो परिधियां होती है!.... और वर्ष में भी तो सात ही ऋतुएं होती है! इस प्रकार––अग्नि ही संवत्सर है जितना व्यापक अग्नि है, उतना व्यापक ही––यज्ञ-याग का सब-कुछ है!" (शतपथ ६. ८. २. ७)

कही-कही इन शुष्क व्याख्याओ मे भी कुछ रस आ जाता है जब ब्राह्मण-वाङमय के उस प्राचीन युग की सामाजिक एवं नैतिक परिस्थितियो पर, शायद अनजाने मे, उनमे कुछ प्रकाश पड जाता है। **सोम-सवन** के प्रकरण मे लिखा है कि सोम की ये आहुतियां अग्नि के मुख मे पड़ती है, अग्नि की पत्नियो के मुख मे पड़ती है। सोम का यह आहुति-दान, इस प्रकरण मे, साम की अन्यत्र-विहित आहुतियों मे कुछ भिन्न होता है, और इस विधि-भेद की व्याख्या करते हुए शतपथ ४ ४ २ १३ मे आचार्य का कथन है कि ––

"इसके अनन्तर घृत-शेष को यज्ञ-चमस मे डाल कर उसे पुनः सोम में सम्पृक्त कर दिया जाता है। सोम के मिश्रण को इस प्रकरण में कुछ क्षीण बना दिया जाता है, क्योंकि––बात दर-असल यह है कि घृत वज्र-स्वरूप है और, कहते है कि, इस घी का वज्र बना कर ही देवता लोग कभी अपनी पत्नियों की पिटाई किया करते थे और इस प्रकार दुर्बल हो कर पत्नियों को परिणामतः न अपनी देह का कुछ परिज्ञान रह जाता न दाय-सम्पद् का। स्त्री पर वही अधिकार प्राप्त करने के लिए यजमान उसी पुरानी विधि का प्रयोग, सोम को क्षीण करने की विधि मे, आज भी करता है!"

कर्मकाण्ड मे **स्त्री की दुर्बलता एवं दासता** का कारण यह प्रसग उपस्थित किया गया है, यद्यपि एक और स्थल पर पति-पत्नी के सम्बन्ध का एक रोचक रूप भी प्रस्तुत है। **वाजपेय** यज्ञ के प्रकरण मे यजमान एक सीढी ला कर उसे यज्ञ-यूप के साथ खडा कर देता है और अपनी पत्नी के साथ तब उस सीढी पर चढना शुरू करता है

"चलो, हम स्वर्ग की ओर चढ चल। और पत्नी भी कहती है हां, चलो। बात यह है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा ही होता है और, सन्तान उत्पन्न किए बिना, उसमे पूर्णता आती नहीं––तो अपूर्ण रूप में स्वर्ग पहुंच कर वह करेगा भी क्या?" (५. २. १. १०)

स्वयं **यज्ञवेदि** को ब्राह्मणों में **स्त्री का रूपक** दिया गया है। वेदि-निर्माण के प्रकरण में स्त्री-सौन्दर्य का यह आदर्श, उपमा के व्यपदेश से, उपलक्षित होता है :

> **"वेदि का पश्चिम भाग चौड़ा होना चाहिए; मध्य सूक्ष्म, और पूर्व-भाग फिर चौड़ा : क्योंकि—वेदि को देखते ही देवता वैसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं जैसे मनुष्यों का किसी सुन्दर स्त्री को देख कर 'नाच उठा मन मोर'।"**
> (१. २. ५. १६)

स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के विषय पर भी यज्ञ-प्रणाली के एक अ-मानुष अंग द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। एक आर्तव यज्ञ के अन्त में यह उल्लेख मिलता है —

> **"और फिर प्रतिप्रस्थाता वहीं लौट आता है जहां कि यजमान की पत्नी बैठी हुई थी। उसे, हाथ से पकड़ एक ओर ले जाते हुए, वह पूछता है 'सच-सच बताना किस-किसके साथ तू यह अनुचित सम्बन्ध कर चुकी है?' (क्योंकि—एक की पत्नी होकर यदि कोई स्त्री पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तो वह पापिनी हो जाती है; और पाप को यदि एक बार स्वीकार कर लिया जाय, तो वह पाप नहीं रह जाता—पापिनी वरुण के प्रति भी अपाप हो जाती है; अन्यथा—उसका पाप उस पर और उसके सभी सम्बन्धियों पर, बढ़-चढ़ कर, लौट आएगा, उन्हें आमूल तहस-नहस कर देगा।"** (२. ५. २. २०)

किन्तु, प्रसंगात्, **पाप-अपाप" की भावना पर विवेचन** करने वाले ऐसे स्थल ब्राह्मणों में बहुत कम मिलते हैं। कई बार तो जबरन दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है कि उस जमाने में भी चीज को इतनी सरलता के साथ पेश करने की कला थी! एक कथानक देकर समझाने का प्रयत्न किया गया है कि असुर हारे और देवता जीते इसलिए नहीं कि असुर दुर्बल थे, अपितु इसलिए कि असुरों का अपना **झूठ** ही उन्हें मार गया! और, यद्यपि देवताओं को पहले-पहल बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ी, किन्तु अन्त में सत्य ही विजयी होकर रहा (९. ५. १. १६–)! सामान्यत धर्म, कर्म, नीति, सच बोलना वगैरह—इन ग्रन्थों का विषय ही नहीं (बन पाता)। सच तो यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थ इस बात का सजीव प्रमाण है कि धर्म का आडम्बर सचाई से दूर रह कर भी, दूर रह कर ही, कितनी आसानी के साथ खड़ा किया जा सकता है! **ब्राह्मण धर्म के मुख्य अंग हैं—यज्ञ-भाग, उत्सव, दीक्षा, दक्षिणा—किन्तु जीवन की पवित्रता का उनके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं!** इसे भी क्या हम धर्म कहेंगे कि यज्ञ—मनुष्य अपना पार्थिव इच्छाओं की पूर्ति के लिए तो करता ही है, साथ ही—अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए भी? ब्राह्मणों में तो यहां तक निर्देश मिलते हैं कि पुरोहित यजमान तक को, यज्ञ की अद्भुत शक्ति के द्वारा, विनष्ट कर सकता है—यदि यजमान दक्षिणा देते समय कंजूसी दिखाने लगे।

बड़ा आसान ढग है : यज्ञ की प्रक्रिया को पलट दो, मन्त्रो और मन्त्राशो को गलत स्थान पर प्रयुक्त कर दो, और—यजमान का सौभाग्य आप-से-आप दुर्भाग्य मे परिणत हो जाएगा !

अब जरा कुछ देर के लिए ब्राह्मण ग्रन्थो के इस मुख्य अग अर्थात् यज्ञयाग को एक ओर रख दे। सौभाग्य से अर्थवाद का एक अग इतिहास आख्यान-पुराण आदि द्वारा यह समझाना होता है कि अमुक **यज्ञ क्यों किया जाए** ? यज्ञ-सम्बन्धी इन कथानको द्वारा—यज्ञ के निर्जीव जीवन मे भी, पुरोहित की थोथी कल्पनाओ मे भी—कुछ रस, कुछ सरसता आ जाती है, एक सुन्दर काव्य-पुष्प खिल उठता है। सृष्टिपरक कथानक स्वय एक उद्यान की भाति इन पुष्पो से भर उठता है, महक आता है। उधर—**ताल-मूद** के बृहद्-ग्रन्थ मे हगदा के सुन्दर बगीचे मे हलचा की जादूगरी से मुक्त हो कर जिस प्रकार मधुरिमा क्षण भर के लिए पाठक के मनन्नभ पर छा जाती है।

पुरूरवस् और उर्वशी की प्राचीन ऋग्वेदीय कथा (शतपथ ब्राह्मण ११ ५ १) के रेगिस्तान मे उसी प्रकार का एक शाद्वल है। कथानक इस प्रकार है : उर्वशी नाम की एक अप्सरा एक पार्थिव राजकुमार पुरूरवस् के यौवन पर मुग्ध हो गई ! किन्तु, गान्धर्व लीला छोड, पुरूरवस् की गृहिणी बनने के लिए उसने कुछ शर्ते पेश की। गन्धर्वों ने एड़ी-चोटी एक कर दी कि इन शर्तों मे एक तो किसी प्रकार टूटे। उर्वशी पुरूरवस् से छूटती-फिरती है, और पुरूरवस् विरह की आकुलता मे बेचर रोता है, पीटता है, प्रलाप करता फिरता है। कुरुक्षेत्र की खाक छानता हुआ, एक पागल-सा, वह एक सरोवर पर आ पहुचता है जहा अप्सराए हसिनियो के रूप मे स्वच्छन्द तैर रही है। इन्ही हसिनियो मे ही कही, एक, उसकी उर्वशी है। यही पर पुरूरवस् और उर्वशी का वह प्रसिद्ध सवाद होता है जो ऋग्वेद के मन्त्रो मे एक बार पहले भी अकित हो चुका है —

"उर्वशी को, आखिर, बेचारे पर दया आ गई, और उसने कहा कि आज से तुम हर वर्ष एक बार, वर्ष की अन्तिम रात, मेरे साथ सोने के लिए आ सकते हो, कि तुम्हें मेरी कोख से एक पुत्र—कुछ मानसिक शान्ति—मिल जाय। .और जब वह उस वर्ष की अन्तिम रात वहां पहुचा, तो चकित रह गया कि यह स्वर्ण प्रासाद तो यहां था नहीं ! पहरेदारों ने सिर्फ एक ही शब्द कहा : 'आइये, और—उर्वशी को उन्होंने उसके पास जाने की अनुमति दे दी।

"अन्त मे उर्वशी ने कहा—देखो, कल ये गन्धर्व तुम्हे एक वर मांगने को कहेंगे। कुछ समझ-बूझ कर ही उनसे कुछ मागना। वह बोला—तुम्हीं क्यो नही मुझे बता देती कि मैं क्या मांगू ? उर्वशी ने कहा कि कहना—

बस—मैं भी (तुम्हारी ही तरह) तुममें आकर रहने लगूं। और यही हुआ। जब सुबह गन्धर्वों ने उससे वर मांगने को कहा तो वह बोला 'मैं भी तुम्हारी ही तरह तुम्हारे में आ कर रहने लगूं'।"

तब गन्धर्वों ने उसे एक प्रकार की अग्नि-पूजा सिखाई जिसके द्वारा कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार गन्धर्व बन सकता है। सच तो यह है इस यज्ञ की विधि की बदौलत ही यह प्राचीन लोक-गाथा यहां सावसर हो सकी। किन्तु यज्ञ के पाण्डे-तक कथा की कवित्वमयता को सर्वथा उच्छिन्न नहीं कर सके थे।

शतपथ ब्राह्मण (१ ८. १) में भी एक जल-प्रलय की कथा मिलती है जो असम्भव नहीं—मूलत, सेमेटिक प्राचीन गाथाओं से पल्लवित हुई हो.

"प्रातः सन्ध्यावन्दन के समय वे मनु के लिए आचमन-जल लाए। आचमन करते समय एक छोटी-सी मछली मनु के हाथों में आ गई।

"मछली कहने लगी—मेरी देखभाल करो, मुझपर दया करो—बाबा; समय आने पर मैं भी तुम्हारी रक्षा करूंगी। 'किस मुसीबत से मुझे बचाएगी तू?' एक जल-प्रलय आने वाली है जिसमें सब प्राणी नष्ट हो जाएंगे, पर तुझे मैं बचा लूंगी। 'ठीक है, लेकिन मैं तेरी देखभाल कैसे करूं?'

"मछली ने कहा—बात यह है कि, जब हम छोटी-छोटी होती हैं, हम मछलियां ही एक दूसरे को खाना शुरू कर देती हैं। तुम मेरे लिए एक घड़ा बना लो; जब घड़े से मैं बड़ी होने लगूं तो मुझे किसी जोहड़ में डाल देना, और जब जोहड़ भी सिकुड़ने लगे तो मुझे समुद्र में डाल देना फिर मुझे कोई नहीं मार सकेगा।

"और इस प्रकार करते-करते वह छोटी-सी मछली एक खासा मच्छ बन गई, झष बन गई, और—मनु से बोली: 'सुनो! अमुक वर्ष—एक जल-सम्प्लव आ कर ही रहेगा; अब, जैसे मैं कहती हूं, तुम तैयारी शुरू कर दो। एक जहाज बना लो और जब पानी बढ़ने लगे तो उसमें घुस जाना, मैं तुम्हें संकट से दूर किसी शिखर पर ले जाऊंगी।

"होते-होते आखिर वह दिन भी आया जब मनु मछली को समुद्र में छोड़ने के लिए ले आया। और, जैसी कि भविष्यवाणी उसने पहले कर दी थी, उसी साल जल-प्रलय आयी और मनु—अपने जहाज पर, वायदे के मुताबिक, चढ़ गया। मछली को कुछ भूला नहीं था वह—वह उधर से बढ़ती आई और, अपने शृंग पर जहाज को रस्सी से बांध कर, उसे उत्तराचल की ओर ले गई!

"मैंने अपना वचन पूरा कर दिया। अब तुम ऐसे करो कि जहाज को किसी द्रख्त के साथ बांध दो। लेकिन ख्याल रखना कि—पानी उतरते-उतरते किश्ती को सूखे में ही न छोड़ जाए! मनु ने वैसा ही किया। वह,

पानी के साथ-साथ जहाज को लाकर, धीमे-धीमे नीचे की ओर उतरता आया। आज भी उस स्थान को लोक-वाङ्मय में मनु-का-अवरोह कहते हैं।

"यह प्रलय सचमुच आई थी और--सारी दुनिया उसमें बह गई थी! एक मनु ही सम्पूर्ण सृष्टि में जीवित तब बच रहा था--एकाकी!

कथा का यह अन्त है, किन्तु, इसके अनन्तर मनु ने मानव जाति को किस प्रकार पुनर्जीवित किया, वह 'उत्तरचरित' इसमें नहीं है--शायद है भी, क्योंकि--आगे चलकर लिखा है कि मनु ने वंश-विस्तार की इच्छा से एक यज्ञ किया जिसमें --एक स्त्री उद्भूत हुई और, दोनों के मैथुन से, यह सृष्टि चक्र फिर से चलने लगा! मनु की इस मनस्पुत्री का नाम है--**इडा**, और, शायद, इडा नाम की आहुति की महत्ता स्थापित करने के लिए ही मनु का यह आख्यान यहां पर सक्त था।

इन उपाख्यानों का महत्त्व भारतीय **गद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से** भी कुछ कम नहीं है। ब्राह्मणों का यह गद्य-भाग प्रायः पद्य-मिश्रित हो कर ही प्राचीन महाकाव्यों की गद्य-शैली में पल्लवित हुआ है, किन्तु--जहां **पुरूरवस्-उर्वशी** (आख्यान) में आए पद्य केवल ऋग्वेद की महिमा से ही सुरक्षित है, इधर वही बात नहीं क्योंकि--भाषा और छन्द की दृष्टि से इस गद्य-पद्य की गणना प्राचीन 'वैदिक वाङ्मय' में ही की जाती है। **ऐतरेय** ब्राह्मण (७ १३ १८) के प्रस्तुत आख्यान में भाषा तथा छन्द की दृष्टि से जिस गद्य के साथ वैदिक गाथा-भाग मिश्रित है वह आपूर्ण **रामायण-महाभारत** की शैली का पूर्वाभास ही है। *हमारा संकेत शुनः शेप के निम्न आख्यान की ओर है --*

"वेधाः का पुत्र हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकुओं का एक राजा हुआ है। उसके घर कोई पुत्र न होता था. उसकी सौ पत्नियां थीं; वह इसी सन्ताप में दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था कि पर्वत और नारद, दो ऋषि, उसके यहां पधारे। हरिश्चन्द्र ने नारद से पूछा :--

'भगवन्! क्या आप मुझे बता सकते हैं कि मनुष्य--चाहे बेवकूफ हो चाहे समझदार--पुत्र क्यों चाहता है?'

हरिश्चन्द्र ने तो एक श्लोक में पूछा था, नारद ने उसे दस में उत्तर दिया --

'पिता जब नवजात को देखकर प्रसन्न होता है, पुत्र पिता के प्रति--उसी क्षण से--ऋणी हो जाता है और यह ऋण उतारने के लिए ही सन्तान की एक अविच्छिन्न परम्परा उसे चलानी पड़ती है।"

"पार्थिव सुखों में, अग्नि लोक में, जल-थल में, इससे बढ़ कर परम सुख और कोई नहीं जो एक पिता--पुत्र को देख कर--पा लेता है! पुत्र न हो तो जीवन अन्धकारमय हो जाता है। पुत्र ही इस भवसागर में डूबते की किश्ती है।"

"क्यो व्यर्थ ही यह भस्म, मृगचर्म, और जटा का ढोंग बना कर तपस्वी बने फिरते हो; ऐ ब्राह्मणो, मेरी सुनो—यदि कहीं कोई अ-पाप स्वर्ग है तो उसे तुम यही, एक पुत्र के द्वारा ही, अपने लिए प्राप्त कर सकते हो।...

"अन्न पर जीवन आश्रित है। वस्त्र आवरण का काम देते है। हिरण्य से सौन्दर्य चमक उठता है, आभूषित हो उठता है। विवाह, एक प्रकार से, पशुधन ही है।[12] पत्नी ही एकमात्र सुहृत् है, मित्र है।[13] और जो कीमत पुत्री-जन्म पर पिता को चुकानी पड़ती है उससे यह जीवन दूभर ही हो जाए, यदि—पुत्र-जन्म माता-पिता के अन्धकारमय जीवन मे कुछ दैवी ज्योति न ला दे।"

"पति ही पत्नी के अन्तःकरण मे समाकर उसीकी कोख से पुनः, दसवें महीने, नया जन्म पाता है, लोग भले ही—उसे उसका पुत्र क्यो न कहें!"

"यह उपदेश देकर, नारद उसे समझाने लगे 'जाओ, वरुण राजा के पास जाओ और उसके सम्मुख प्रतिज्ञा करो कि—मुझे आप एक पुत्र का वरदान दे तो मै उसे आपकी भेंट चढ़ाने की कसम खाता हूं।' नारद के उपदेशानुसार, हरिश्चन्द्र ने वही—कुछ किया : वरुण के सामने जा कर प्रतिज्ञा ली। और वरुण ने कहा—तथास्तु। पुत्र का नाम रखा गया — रोहित। और लो—उसी समय —कही से वरुण देवता आ टपके! उन्होने हरिश्चन्द्र को उसकी प्रतिज्ञा याद दिलाई। किन्तु हरिश्चन्द्र ने विनती की कि पशु-तक भी दस दिन के होकर ही मेध्य बना करते हैं; अभी यह दस दिन का कहां हुआ है? दस दिन के बाद फिर वरुण हाजिर हुए। हरिश्चन्द्र ने कहा— अभी तो, पशुओं की भांति, दांत भी नही निकले इसके! .

और इसी प्रकार कोई न कोई बहाना बन खड़ा होता है और—हरिश्चन्द्र टालमटोल करता ही चलता है। किन्तु आखिर—वह कल का बच्चा एक अच्छा हट्टा-कट्टा आदमी बन जाता है। हरिश्चन्द्र के पास अब कोई बहाना नही कि उसकी भेंट वरुण का न चढ़ा सके। उधर रोहित जवान हो चुका है और . समझदारी मे .घर से भाग खड़ा होता है! साल भर वह जगलो की खाक छानता है। (घर मे पिता जलोदर से पीडित है—आखिर वरुण ने भी तो किसी तरह बदला लेना ही था, ना?) रोहित, यह सुन कर, लौट पडता है। रास्ते मे उसे एक ब्राह्मण मिलता है जो उसे उपदेश देता है 'बेटा! जीवन तो रमते राम रहने ही का नाम है।' इसी प्रकार दो, तीन, चार, पाच साल बीत जाते है, जब-जब उसे घर लोटने की ख्वाहिश होती है, इन्द्र हर बार उसे—रूप बदल-बदल कर—मिलता है और उसे गृहस्थ जीवन से विमुख कर देता है। छठा साल था,

और रोहित उसी तरह बे-मतलब इधर से उधर, उधर से इधर घूमता फिरता है कि उसे ऋषि अजीगर्त के दर्शन होते है। यह अजीगर्त भूख से व्याकुल है, खाने की फिक्र मे घर से निकला हुआ है। इसके तीन पुत्र है। रोहित को एक युक्ति सूझती है कि—क्यो न इसे सौ गौए देकर इसके एक पुत्र को खरीद लिया जाए और वरुण का वह पुराना कर्जा इस तरह चुका दिया जाए! बडे पुत्र से पिता का मोह है, तो छोटे से मा का, सौदा मझले पुत्र शुन:शेप पर पटता है। शुन:शेप को साथ ले कर रोहित अपने पिता के पास पहुचता है। वरुण भी इस विनिमय को स्वीकार कर लेता है, क्योकि—राजसूय के प्रसग मे यज्ञिय पशु के स्थान पर—एक क्षत्रिय नौ-जवान की अपेक्षा—एक ब्राह्मण की बलि का मूल्य कही अधिक होता है! राजसूय की सारी तैयारिया हो चुकी है, किन्तु यज्ञिय पुरुष को यूप से बाधने को कोई तैयार नही होता। अचानक अजीगर्त यज्ञस्थली पर पहुच जाता है और वह सौ गौए ओर लेकर—शुन:शेप को यज्ञयूप से बाध ही देता है। सौ गाएं और दो, तो वह उसे कत्ल करने को भी तैयार है! ज्यो ही पिता एक तेज छुरी लेकर उसकी ओर बढता है, पुत्र के मन मे विचार उठते है—'लो, ये तो मुझे मारने के लिए भी तैयार हो गये जैसे मै इन्सान ही न होऊ! खैर, इस मुसीबत मे देवता ही मेरी पनाह बन सकते है', और वह ऋग्वेद के शब्दो मे हर (वैदिक) देवता की स्तुति गाता है। अन्त मे ज्यो-ही **उषा-सूक्त** के प्रथम तीन मन्त्र उसके मुह मे निकलते है, एक-एक करके उसकी शृखलाए टूट जाती है और—धीरे-धीरे, हरिश्चन्द्र का पेट छोटा होता जाता है। अन्तिम पद के साथ दोनो की पीडा और व्याधि का, एक साथ, अन्त हो जाता है। तब यज्ञ-स्थली मे आया पुरोहित-वर्ग उसे आदर-पूर्वक मनुष्यो मे वापिस ले आता है कि 'हमे तो मालूम नही था कि शुन:शेप हमारे इन सोम-सवनो मे एक का द्रष्टा (ऋषि) है!' विश्वामित्र, आख्यानो का प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र—जो हरिश्चन्द्र के राजसूय मे इस समय होता बन कर आया हुआ था, शुन:शेप को अपना पुत्र बना लेता है और, अपने सौ पुत्रो को उपेक्षित करके, उसी को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित कर देता है। आख्यान के अन्त मे लिखा है—

"यह था शुनःशेप का आख्यान जिस पर एक ऋग्वेद में ही सौ ऋचाएं मिलती हैं। राजसूय के समय राजा का अभिषेक करते हुए होता इसी कहानी को सुनाया करता है और यह कहानी—वह एक स्वर्ण-पीठ पर बैठ कर सुनाया करता है। एक और स्वर्ण-पीठ पर बैठा अध्वर्यु उसके (वाचक के) प्रत्युच्छ्वास में सिर हिलाता रहता है। स्वर्ण, सचमुच, हमारी लौकिक सम्पत्ति का प्रतीक है। स्वर्ण हमारे यश को बढ़ाता है। (जिसे ऋचाओ की दैवी भाषा में 'ॐ' कहते हैं, उसे ही मनुष्यों की गाथाओं मे 'हां' कहते

हैं।) यही कुछ प्रक्रिया है जिसके द्वारा होता और अध्वर्यु मनुष्य को एक ही शब्द द्वारा कष्टमुक्त कर सकता है। यदि कोई राजा विजयी होना चाहे तो वह, यजमान बने बिना भी, शुनःशेप की कथा को सुन कर ही अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता है। यही नहीं, यह कथा उसे सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर सकती है; किन्तु—इसके लिए उसे कथा-वाचक को एक हजार गौएं देनी होंगी, अध्वर्यु को सौ (और साथ ही एक-एक स्वर्ण-पीठ भी); होता की दक्षिणा में एक रजत-रथ भी विहित है जिसे, घोड़े नहीं, खच्चर खींचते हैं। (इस उपाख्यान का विधान पुत्रोत्पत्ति के प्रकरण में भी किया गया है।)"

यदि शुनःशेप का यह उपाख्यान सचमुच इतना प्राचीन है (**ऐतरेय** ब्राह्मण के सम्पादकों एवं संकलयिताओं की दृष्टि में भी इतना प्राचीन है) और **राजसूय** का एक अविभाज्य अंग है[16] (लोक-कथा तो उसकी फिर कितनी पुरानी होगी)। सचमुच—यह कहानी बहुत ही पुरानी होनी चाहिए, क्योंकि—प्रागैतिहासिक युग में हुए 'आद्य **पुरुषमेध** की वह स्मृति इसमें अब तक यथावत् अवशिष्ट चली आती है, यद्यपि—न कहीं अन्य ब्राह्मणों में और न कहीं श्रौत सूत्रों में ही राजसूय के प्रसंग में पुरुषमेध का जिक्र फिर कभी आता है। फिर भी, शुनःशेप की कथा ऋग्वैदिक युग के बाद की कथा है उपाख्यान में शुनःशेप द्वारा दृष्ट ऋचाएं, अलबत्ता, किसी पूर्वतर ऋषि की भी हो सकती हैं, क्योंकि—उन ऋचाओं का प्रस्तुत कथा के किसी भी अंग से कोई सम्बन्ध जचता नहीं, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में जो सूक्त (२४-३०) शुनःशेप की रचना कहे गए हैं, उनकी टेक कथानक के शुनःशेप के मुख से कुछ फबती नहीं "हे इन्द्र, हे मघवन्—हमें हजार बैलों का, हजार घोड़ों का, स्वामी बना दो!" जैसे २९वें सूक्त में, वैसे ही २४वें सूक्त में भी, मन्त्रों का द्रष्टा स्पष्ट ही (ऐतरेय ब्राह्मण का) शुनःशेप नहीं है "शुनःशेप को मुक्ति दिलाने वाला वरुण आकर हमारे बन्धन भी खोल दे!" और इसी प्रकार "तीन यूपों के साथ बंधे शुनःशेप ने आदित्य की स्तुति की"—जिसका इंगित स्पष्ट ही है कि ऋचाओं में भी शुनःशेप के आख्यान को कुछ पर्याप्त-प्रागैतिहासिक सा-ही स्वीकार कर लिया गया है।[17] यदि ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता इन मन्त्रों को शुनःशेप से कहलवाता है, तो—इसमें दोष उन्हीं **अनुक्रमणियों** की अविश्वसनीयता का है जिन्होंने ब्राह्मण-वाङ्मय के उस युग में इन ऋचाओं का ऋषि एक ही शुनःशेप को उद्घोषित कर दिया! ऋग्वेद की ऋचाओं में और परवर्ती वैदिक वाङ्मय में, समय की दृष्टि से, कितना अन्तर है उसका 'एक और प्रमाण' शुनःशेप का यह आख्यान है।

बदकिस्मती से ब्राह्मणों में संगृहीत उपाख्यान सब इतने पूर्ण नहीं जितना पूर्ण कि शुनःशेप की यह कथानक है। कथाओं के संग्रह का मुख्याभिप्राय यज्ञ की

किसी प्रक्रिया को युक्तिगवत सिद्ध करना अथवा स्पष्ट करना ही था, कई बार तो मूल कथा के सार को यज्ञ-प्रक्रिया के जगड्वाल से पृथक् करना असम्भव ही हो जाता है। यह भी आवश्यक नहीं कि ये कथाए प्राचीन लोकवाङ्मय से ही ली गई हो, यज्ञ-भूमिका के स्पष्टीकरण के लिए नई-से-नई कथाए भी खडी की जा सकती थी। ऐसी एक कथा प्रजापति की भेट धरे गए यज्ञिय उपहारो के सबन्ध मे भी कथावाचक की प्रत्युत्पन्न मति ने (शतपथ १ ४ ५ ८-१२) घड दी थी (जो कुछ कम दिलचस्प नही) —

एक बार मन और वाणी में कुछ झगड़ा-सा हो गया। दोनों का दावा था कि 'मैं श्रेष्ठ हूं'।

मन ने कहा कि—देखो, तुम कोई ऐसी चीज नही बोल सकती जो मेरी समझ से बाहर हो। बहुत करके तुम—मेरा अनुकरण ही कर सकती हो। मै तुमसे श्रेष्ठ हूं।

वाणी बोली, तुम्हारा ज्ञान किस काम का—यदि मै उसे रूप न दे सकूं, दूसरो तक पहुंचा न सकूं? तुम्हारा दावा व्यर्थ है। श्रेष्ठ मैं हूं।

दोनो प्रजापति के पास पहुंचे और प्रजापति ने मन के हक में फैसला कर दिया: निश्चय से मन ही तुम दोनो मे श्रेष्ठ है। क्योकि—एक अनुकरणकर्त्ता का स्थान कभी-भी ऊचा नहीं हो सकता।

वाणी को इससे निराशा होने लगी। वह प्रजापति के खिलाफ ही बोलने लगी कि—यह लो, तुमने मेरे विरुद्ध निर्णय दे दिया है! आज से म तुम्हारी आहुतियो को तुम्हारे पास नहीं लाया करूगी। और तब से, कहते है, प्रजापति को दी गई आहुतियां बड़े मद्धिम शब्दो मे दी जाती है, क्योंकि—वाणी प्रजापति से रूठ जो गई थी!"

इसी प्रकार के कितने ही अन्य कथानक ब्राह्मणो मे **वाणी** के सम्बन्ध मे मिलते है। **सोम की चोरी** की कहानी प्रसिद्ध है। यह कहानी बार-बार ब्राह्मण ग्रन्थो म दोहराई गई है कि किस प्रकार गायत्री, पक्षी का रूप धारण करके, स्वर्ग मे सोम को पृथ्वी पर लाई, किस प्रकार रास्ते मे एक गन्धर्व उसमे सोम छीन कर भाग खडा हुआ, परिणामत देवताओ के लिए एक समस्या ही खडी हो गई कि 'सोम की वापसी किस तरह सम्भव की जा सकती है?'

"देवताओं ने सोचा—गन्धर्वों मे एक कमजोरी है: वे औरतो पर मरते है। सो, उन्होने वाणी को गन्धर्वों के पास भेज दिया और (वह) देव-दूती फुसला कर गन्धर्वों से वह खोया अमृत—ले आई!

"गन्धर्वों ने उसका पीछा किया। और वह देवताओं से आ कर चिपट गई। तो 'अच्छी बात है, सोम को तुम ले लो; किन्तु—इस वाणी को हमारी

ही रहने दो !' देवताओं ने कहा अच्छी बात है, 'किन्तु इसके साथ कोई जोर-जबरदस्ती न करना।-- जब उसकी तबीयत करे उसे हमारे पास आने दिया करना। --हमारा इससे पुराना प्रेम है।'

गन्धर्वों ने वेद-मन्त्रों से उसकी स्तुति करनी शुरु कर दी : 'हमें भेद मालूम हो गया, हमें भेद मालूम हो गया'।

इतने में देवताओं ने एक वीणा बना कर नाचना-गाना शुरू कर दिया जिससे आकृष्ट हो कर वाणी दौड़ती हुई--उनके पास आ गई ! किन्तु वेद-मन्त्रो के गान को छोड़ कर वाद्य, गीत और नृत्य के पीछे उसका इतना पागल हो उठना सब व्यर्थ था--

"औरतों की फितरत में ही कुछ व्यर्थ की चीजों के पीछे भागना समाया होता है जो उन्हें प्रायः उसी प्रकार अस्थित कर देता है जैसे देवो के वाद्य-गीत ने, और नृत्य-लीला ने, वाणी को कभी किया था।"

(३ २ ४.२-६, ३.२ १ १९-)

जिस प्रकार यहा **स्त्रियों की एक प्रवृत्ति** को समझाने के लिए कथा घढी गई है, स्थान-स्थान पर किसी-न-किसी समस्या अथवा सस्था का रहस्य समझाने के के लिए ब्राह्मण ऐसे उपाख्यानों का सहारा लेते है। किसी वस्तु अथवा प्रथा के मूल उद्भव को जानने के लिए जो सर्गात्मक कथाए भारतीय लोक-वाङमय मे घढी गई, उन्हे देव-परक इतिहासो अपिवा आख्यानो से विशिष्ट दिखाने के लिए **'पुराण'** की सज्ञा दी जाती है। इन्ही कथाओ मे ब्राह्मण-पुरोहितो द्वारा घडी कुछ कहानिया भी है (यद्यपि ब्राह्मणो मे आई अधिकाश कहानियो का मूल कर्मकाण्ड से सर्वथा असम्बद्ध 'प्राचीन लोक-गाथाए' थी)। (ऋग्वेद के) **पुरुषसूक्त**[६] मे पुरुष से चारो वर्णो की उत्पत्ति की कल्पना की गई है कि किस प्रकार ब्राह्मण उस 'आदि पुरुष' के मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओ मे, वैश्य जघाओ मे, और शूद्र (यज्ञ मे आहुत उसी पुरुष के) चरणो से उत्पन्न हुआ जिसका रूपान्तर ब्राह्मण ग्रन्थो मे इस प्रकार मिलता है कि वे सब प्रजापति के अ :-प्रत्यग से ही सम्भव हो सकता था प्रजापति के मुख मे ब्रह्मा और अग्नि, छाती और भुजाओ मे क्षत्रिय तथा इन्द्र, मध्य भाग से वैश्य तथा विश्वेदेवा, किन्तु पैरो से उसके केवल शूद्र ही उद्भूत हुआ। **शूद्र के साथ किसी देवता की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसीलिए उसे यज्ञ का अधिकार नहीं।** और इस उत्पत्ति का परिणाम यह है कि ब्राह्मण अपने ब्रह्मकर्त्तव्य को मुख के द्वारा करता है, तो क्षत्रिय भुजाओ के द्वारा (उसी प्रकार) क्षात्र धर्म को निभाता है, और--क्योकि वैश्य की उत्पत्ति ही प्रजापति के मध्य भाग से हुई थी--उसे ब्राह्मण और क्षत्रिय कितना-भी खा-जाए-वह नष्ट नही हो सकता ! (क्योकि--मध्यभाग मे ही प्रजनन-शक्ति का मूल सुरक्षित है !) शूद्र का कर्त्तव्य

एक ही रह जाता है कि —वह धर्म-कृत्यों में इन तीनों श्रेष्ठ-वर्णों के चरण पखारा करे।

मैत्रायिणी संहिता में रात्रि की और पर्वतों के पंखों की उत्पत्ति की दो कल्पनाएं इस प्रकार की गई है।

"यम की मृत्यु हो गई, देवताओ ने कोशिश की कि यमी यम को भूल जाए। जब भी वे उसे सान्त्वना देने की (कोशिश) करते, वह कहती एक ही दिन के लिए तो उसकी मृत्यु हुई है। देवता मुश्किल में पड़ गए और सोचने लगे कि यही हाल अगर इसका रहा तो फिर तो यह उसे कभी भी न भुला सकेगी। सो, उन्होंने रात बना दी। उससे पहले दिन लम्बे हुआ करते थे, रात तब होती ही न थी। रात आने से यह हुआ कि आज के बाद कल, और कल के बाद परसों, का सिलसिला शुरू हो गया और लोग करते-करते अपने दुखों को भूलने लग गए।" (१. ५. १२)

"प्रजापति की सबसे पुरानी सन्तान है—ये पर्वत। तब इनके पंख हुआ करते थे, और जहां-जी-में-आए उड़ते फिरते थे। उन दिनों पृथ्वी अभी अस्थिर थी, डांवा-डोल थी। इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट दिए कि पृथ्वी को कुछ और ठिकाना मिल सके: दोनों एक दृढ़-बन्धन में बंध जाएं! किन्तु—वही कटे हुए पंख तूफानी बादल बन गए, इसीलिए—हम देखते हैं कि तूफानों का दौर प्रायः पर्वतों की दिशा में ही हुआ करता है।" (१. १०. १३)

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो ब्राह्मणों में कथानकों की भरमार है। यज्ञ में—दिशाओं का अध्यात्म के साथ क्या सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध में भी एक कल्पना की गई है। कथानक के आरम्भ में स्थापना यह प्रस्तुत की गई है कि दैनिक अग्निहोत्र, जिसे हम सांझ-सवेरे करते हैं, सब यज्ञों में श्रेष्ठ है, इसमें दूध की आहुति डाली जाती है और उसके सम्बन्ध में पुरानी परम्परा (शतपथ २ २ ५) इस प्रकार जोड़ी गई है —

"आरम्भ में प्रजापति ही था, और वह अकेला था। उसे चिन्ता हुई कि किस प्रकार मैं अपने वंश को अविच्छिन्न कर सकता हूं। यह 'जानने के लिए' उसने घोर तप किया। परिणामतः उसके मुख से अग्नि निकली, और मुख से उत्पन्न होने के कारण ही, अग्नि का स्वभाव है कि वह सब भोग्य वस्तुओं को खा जाती है! जो भी कोई अग्नि के इस रहस्य को समझता है, सम्पूर्ण अन्नों का वह एक-मात्र उपभोक्ता बन जाता है! अग्नि को अग्नि, शायद, कहते भी इसी लिए हैं कि—सृष्टि की प्रक्रिया में सबसे पहले आई—वह अग्रतम है।

"अब प्रजापति को चिन्ता हुई कि अन्न खाने वाले को तो मैंने पैदा कर

दिया किन्तु अन्न तो मैंने पैदा किया हो नहीं; और —अगर भूख में यह मुझे ही खा जाए, तो ?"

तब पृथ्वी पर न अभी वृक्ष उगे थे, न कोई फूल-पौधे कहीं तब थे। प्रजापति को यही चिन्ता अन्दर से खाये जाती थी। इसी क्षण अग्नि अपना मुंह फैला कर प्रजापति की ओर बढ़ी! प्रजापति के होशहवास उड़ गए।

"यह होश-हवास, और कुछ नहीं, प्रजापति की ही, डर के मारे अन्दर से निकली एक चीख थी!

"—वाणी ही है जो कि प्रजापति की सच्ची महिमा है।"

(इसके अनन्तर कथानक में बताया गया है कि प्रजापति अपने ही लिए एक आहुति चाहता है। वह अपने हाथ रगड़ता है; उस रगड़ से कुछ दूध, कुछ मक्खन, सामने आता है—जिस में से सृष्टि के पहले—पौधे फूट पड़ते हैं; किन्तु—जब उस मक्खन और दूध को आहुति बना कर आग में डाला जाता है—तत्क्षण, सूर्य और वायु प्रकट हो आते हैं और सृष्टि की प्रक्रिया चल पड़ती है।)

"—इस प्रकार प्रजापति ने पहली आहुति देकर अपनी सन्तान को भी अविच्छिन्न कर लिया और साथ ही मौत (अर्थात् अग्नि) के मुंह में पड़ने से अपने को बचा भी लिया!"

हम मनुष्यों में भी अग्निहोत्र के रहस्य को जो समझ लेता है, प्रजापति की भांति, वह भी मृत्यु से मुक्त हो कर अपने वंशजों में अमर हो जाता है। मौत आती है, पर मरने पर जब उसे अग्नि-चिता में डाला जाता है—उसका शरीर भी ज्वालाओं में (प्राकृतिक नियमानुसार) अदृष्ट हो जाता है! किन्तु, वास्तव में, वह और भी जाज्वल हो कर पुनर्जन्म ले रहा होता है। यह जन्म भी उसका शारीरिक माता-पिता के घर लिए उसके पुराने जन्म से किसी अंश में कम नहीं होता।

"इसके विपरीत, जो मनुष्य अग्निमेध नहीं करता, उसका दूसरा जन्म असम्भव है।

"यही अग्निहोत्र की हम पार्थिव जनों के लिए युक्ति एवं आवश्यकता है।"

(इसके अनन्तर बड़ी सूक्ष्मता के साथ अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं की प्रजापति के द्वारा उत्पत्ति का उल्लेख है जिसमें स्वयं देवता भी यज्ञाहुतियों में व्यापृत दिखाए गए हैं और अन्त में गौ की उत्पत्ति का उल्लेख होता है)। किन्तु अग्नि के मन में विचार आया, कामना जागी, कि क्यों न मैं गौ को अपनी सह-धर्मिणी बना लूं। अग्नि के वीर्यदान से उस गौ में क्षीर की उत्पत्ति

सम्भव हुई। इसीलिए कहते हैं कि —यद्यपि गौ स्वयं परिपक्व नहीं होती, दूध को उसके, अलबत्ता, पकाया जा सकता है। गाय काली हो, लाल हो— दूध उसका सदा, अग्नि की तरह, चमचमाता हुआ और सफेद ही होता है! दुहने के समय भी दूध इसी कारण कुछ गर्म होता है, उष्ण होता है, क्योंकि— उसमें अग्नि का वीर्य जो अन्तर्निहित होता है।"

सृष्टि की उत्पत्ति जहा प्रजापति के घोर **तप** के साथ आरम्भ होती है, वहा ज्यो-ही सृष्टि-चक्र पूर्ण होने लगता है—प्रजापति थक जाता है, कमजोर पड जाता है और, सो उस खोई शक्ति को पुन प्राप्त करने के लिए एक और यज्ञ का प्रकरण उठ खडा होता है। एक स्थल पर यह यज्ञ प्रजापति के लिए देवता लोक करते हैं तो एक-और स्थल पर यह कृपा उस पर अग्नि स्वय करता है और अन्यत्र हम पढते है कि प्रजापति यह खोई शक्ति सूक्तो को गा-गा कर, अपने को और-ज्यादह थका कर—यज्ञ-पशुओ की रचना करके और उन्हे अग्नि के अर्पित करके, पुन-अधिगत करता है।[¹⁹] यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि स्वय सृष्टि का स्वामी और जनक हो कर भी प्रजापति—यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थो मे वह देवाधिदेव है, उसमे कुछ महामहिमता नही प्राय उसकी शोचनीय दीन-सी अवस्था ही हमारे सामने आती है। एक बार तो (शतपथ १० २. २.) देवता सचमुच उसे उठा कर आग मे झोक भी देते है! एक आख्यान मे, जिसको कितनी ही बार दोहराया भी गया है, प्रजापति पर अपनी ही पुत्री द्यौ अथवा उषा के साथ व्यभिचार करने का दोष भी लगाया गया है, और उसे उचित दण्ड देने के लिए ही तब, कहते है, देवताओ ने अपने घोरतम अशो को सचित करके रुद्र की रचना की थी रुद्र ने प्रजापति को एक तीर से बीध दिया जिसके परिणाम स्वरूप आकाश मे चमकने वाले ये ग्रह-नक्षत्र निकल आए![¹⁶] और वह बात भी कुछ कम महत्त्व की नही कि वेदो और ब्राह्मणो मे सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यूरोपीय गाथाओ की तरह कोई एक ही गाथा प्रचलित हो, ऐसी बात नही है; उल्टे, गाथाओ के इस वैदग्ध्य मे कुछ सगति दिखा सकना सर्वथा असम्भव-सा प्रतीत होता है। उक्त कथानक के अनन्तर ही शतपथ ब्राह्मण (२ ५ १ १-३) मे एक सृष्टि की कथा और आती है जिसमे प्रजापति तप तो जरूर उसी तरह से करता है, किन्तु—प्राणियो का विकास, उस कथानक मे, सर्वथा भिन्न है पहले पक्षी आते है, फिर जमीन पर रीगने वाले साप वगैरह, लेकिन पैदा होते ही दोनो—नि शेष हो जाते है!, और प्रजापति, फिर, वैसे ही—अकेले-का-अकेला—रह जाता है। वह सोचने लगा—आखिर बात क्या है? गम्भीर चिन्तन के अनन्तर निष्कर्ष यह निकला कि—**भोजन के बिना ये मरें नहीं, तो और करें क्या!** सो, उस ने एक नए प्रकार के प्राणियो की रचना की जिनकी छाती मे दूध निकलता था अब वे पहले प्राणी बे-मौका मौत मे

बच सकते थे। **शतपथ** मे ही एक और स्थान (७, ५.२ ६) पर प्राणियो की उत्पत्ति प्रजापति के इन्द्रियो से कल्पित की गई है, तो—मनुष्य की उत्पत्ति उसके मनोमय से; और फिर कहा गया है कि घोडे उसकी आंखों से, गौए उसके श्वासों से, भेंडे उसके कानो से, और बकरिया उसकी आवाज से—प्रकट हुई और तब-कही, इस रहस्य को समझाते हुए लिखा है कि, मन 'इन्द्रियों का राजा है' ! सो, इस युक्ति से, **मनुष्य सम्पूर्ण सृष्टि का अधिपति है।**

अधिकाश उपाख्यानो मे तो प्रजापति को ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मान लिया गया है, किन्तु—स्वय ब्राह्मणो मे ही, उस प्राचीन युग मे, स्वय प्रजापति को भी सृष्टि का ही एक अग मानने की प्रथा भी थी जिसे सम्भव करने के लिए सृष्टि का पूर्व रूप अव्यक्त **आपः** को अपिवा **असत्** को अपिवा **ब्रह्म** को उद्घोषित किया गया है। शतपथ मे ही एक कथा इस प्रकार आती है :

"शुरू मे सब पानी ही पानी था—जिसकी कोई थाह नहीं थी, जिसका कोई आर-पार नहीं था : इन आपः में इच्छा जागी कि हम बढ़ें, हमारे वंशज हो। घोर तप किया गया और तप की ज्वालाओं में से एक स्वर्णिम अण्ड की उत्पत्ति हुई, तब—अभी 'वर्ष' की उत्पत्ति नहीं हुई थी; किन्तु वर्ष की जो-भी अवधि हुआ करती है—यह अण्डा जल की उन धाराओं पर इधर-उधर बहता रहा। वर्ष के अन्त में उस अण्डे में से एक पुरुष प्रकट हुआ: यह वह आदि-पुरुष ही था जिसे गाथाओं में प्रजापति कहते हैं, क्योंकि प्रजापति की उत्पत्ति एक वर्ष के अन्त में हुई थी, सृष्टि मे स्त्री—मनुष्य की हो अथवा किसी अन्य पशुजाति की—प्रायः वर्ष भर गर्भिणी रहती है। प्रजापति ने उस सुनहरी अंडे को फोड़ दिया। किन्तु अभी तक कहीं उसके लिए (स्थिर) टिक सकने का कोई ठिकाना ही नहीं था, इसलिए—यह अंडा फूट कर भी एक वर्ष भर बहाव में इधर-उधर थपेड़े खाता रहा। वर्ष के पश्चात् उसने कुछ बोलना चाहा, उसके मुंह से निकला "भूः" और वह पृथ्वी बन गई; "भुवः", "स्वः" और लो—अन्तरिक्ष और आकाश भी प्रकट हो गए ! आज भी हालत कुछ बहुत भिन्न नही होती। बच्चा साल के बाद ही बोलना शुरू करता है, और, प्रजापति की ही भांति, वे पुराने एकाक्षर, द्व्यक्षर ही उसके भी 'प्रथम शब्द' होते हैं। ये तीन लोक कुल मिलाकर पांच अक्षर बनते हैं। इन्हीं पांच अक्षरों से प्रजापति ने साल की पांच ऋतुओं की रचना की थी, और सृष्टि की प्रक्रिया समाप्त करके (वर्ष के अन्त में) वह लोक-लोकान्तरो की इस लीला से विरत-ऊपर उठ खड़ा हुआ, और—आज भी बच्चे प्राय साल के बाद ही अपने पैरों पर खड़ा होना शुरू करते हैं ! किन्तु उत्पत्ति के प्रायः उस क्षण में भी एक सहस्राब्द जीवन उसमें अन्तर्गर्भित था; और जैसे नदी के एक किनारे खड़े होकर हम

दूर-दृष्टि द्वारा नदी का वह पहला किनारा भी देख सकते हैं, सृष्टि के उस प्रथम पुरुष में जीवन-सरिता के 'उस पार' को देख सकने का सामर्थ्य था! कुछ हो ऋचाएं गाते हुए, तपस्याओं में अपने को खपाते हुए, पुरुष ने अविच्छिन्न होने की, सं-तत होने की, कामना की। पुनर्जन्म की अन्तः-शक्ति को अपने में संभाले, वह बढ़ता-ही गया; उसने मुंह खोला, तो—देवताओं की सृष्टि सम्पन्न हो गई! सब-कहीं प्रकाश हो गया, दिन हो गया। यही-कुछ देवताओं के देवत्व का रहस्य है: अर्थात्—पुरुष के अन्धकारमय जीवन में ज्योति का उदय हो आना, रात का दिन में परिणित हो जाना। तब उसने 'अपान' शक्ति द्वारा असुरों की रचना भी की! किन्तु—असुर अन्धकार के प्रतीक थे; वह भी समझ गया—यह मुसीबत मैंने खुद ही अपने लिए सहेड़ ली है। यह अन्धकार भी तो मेरी अपनी ही करतूत है। सो, सृष्टि के उस प्रथम प्रभात में उसने असुरों को पाप से डस दिया, और लो—असुरों के दिन का अन्त आ गया! और इसीलिए—कहना भी पड़ता है कि—जो कुछ अन्वाख्यानों और इतिहासों में देवासुर संग्रामों के बारे में लिखा है वह सच नहीं है क्योंकि—असुरो का दिन तो प्रजापति द्वारा उनके पाप-स्पृष्ट होते ही समाप्ति पर आ चुका था... ...और देवताओं की सृष्टि करके जो कुछ सृष्टि में अब प्रकाशमय रह गया था उससे पुनः हमारे लिए दिन की उसने रचना की थी और जो कुछ आसुर-अंश रह गया था उससे उसने अन्धकार की अर्थात् रात्रि की रचना की थी। इस प्रकार—दिन और रात का सिलसिला कभी चला था।..." (११. १. ६. १-११)

शतपथ १ ६ १ १ मे सृष्टि-उत्पत्ति की एक और कथा आती है जो कुछ कम स्पष्ट होती हुई भी उक्त कथानक से कही अधिक मनोरजक है. **"आरम्भ में, बस, असत् ही असत् था।"** कहानी तत्क्षण पलटा खा जाती है कि यह असत् वास्तव मे ऋषियो का ही एक रूप था, क्योकि—बात यह है कि ऋषियो ने ही घोर तप करके इस सृष्टि को सम्भव किया था. यह अक्सर हम भूल जाते हैं। **ऋषि** कौन थे ?—उत्तर मिलता है **प्राणाः** (जीवन के अन्तस्तत्व)। किन्तु, किस प्रकार इन प्राणो द्वारा (या ऋषियो द्वारा) सृष्टि-चक्र चल पड़ा—यह समझ सकना हमारी बुद्धि के बाहर है: क्योकि, लिखा है—ऋषियो ने (अपितु प्राणो ने) सात पुरुषो की रचना की और फिर सातो को मिलाकर एक महापुरुष अर्थात् **प्रजापति** खडा कर लिया :—

"पुरुष-रूप प्रजापति के मन में इच्छा हुई कि मेरा विकास हो, मेरा वंश बढ़े। उसने तप किया और तप का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्म अर्थात् त्रयी विद्या प्रकट हो गई! त्रयी पुरुष के सम्पूर्ण-कलाप का आधार बनी,

क्योंकि–शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म ही इस सब का आधार है और, इसीलिए, एक वेद-ज्ञ का आधार सदा स्थिर होता है (क्योंकि ऐसे पुरुष का परम आधार भी तो ब्रह्म-वेद ही होते हैं)।"

इस प्रकार किस्सा चल पड़ता है। ब्रह्म के इस मूलाधार पर स्थिर रहते हुए प्रजापति ने फिर तप करना शुरू किया, और आप की रचना की। वेद की सहायता से उसने एक अंडे को जन्म दिया। अंडे से एक हिरण्मयी ज्वाला फूट निकली, जब—(उस फूटे) अंडे का बाहरी खोल पृथ्वी बन गया, इत्यादि-इत्यादि। कहानी बहुत लम्बी है और उसके सूत्र प्राय: अब परस्पर उलझते प्रतीत होते हैं, फिर भी–ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रह्म, जो कि मूलत: मन्त्र या जादू था, क्रमश, 'वेद' की भावना मे रूढ होता गया! उन शुरू के दिनों मे भी वह अंग-जग की स्थिति का एक-एव आधार बन चुका था। सृष्टि के सिद्धान्त का मूलाधार ब्रह्म ही है —इस दृष्टि मे अब कसर कितनी रह गई थी! **शतपथ** ११. २. ३. १ मे यह एक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत भी है —

"शुरू-शुरू मे, बस, ब्रह्म ही था। ब्रह्म ने देवताओं को रचा और देवताओं की रचना समाप्त करके ये तीनो लोक उस ने उन्हीं के हवाले कर दिये—पृथ्वी अग्नि को, अन्तरिक्ष वायु को, और द्यु-लोक सूर्य को।"

ब्राह्मण-ग्रन्थो में भारतीय दर्शनशास्त्र (मे प्रसिद्ध विचारों) का बीज जो मिलता है, उसी का स्वाभाविक प्रस्फुटन-विघटन आगे चलकर आरण्यको तथा उपनिषदो मे हुआ। शाण्डिल्य की स्थापना यदि सच है (१० ६ ३), तो उपनिषदो के आधारभूत सिद्धान्त हमे, सब, शतपथ ब्राह्मण में ही मिल सकते हैं।

१ L. von. Schroeder I. L. C., 127-167, 179-190, S Levi · *La droctrine du sacrifice dans les Brāhmanas* (*Bibliotheque de l'école des hautes études*), Paris, 1898, H Oldenberg. *Vorwissenschaftliche Wissenschaft, die Weltanschaung der Brāhmana-Texte*, Göttingen, 1919, *Zur Geschichte der altindischen Prosa*, 131f, 20ff

२ Max Muller *Chips* (from a German workshop), I.

३ Weber HIL, 62f

४ Eng. tr. by J Eggling. SBE vols 12, 26, 41, 43, 44 And—Wackernagel (*Altind Grammatik*, I,xxx), Keith (HOS, vol 25, 46f), Oldenberg (*Zur Geschichte*, 20ff)—for 'comparative chronology of the Brāhmanas'.

५ **सामवेद** के इस तथाकथित **वंशब्राह्मण** मे गुरुपरम्परा मे याज्ञवल्क्य ६५वा है तो स्वय वाक्-आम्भृणी के प्रमाद से ब्राह्मण का द्रष्टा नेध्रुवि ५५वा है।

६ यही अन्धविश्वास प्राचीन रोम मे भी प्राय इसी रूप में प्रचलित थे,

Cf. Eggling (SBE, 12, x) und Marquardt and Mommsen (Handbuch der romischen Altertumer, VI, 172, 174, 213).

७ Cf. *Faust* :

> The Church has a good digestion,
> Has eaten up whole lands
> And yet never over-eaten herself.

८ Weber SBA, I, 594ff

९ मैत्रायणी-संहिता १ १० ११, १. १० १६ शतपथ १४ १ १. ३१; Levi (*La doctrine du sacrifice*, 156ff), Oldenbrg (*Vorwischenschaftlichte*, 44ff), and Winternitz (*Die Frau im den indischen Religionen*, I, 10ff, 43)

१० Oldenbrg *Voreuissenchaftlichte*, 19ff, Levi *La doctrine du sacrifice*, 9, 164ff

११ जीवन (अपिवा 'अमृत') के तीन ऋणो के प्रतिपादन का पूर्वाभास तैत्तिरीयसंहिता ६ ३ १०. ५, तैत्तिरीय-ब्राह्मण १. ५. ५. ६ मे हुआ है, यद्यपि ऋग्वेद ५ ४ १० मे मिलता है ।

१२ Cf the 'oxen-bringing maidens' in Honer.

१३ Cf. पाणिनि (५ २ २२) साप्तपदीनं सख्यम् ।

१४ Keith sums up the whole ancient Indian tradition at HOS, 25, pp 29f, 40f, 61f 67

१५ Cf Keith HOS, 25 p 50

१६ Rv, 10 90. AGPh, I, 1, 150ff

१७ शतपथ ४ ६ ८ १, ७ ४ १ १६, ६ १ २ १२; ३ ६ १.

१८ ऐतरेय ३ ३३, शतपथ १ ७ ४ १, २ १ २ ८, ६ १.३ ८

आरण्यक और उपनिषद्

गार्बे[1] का यह कहना कि यज्ञ-याग प्रणाली ही ब्राह्मण-युग की मरुभूमि से फूटा एक फूल है जिसे, दार्शनिक चिन्तन की प्रथम उषा से पूर्व, हम कुछ साहित्यिक मान सकते है. हमारी समझ मे एक अतिशयोक्ति ही है। यह मानने को तबीयत नही करती कि ऋग्वेदीय प्रवक्ताओ के प्रतिभाशाली वशज समय बीतने पर यज्ञयाग की प्रक्रियाओ में, छोटी-छोटी चीजों की बाल की खाल उधेडने मे, अपने जीवन को खपा देगे। और यदि यह सच भी हो तो क्षत्रियो के पास, और वैश्यो और शूद्रों के पास तो, पर्याप्त फालतू समय था। सचाई यह है कि—जैसे सायण ने बलपूर्वक कहा भी है कि—कल्पशास्त्र तथा कल्पशास्त्र-विषयक चिन्तन-विवेचन के अतिरिक्त, ब्राह्मणो मे—इतिहास के आख्यान, पुराणो की सृष्टिसम्बन्धी कल्पनाए, लोक-काव्य तथा वीरगाथाए भी—पग-पग पर बिखरी नजर आती है। अर्थात्—महाकाव्य का युग भी ब्राह्मणो के साथ ही शुरू हो चुका था, और ये व्यय-साध्य और विशाल यज्ञ आदि हो ही न सकते यदि युग-जीवन मे कला-कौशल, श्रम आदि के द्वारा सुख-वैभव पहले से जुटाए न जा चुके हो। हम तो इस बात की कल्पना भी नही कर सकते कि उस समृद्धिशाली ब्राह्मण-युग मे भारत के क्षत्रिय और व्यापारी, किसान, और गडरिये, शिल्पी और मजदूर—गीत न गाते हो, आपस मे कोई किस्से-कहानी न सुनाते हो ! वैदिक वाङमय मे ऐसे गीतो और ऐसी कहानियो का बहुत कम सगृहीत हो सका है, क्योकि शुन शेप सरीखे उपाख्यानो का असल माध्यम रामायण-महाभारत और पुराण थे। ब्राह्मणो मे यह ऊहापोह, यह गम्भीर चिन्तन—व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि वेदाग-विज्ञानो का कुछ-न-कुछ पूर्वरूप समर्थित करता है। दार्शनिक चिन्तन (अथवा जागरण) ब्राह्मण-युग के, पश्चात् नही, पूर्व शुरू हो चुका था। स्वय ऋग्वेद मे ही कुछ ऐसे सूक्त है जिनमे देवताओ मे और पुरोहितो की अद्भुत शक्ति मे जनता के अन्धविश्वास के प्रति कुछ सन्देह स्पष्ट प्रकट हो चुके है। प्राचीन भारत के ये प्रथम विचारक (अथवा नास्तिक) कोई इक्के-दुक्के हो, ऐसी बात भी नही है, वेद स्वय अपने विचारो का प्रचार कर रहे थे, प्रत्येक वेद के अपने-अपने सम्प्रदाय थे जिनका सकेत अथर्ववेद और यजुर्वेद के बिखरे दार्शनिक सूक्तो मे मिलता है (यद्यपि यह सच है कि सहिताओ की प्रवृत्ति इन दार्शनिको का उपहास करने की अधिक है)। किन्तु इन उपहासो से भी तो यही सिद्ध होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन भी अगली सदियो मे, जब कि कर्मकाण्ड एक वैज्ञानिक रूप अख्तियार कर रहा था, साथ-साथ ही, निरन्तर, पल्लवित हो रहा था।

भारत के इन प्रथम दार्शनिको को उस युग के पुरोहितो मे खोजना उचित न होगा, क्योंकि—पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाचा देने मे दिलो-जान से लगे हुए थे जबकि इन दार्शनिको का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मणयज्ञो के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते है, उन्ही के घर मे ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की मत्ता मे विश्वास न करे, देवताओ के नाम से आहुतिया देना जिसे व्यर्थ नजर आए बुद्धि नही मानती। सो, अधिक सम्भव नही प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्ही लोगो का क्षेत्र था जिन्हे वेदो मे पुरोहितो का शत्रु—अर्थात् अ-रि, कजूस, 'ब्राह्मणो को दक्षिणा देने मे जी चुराने वाला'—कहा गया है।

उपनिषदो मे तो, और कभी-कभी ब्राह्मणो मे भी, ऐसे कितने-ही स्थल आते है जहा दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह मे **क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन** स्वत सिद्ध हो जाती है। **कौशितकी** ब्राह्मण (२६ ५) मे प्राचीन भारत की साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध मे, आती है कि किस प्रकार वह मानी ब्राह्मणो से यज्ञ-विद्या के विषय मे जूझता है। **शतपथ** की ११वी कण्डिका मे राजा **जनक** सभी पुरोहितो का मुह बन्द कर देते है, और तो और, ब्राह्मणो को जनक के प्रश्न ही समझ मे नही आते! एक और प्रसग मे श्वेतकेतु—सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए—ब्राह्मणो से प्रश्न करते है कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीका क्या है, और किसी से इसका सन्तोषजनक उत्तर नही बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा, अर्थात सौ गौए, याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है, किन्तु—जनक साफ-साफ कहे जाता है कि अग्निहोत्र की भावना अभी स्वय याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नही हुई। और सत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते है, तो ब्राह्मणो मे कानाफूसी चल पडती है 'यह क्षत्रिय होकर हमारी ऐसी-की-तैसी कर गया'. खर, हम भी तो इसे सबक दे सकते है—ब्रह्मोद्य (के विवाद) मे इसे नीचा दिखा सकते है?' तब याज्ञवल्क्य उन्हे मना करता है—'देखो, हम ब्राह्मण है और वह सिर्फ एक क्षत्रिय है हम उसे जीत भी ले तो हमारा उससे कुछ बढ नही जाता, और अगर उसने हमे हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उडाएगे—'देखा?, एक छोटे-से क्षत्रिय ने ही इनका अभिमान चूर्ण कर डाला!' और उनसे (अपने साथियो से) छुट्टी पाकर याज्ञवल्क्य स्वय जनक के चरणो मे हाजिर होता है 'भगवन्! मुझे भी ब्रह्मविद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए!' (१० ६ २, ११ ३ १ २-४, ९ ६ ३)

एक और कथा (११ ४ २ १७-२०) **अयस्थूण** की आती है जिसमे वह अपने ही पुरोहित शौल्कायन को ब्रह्मविद्या का रहस्य समझाता है। अयस्थूण स्वभावत यजमान था, वह ब्राह्मण कभी नही हो सकता (यद्यपि सायण उसे

ऋषि कहता है, किन्तु ऋषि प्राचीन परम्परा के अनुसार वैदिक युग मे ब्राह्मणेतर भी हो सकते थे)। ऐसा ही एक ऋषि था **कवश** जो किसी गृहदासी का पुत्र था। वह एक बार किसी महासत्र मे सम्मिलित होने आया तो पुरोहितो ने गुस्से मे आकर उसे खदेड दिया कि भूख और प्यास से आकुल होकर वह, वीरान मे जाकर, मर जाए ! किन्तु सरस्वती स्वय अपने दिव्य जलो के साथ उसके निकट प्रवाहित हो आती है, उसे एक सूक्त का दर्शन होता है और—वही ब्राह्मण तब उसे ऋषि मान कर सिर चढा लेते है (ऐतरेय ब्रा० २ १९) !

उपनिषदो मे, राजा लोग ही नही, साधारण स्त्रियां, अज्ञात-कुलशील, शूद्र आदि भी दार्शनिक चिन्तनो मे अक्सर हिस्सा लेते है और स्वतन्त्र विवेचना द्वारा ब्रह्मविद्या के परमतत्त्व को प्राप्त कर लेते है। बृहदारण्यक मे **वचक्नु की पुत्री** याज्ञवल्क्य को, सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध मे, प्रश्नो की एक बौछाड मे इस प्रकार उलझा देती है कि वह खौल पडता है "**गार्गी**, कही तेरा सिर तो नही फटने लग गया ?—'परब्रह्म' के सम्बन्ध मे इस प्रकार सीमोल्लघन नही करना चाहिए। कुछ हद मे रहना ही अच्छा होता है।" और एक ओर स्थल मे उसी उपनिषद् मे भरी सभा के सम्मुख गार्गी याज्ञवल्क्य का एकबार फिर सामना करती है और कहती है : "मै आज तेरे सामने उसी तरह खडी हू जैसे वाराणसी या विदेह से कोई सूरमा अपने धनुष और डोरी को ढीला करके आ जाए—किन्तु दूसरे हाथ मे उसके दो तेज-तीर हो ! क्या तुम मेरे दो तेज सवालो का जवाब दे सकोगे ?" एक और मौके (बृहदार० ३ ६, ३ ८, २ ४, ४ ५) पर याज्ञवल्क्य से उसकी अपनी पत्नी **मैत्रेयी** ही जूझ पडती है।

इस ब्रह्मविद्या का कितना कम ज्ञान इन पुरोहितो को था—'रैक्व की कहानी' से यह बिलकुल स्पष्ट होजाता है **रैक्व** अपने बैलो के साथ चुपचाप बैलगाडी की छाया मे बैठा हुआ है, वैसे तो उसके जिस्म पर गरमी के मारे कुछ खाज-सी हो रही है, परन्तु मन मे उसके ब्रह्मविद्या की उपलब्धि पर वही सन्तोष है जो राजाओ के मुख पर भी कम ही झलका करता है। उसी वक्त परम दानी जनश्रुति कही से उसके चरणो मे आ टपकता है। जनश्रुति ब्रह्मविद्या का कुछ प्रसाद चाहता है। रैक्व उसकी भेट को ठकरा कर बेतहाशा हस पडता है 'शूद्र कही का !' वह मानता ही नही, और अन्त मे जब अपनी सर्वगुणोपेत कन्या को (जनश्रुति) उसे विवाह मे देने के लिए तैयार हो जाता है, तब कही—रैक्व उसे कुछ सिखाने को तैयार होता है, उससे पहले नही ![१] निम्नकथा भी कितनी रोचक है और, साथ ही, कितनी शिक्षा-प्रद भी !—

"जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मां के पास आकर कहा : 'मां ! मैं ब्रह्मचारी होना चाहता हू, किन्तु सभी जगह मेरे से लोग एक ही सवाल करते हैं : "तेरा वंश क्या है ?"—"तेरा खानदान कौन-सा है ?"

और मां जवाब देती है : 'मेरे बच्चे, यह तो मुझे भी नहीं मालूम । जब मैं जवान थी, घर पर महमानों का तांता लगा रहता था; मैं नौकरानी थी, मुझे नही मालूम––मैं कैसे गर्भिणी हुई और तेरी मा बन गई ! तेरा पिता कौन है ? मैं तो बस इतना ही जानती हूं कि मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है––तू सत्यकाम जाबाल है ।'

"वह गौतम हारिद्रुमत के आश्रम में हाजिर हुआ । हरिद्रुमत ने पूछा––'भाई ! तुम किस पिता के पुत्र हो ?––मुझे पहले यह तो बताओ ।' और उसने उत्तर दिया––'मुझे कुछ नहीं मालूम, महाराज ! मैंने अपनी मां से भी पूछा था,' और उसने सचमुच ––मां का वही उत्तर शब्दशः ब्राह्मण-शिरोमणि को कह सुनाया !––जिसे सुन कर आचार्य के मुख से आप से आप निकला : 'तुम सचमुच ब्राह्मण हो . सच कहने मे तुम्हें जरा भी भय नहीं हुआ !––सच्चे अर्थों में ब्राह्मण हो, एक तुम्हीं हो जो ब्रह्मविद्या के सच्चे अधिकारी हो !"

मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थो मे जहा शूद्र को वेद के अध्ययन का अधिकार है ही नही और केवल ब्राह्मण को ही वेद-विद्या के अध्यापन का अधिकार है, उपनिषदों के उस प्राचीन युग मे––प्रत्युत––ब्राह्मण के घर जन्म ले-लेना कुछ श्रद्धेय (वस्तु) नही समझा जाता था। तब तो, हम स्थान-स्थान पर उल्लेख पाते है कि किस प्रकार ब्राह्मण ही क्षत्रियो से और राजाओ से ब्रह्मविद्या सीखने जाया करते थे ! श्वेतकेतु का पिता इसी ब्रह्मविद्या को अधिगत करने के लिए **प्रवाहण** राजा के पास पहुचा था। राजा ने कहा––यह तो कुछ जचता नही––उल्टे बांस बरेली को ! किन्तु यह कह कर विनम्रता के साथ उसने कहना शुरू किया कि 'जो विद्या आज मै तुम्हे देने चला हूं वह आज तक किसी ब्राह्मण के पल्ले नही पडी । क्षत्रिय जाति ने ही उस पर अब तक एकाधिकार किया हुआ था। और फिर **पुनर्जन्म**' (अथवा आवागमन) के सिद्धान्त का निरूपण आरम्भ होता है **क्षत्रिय मर कर ही अमर हुआ करता है––आत्मा कभी मरता नहीं** ! यही-कुछ तो ब्रह्मविद्या का, दो शब्दो मे, सार है, ना ? एक और प्रसग मे स्पष्ट अंकित है कि उपनिषदो की सार विद्या––आत्मज्ञान––का अभ्युदय और विकास ब्राह्मणो मे नही हुआ था। पाच परम ज्ञानी ब्राह्मण **उद्दालक आरुणि** के शिष्य बन कर आते है । आरुणि घबरा जाता है कि इतने प्रसिद्ध विद्वान् आज मेरे पास आए है कोई ऐसा प्रश्न न पूछ बैठे कि मुझसे उसका उत्तर न बन पाए ! क्यो न मैं इन्हे किसी और का दरवाजा दिखा दू ?' और उसने यही किया––उन ब्राह्मणों को केकय के राजा **अश्वपति** के यहा भेज दिया ![6]

इस प्रकार जहा ब्राह्मण यज्ञयाग आदि की नीरस प्रक्रिया से लिपटे हुए थे, **अध्यात्म-विद्या** के चरम प्रश्नो पर और-लोग स्वतन्त्र-चिन्तन कर रहे थे। इन्ही ब्राह्मणेतर मण्डलो मे ऐसे वानप्रस्थो तथा रमते परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल समार और सासारिक सुख वैभव से अपितु यज्ञादि की नीरसता से भी अपना सब नाता तोड लिया था। आगे चलकर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरो का जन्म इन्ही स्वतन्त्र चिन्तको—तथा-कथित नास्तिकों—की बदौलत ही सम्भव हो सका . यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है, प्राचीन यज्ञादि सिद्धान्तो के भस्मशेष मे इन स्वतन्त्र विचारो की परम्परा बही—यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। न याज्ञिको मे 'ज़िद' कुछ घर कर आती, और न यह नयी दृष्टि कुछ सभव हो सकती।

इस सब का यह मतलब न समझा जाए कि ब्राह्मणो का उपनिषदो के दार्शनिक चिन्तन मे कोई भाग था ही नही, क्योकि प्राचीन गुरुकुलो मे एक ही आचार्य की छत्रछाया मे ब्राह्मण-पुत्रो, क्षत्रिय-पुत्रो की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था, और यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओ पर समय-समय पर उन दिनो विचार-विनिमय भी बिना किसी भेद-भाव के हुआ करते हो। इसके अतिरिक्त, हर-एक ब्राह्मण पौरोहित्य की कला मे दीक्षित हो—यह जरूरी नही था। ब्राह्मण लोग भी, गरीब और अमीर दोनो, भिन्न-भिन्न धन्धो मे जुटे होते ? रोटी के लिए क्या कुछ नही करना पडता ? और इन (अपने हाथ से अपनी रोटी कमाने वाले) ब्राह्मणो मे भी आत्मा और पुनर्जन्म आदि सरीखे नवीन सिद्धान्तो के प्रति सहानुभूति भी रहती ही होगी। और, अन्त मे, हम यह भी न भूल जाए कि (भारत के इतिहास मे) ब्राह्मणो मे ही यह प्रतिभा पाई जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या मे भी नए—विरोधी भी क्यो न हो—विचारो की सगति बिठा सकते है · आश्रम-व्यवस्था को, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अग बना लिया—वानप्रस्थ और सन्यासी लोग भी उन्ही की प्राचीन व्यवस्था मे समा गए। आश्रम-व्यवस्था के अनुसार—शूद्र के अतिरिक्त तीनो वर्णोंके लिए चारो आश्रमो मे से गुजरना आवश्यक होता है। जीवन के प्रथम सोपान मे हर व्यक्ति को ब्रह्मचारी रह कर वेदाध्ययन करना होता है, और तब कही—वह गृहस्थ मे प्रविष्ट होने का अधिकारी बनता है। अन्य आश्रम निरग्नि हैं; यज्ञवह्नि का अधिकार केवल गृहस्थ को ही दिया गया है : सो, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ या सन्यासी—न देव-पूजा कर सकता है, और न उसके मरने पर उसे कोई मुखाग्नि ही अर्पित कर सकता है। गृहस्थ-नियम पालन करके जीवन के तृतीय सोपान मे प्रविष्ट होना हर-एक के लिए अनिवार्य है—कि एकान्त मे आकर

जीवन पर, यज्ञ-आदि की उदात्तता पर, सृष्टि के रहस्यो पर, कुछ आत्मचिन्तन करे; और एक अवस्था, अन्त मे, वह भी आ सकती है जब यह यज्ञ-भावना, यह यज्ञ-चिन्तन, यह लोक-कल्याण का मार्ग भी छोड़ देना होता है ! --सच्चे अर्थो मे ससार और सांसारिकता का त्याग करके सर्वात्म मे, सृष्टि के अन्तर्यामी सूत्र मे, ब्रह्म मे. अपने बचे-खुचे आपे को,स्वार्थ को, विलीन कर दो यही कुछ तो ब्रह्मविद्या का उत्कर्ष है !

ब्राह्मण-ग्रन्थो के अन्तिम भाग मे, प्राय परिशिष्ट रूप मे, आरण्यको का सकलन हुआ है जिनमें प्राय जो-कुछ-भी लौकिक जीवन मे रहस्यात्मक होता है, प्रच्छन्न होता है—जो लोग विधिवत् दीक्षित नही है उनसे दूर रखना ही जिसे श्रेयस्कर है—गवई-गवारो के सम्मुख जिस पर भूल कर भी समझदार जबान न खोले ऐसा ही ज्ञान-विज्ञान (आरण्यको मे) सुरक्षित समझा जाता है। इसमे असल बात फकत इतनी ही है कि आरण्यको मे, यज्ञ-कर्मकाण्ड आदि के व्यर्थ के ऊहापोह मे न पड कर, मनुष्य यदि दो-क्षण भी यज्ञिय जीवन की अन्तर्भावना को, अन्तर्दृष्टि को, स्वगत कर लेता है, तो—एक ऐसा जीवन ही (एक सफल) जीवन कहा जा सकता है। जब आश्रम-धर्म को स्वय ब्राह्मणो ने 'आदर्श जीवन' का एक अपरिहेय साधन मान लिया, तब वानप्रस्थो एव परिव्राजको का स्वभावत. यह कर्त्तव्य ही बन गया कि वे इस आदर्श-जीवन के सम्बन्ध मे कुछ वैदिक विधि-विधान प्रस्तुत कर दे । बात यह है कि प्राचीन उपनिषदे, पूरी नही तो अशत', वस्तुत इन आरण्यको का अग बन कर ही आई है—दोनो मे एक विभाजक रेखा खीच सकना कि कहा एक आरण्यक समाप्त होता है और कहा (उससे सलग्न) उपनिषद् का आरम्भ होता है--असम्भव है । आरण्यक और उपनिषद्, मिला कर, इस प्रकार शब्द के प्राय सभी अर्थो मे सचमुच-वेदा-न्त है। किन्तु इतना स्मरण रहे कि ये ग्रथ वैदिकयुग के अन्त मे आए और हम यह भी न भूल जाए कि तब गुरु-शिष्य परम्परा लिखित पुस्तको पर आश्रित नही हुआ करती थी । एक 'ब्राह्मण' को हम पुस्तक या ग्रन्थ इसी दृष्टि से समझ सकते है कि उन दिनो ब्राह्मणो के विभिन्न सम्प्रदायो मे, कही, उसके अन्तर्गत विषयो के शिक्षण-अध्यापन का प्रबन्ध था । यह प्रशिक्षण-अध्यापन बिना किसी आचार्य की छत्रछाया मे कुछ वर्ष शुश्रूषा मे गुजारे सम्भव नही हो सकता था, और इस शिक्षा-प्रणाली का सबसे दुरूह भाग—दर्शन, रहस्य, नूतन परीक्षण आदि जो कुछ भी आरण्यको तथा उपनिषदो मे सगृहीत है—विद्यार्थि-काल के प्राय' अन्तिम दिनो मे ही तब अध्ययन का विषय बना करता था। सो, ये 'ग्रन्थान्त'—वेदारम्भ का एक प्रकार से परला सिरा (ग्रन्थि-अन्त ?) समझे जाते थे, और आज भी समझे जाते हैं । दार्शनिको की सूक्ष्मबुद्धि जब आगे चल कर जवाब देने लगी, तो उन्होने उपनिषदो

मे प्रतिपादित इन सिद्धान्तो को वैदिक अनुचिन्तन की परिसमाप्ति के रूप में नहीं पाया था (कि एक युग का अन्त हो चुका है), अपितु—इन्हें वेद का और भारतीय दर्शनशास्त्र का परम ध्येय समझते हुए—उन्होने स्व-तन्त्र (किसी भी प्रकार के नूतन) चिन्तन को ही उन्होने तिलाजलि दे दी।

वेदान्त-रूप मे उपनिषदो का सम्बन्ध विभिन्न वैदिक सम्प्रदायो मे किया जाता है। और, उसी रूप मे, वस्तुस्थिति यह है कि उन्हे वेदो का अन्तिम भाग न समझ कर ब्राह्मणो के परिशिष्ट रूप मे ही माना जाना उचित है। इस प्रकार **ऐतरेय** उपनिषद् जहा ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त मे जुडे ऐतरेय आरण्यक का परिशिष्ट है, तो **कौशीतकी** उपनिषद् उसी प्रकार कौशीतकि-ब्राह्मण से सलग्न कौशीतकि-आरण्यक का। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक वास्तव मे तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही विस्तार है जिसकी परिसमाप्ति दो उपनिषदो—**तैत्तिरीय** तथा **महानारायण**—मे होती है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण की १४ वी कांडिका का प्रथम-तिहाई यदि एक आरण्यक है तो शेष दो-तिहाई स्वय ब्रह्मोद्य-शिरोमणि **बृहदारण्यक** उपनिषद् है। **छान्दोग्य** उपनिषद्—जिसका प्रथम भाग वस्तुत एक आरण्यक है—शायद सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण का ही एक अश है। तथा-कथित **जैमिनीय** उपनिषद्—ब्राह्मण (!) —सामवेद के जैमिनीय अथवा तल्वकार सम्प्रदाय का एक आरण्यक है, जिसकी पूर्णाहुति **केन** (अर्थात् तलवकार) उपनिषद् मे हुई है।

महानारायण उपनिषद् के अतिरिक्त, उक्त सभी उपनिषदे उपनिषद्-युग की प्राचीनतम रचनाए है। **भाषा और शैली** मे वे ब्राह्मण-ग्रन्थो का ही अनुकरण करती है। छोटे-छोटे वाक्य, जो बहुत कम स्थलो पर अस्पष्ट है, कवित्वमयता के साथ प्रस्फुटित होते है। **केनोपनिषद् का आधा हिस्सा ही पद्यमय है और, सम्भवत, मुख्य उपनिषद्-युग की यह अन्तिम कृति है।** यद्यपि, जैसा कि दाऊसन ने कहा है, 'उपनिषदो मे प्राचीन तथा अर्वाचीन भाग साथ-साथ ही सकलित होने से प्रत्येक उपनिषद् का एक अपना युग ही निर्धारित होना चाहिए, भाषा की दृष्टि से (यदि और समर्थन हमे न भी मिल सके) उपनिषदो के ये अन्तिम भाग भी पर्याप्त-प्राचीन ही ठहरेगे, और बृहदारण्यक तथा **छान्दोग्य** जैसी महोपनिषदो के सम्बन्ध मे सम्भवत हमारा निश्चय यही सिद्ध हो कि अनेक छोटी-छोटी उपनिषदो को मिलाकर इनका कलेवर समय-समय पर बढता रहा', इस स्थापना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समय-समय पर कुछ अंश एक से अधिक उपनिषदो मे, प्राय. एक ही रूप मे, सकलित हो गए। कुछ हो, इन बड़ी उपनिषदो का मूल स्वरूप प्राय. उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणो और आरण्यको के युग मे निश्चित हो चुका था, और वह युग बुद्ध

तथा पाणिनि के पश्चात्—भारत के इतिहास में—असम्भव है। **ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौशीतकी और केन**—इन छः उपनिषदों को हमने इसी युक्ति के आधार पर उपनिषद्-वाङमय के विकास में प्रथम सोपान माना है कि इन्हीं में **वेदान्त का विशुद्ध मौलिक** रूप संगृहीत है।

कुछ उपनिषदें पूर्ण रूप में, अथवा आंशिक रूप में, पद्यबद्ध मिलती हैं। इस दृष्टि से इनका काल, यद्यपि अपेक्षया कुछ पीछे आना चाहिए, फिर भी बुद्ध से पूर्व ही स्थिर होगा। इनका सम्बन्ध भी विभिन्न वैदिक शाखाओं के साथ किया जाता है, यद्यपि इनके तत्सम्बन्धी आरण्यक हमें आज नहीं मिलते। इस श्रेणी में हम कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **कठोपनिषद्** को ले सकते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तिम भाग में संगृहीत **श्वेताश्वतर** तथा **महानारायण** कृष्ण यजुर्वेद के 'विकाश' में ही गिनाई जाती हैं, और, उपनिषदों में सम्भवतः सबसे छोटी उपनिषद्, **ईश** स्वयं वाजसनेयिसंहिता का अन्तिम अध्याय है। गद्य-पद्य मिश्रित मुण्डक तथा **प्रश्नोपनिषद्** अथर्ववेद की उपनिषदें हैं। उपनिषदों का मूल विषय यद्यपि वेदान्त ही होना चाहिए, वेदान्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ, **एकेश्वरवाद तथा सांख्य-योग का समन्वय** भी इनके अनुसन्धान में हमें प्रायः समाविष्ट मिलता है। मूल उपनिषदों में ये दार्शनिक विचार समय-समय पर कैसे, क्यों, और किस रूप में, समन्वित होते गए—इसकी खोज हमारे प्रस्तुत इतिहास का विषय नहीं है, हम तो बस इतना ही कह सकते हैं कि आनेवाली पीढ़ियों ने इनके साथ छेड़खानी की इसमें कोई सन्देह नहीं। एक महानारायण उपनिषद् के ही कम-से-कम तीन पाठ-भेद मिलते हैं जिसमें उपनिषदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ सन्देह अब रह ही नहीं जाता। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **मैत्रायणी** उपनिषद् को हम एक अर्वाचीन उपनिषद् ही मान सकते हैं जो कभी **बुद्धोत्तर-युग** में ही लिखी गई यद्यपि इसकी भाषा गद्यमय है, परन्तु इस गद्यमयता में वह प्राचीन वैदिक स्पर्श नहीं, भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि में भी यह संस्कृत के 'लौकिक युग' की एक कृति प्रतीत होती है। इसी युग में अथर्ववेदीय **माण्डूक्य** उपनिषद् भी लिखी गई। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए, शंकर ने इन्हीं बारह उपनिषदों को प्रामाणिक एवं मौलिक घोषित किया है (जिनमें मैत्रायणी तथा माण्डूक्य का उल्लेख, अलबत्ता, नहीं मिलता)।

यद्यपि ये दोनों उपनिषदें किसी वेदोत्तर युग की (अर्वाचीन-तम) रचनाएं हैं, फिर भी उन्हें मूल बारह वैदिक उपनिषदों के प्रसंग में गिनाने की प्रथा है। और सो, 'प्राचीन भारतीय दर्शन' के इतिहास में इन चौदह उपनिषदों का स्थान एक आधार शिला वत् ही है। शेष उपनिषदें (जो परम्परा ने हमें दी है, पृथक्-पृथक्, अथवा संग्रहों के रूप में, दो सौ) उसी पुरानी प्रथा के अनुसार वेद-वाङ्मय की

किसी न किसी शाखा से ही प्रसूत समझी जाती हैं, यद्यपि वैदिक वाङ्मय से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध कई बार नही होता । ये परतर उपनिषदें प्राय, दार्शनिक न होकर, धार्मिक अधिक है। किसी उत्तर-युग के धार्मिक एवं दार्शनिक मत-मतान्तरो के विचारो का संग्रह इनमे कर दिया गया है, जो काल तथा विषय की दृष्टि से निकट पौराणिक अथवा तान्त्रिक ही ठहरता है। इस उत्तरयुगीन उपनिषद्-वाङ्मय को लक्ष्य तथा विषय की दृष्टि से इन छः श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है .

"१. वे उपनिषदें जिनका प्रतिपाद्य **वेदान्त** ही है,
२. वे उपनिषदे जिनका प्रतिपाद्य **योग** है,
३ वे उपनिषदे जिनमे **संन्यास** की महिमा गाई गई है ·
४ वे उपनिषदें जिनमे **विष्णु** का स्तवन हुआ है ,
५ वे उपनिषदे जिनमे **शिवस्तोत्र** सकलित है ; **और**—
६ शाक्तो तथा अन्य छोटे-मोटे **सम्प्रदायों की** अपनी-अपनी उपनिषदे।"

इन उपनिषदो मे गद्य के साथ-साथ महाभारत-रामायण की शैली मे कुछ श्लोक भी मिलते हैं—जिन्हे विकास की दृष्टि से पुराणो और तन्त्रो के युग से पूर्व नही माना जा सकता। किन्तु साथ ही—इनका कुछ-न-कुछ अश—वैदिक परम्परा मे अनुस्यूत है, इसमे कोई सन्देह नही, और सो—'प्राचीन' भी है। अर्वाचीन उपनिषदो मे ऐसी कुछ 'प्राचीन' उपनिषदो के नाम ये है —**जाबाल उपनिषद्** जिसे स्वयं शकर ने प्रामाणिक माना है और जिसमे एक 'परमहस'-नाम के (अज्ञात सन्यासी) का (कवित्वमयी भाषा मे) जीवन अर्पित है **परमहंस उपनिषद्** जिसमे परमहंस पद के इच्छुक व्यक्तियो के लिए कल्याण का मार्ग सुझाया गया है; **सुबाल उपनिषद्**, जिसके विपुल कलेवर मे रामानुज ने सृष्टि-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान परक कितने ही उदारण लिए है; गर्भोपनिषद्, जो गर्भशास्त्र-विषयक एक स्वतन्त्र कृति न हो कर वस्तुतः गर्भ मे स्थित अजात-शिशु की एक स्तुति है 'कि उसका पुनर्जन्म न होवे'; **अथर्वशिरस् उपनिषद्**, जो शैव सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है और धर्मसूत्रो मे जिसका उल्लेख प्रायः पाप-विवेचन के प्रसग मे बडी श्रद्धा-भक्ति के साथ किया जाता है। **वज्रसूचिका उपनिषद्**—जिसका प्रतिपाद्य विषय एक 'स्वात्मनि अद्वैत-सिद्धि प्राप्त कर चुके सन्त' की प्रशस्ति है "कि वही सच्चा ब्राह्मण है न-कि किसी ब्राह्मणी के पेट से जन्मा एक मास-पिण्ड"—न विषय की दृष्टि से, न भाषा की दृष्टि से, "आधुनिक" मानी जा सकती है। इन उपनिषदो का काल-निर्णय करना इसलिए भी मुश्किल हो जाता है कि इनके पाठ-भेद जो हमे मिलते है, उनके कलेवरो मे परस्पर अन्तर—ो-चार पक्तियो का न होकर—पृष्ठो तक पहुच जाता है।

प्रायः ये अवदिक उपनिषदे सग्रह-रूप मे ही हमे मिलती हैं, किन्तु ये संग्रह —कोई बहुत पुराने नही प्रतीत होते। यद्यपि शंकर ने नवी सदी मे भी इन्हे वैदिकवत् माना है, और—बारहवीं सदी में रामानुज, इनसे उद्धरण पेश करता हुआ, छन्दोगो, वाजसनेयियो, कौशीतकियों की चर्चा करता है, तथापि—एक सुबाल ही इन उपनिषदो मे ऐसी है जिसका रामानुज ने नाम के साथ स्मरण किया है। **मुक्तिकोपनिषद्** मे तो एक सौ आठ वैदिक उपनिषदो को नाम से सचमुच गिना भी दिया गया है कि 'इनके अध्ययन से मनुष्य मुक्ति पा सकता है'; और इन १०८ उपनिषदो का सम्बन्ध भी चारो वेदो से इस प्रकार है : १० ऋग्वेद की उपनिषदे, १९ शुक्ल यजुर्वेद की, ३२ कृष्ण की, १६ सामवेद की और ३१ अथर्ववेद की। किन्तु इस विभाजन का आधार कोई प्राचीन परम्परा थी—यह कह सकना मुश्किल है, सामान्यत, सभी वैदिक उपनिषदो को अथर्ववेद से सम्बद्ध कर देने की प्रथा है, क्योकि—स्वय अथर्ववेद की महिमा वैदिक वाङमय मे प्राय सन्दिग्ध ही रही है, ऐसे सन्दिग्ध वाङमय को अथर्ववेद के साथ सम्पृक्त करने मे कोई आपत्ति न उठ सकती थी। उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ भी तो **आत्मा-सम्बंधी रहस्य का उद्घाटन** ही होता है, सो, जो-कुछ-भी दुनिया मे **रहस्यमय** समझा जा सकता हो उसका निवेश **अथर्ववेद** (के रहस्यो से भरे थैले) मे बडी आसानी के साथ किया ही जा सकता था।

उपनिषद् शब्द **उप-नि-षद्** इन तीन अगो से मिलकर बनता है। सो, व्युत्पत्ति से इसका अर्थ होता है—किसी के चरणो मे बैठना—और, शुरू-शुरू मे, यह रहस्योद्घाटन आचार्य का अन्तेवासी बने बिना किसी के लिए भी सम्भव नही हो सकता था। **व्यक्तिगत सम्पर्क की अनिवार्यता ने उसी सर्वसाधारण अनुभव को भी रहस्यमय कर दिया।** स्वय उपनिषदो मे ही, उपनिषद् का—एक और पर्याय यह 'रहस्य' शब्द यत्र-तत्र आता है : **इति रहस्यम्, इति उपनिषद्।** यही नही, रहस्य को अनधिकारी के हाथ कभी न देना चाहिए—ऐसे सकेत भी उपनिषदो मे कम नही है। छान्दोग्य ३ २ मे तो यहा तक लिखा है कि ब्रह्मविद्या पिता अपने पुत्र को ही, और आचार्य अपने प्रिय शिष्य को ही, दे तो दे, अजनबी को भूल कर भी न दे, क्यो-न वह अजनबी पृथ्वी की सारी सम्पत्ति, भले ही, आचार्य के चरणो मे लाकर धर दे। कितने ही और स्थलो पर हम पढ़ते है कि शिष्य बनने की इच्छा से लोग आते है और मिन्नते करते है कि गुरुजी हम पर कृपा दृष्टि करें, लेकिन गुरु जी है कि बडी मुश्किल से ही टस-से-मस होते है—कुछ सिखाने को तैयार होते है! शब्द की इस मूल दृष्टि से परीक्षा करें, तो उपनिषदो मे क्या-कुछ नही भर लिया गया?!—भानमती की इस पिटारी मे रहस्य ही रहस्य भरे होते, जिन्हे यत्न-पूर्वक साधारण लोगो की आंख से दूर रखा जाता।

कुछ विश्वासपात्र जनो को ही इन रत्नो के दर्शन की अनुमति होती—क्यो-न वह 'रत्न' कोई दार्शनिक सिद्धान्त हो अथवा एक निरर्थक संकेत या उपमा-मात्र, अथवा जादू की छड-सी कोई यज्ञगत प्रक्रिया ही हो (जिसे ब्राह्मण प्राय. और भी उलझा दिया करते थे)। प्राचीन उपनिषदो मे भी ऐसी उल्टी-सीधी चीजे मिलती है, यद्यपि उनका मुख्य स्थान अथर्ववेदीय उपनिषदो मे ही कुछ-उपयुक्त था।

इसका एक उदाहरण (कौशीतकी उपनिषद् से) ही पर्याप्त समझा जाना चाहिए—जहा मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा मृत्यु और परलोक विषयक स्पष्टीकरणो के अतिरिक्त यज्ञ-याग की विधि पर, पुण्यार्जन पर, गान्धर्व-तन्त्रो पर, मरे बच्चो को जिलाने के सम्बन्ध मे, या फिर शत्रुओं को तहस-नहस कर देने का सामर्थ्य रखने वाले जादू-मन्त्रो से—पृष्ठो पर पृष्ठ भरे पडे है। इसी प्रकार सृष्टि, ब्रह्माण्ड तथा आत्मा परक चिन्तनो के बीच मे **प्रणव का अनुध्यान** तथा विविध रोगो की अचूक चिकित्सा आदि के सम्बन्ध मे रहस्यमयी, तान्त्रिक प्रक्रियाए छन्दोग्य उपनिषद् मे कैसे आ गई यह भी एक समस्या है। अथर्ववेदीय उपनिषदो की स्थिति तो है ही सर्वथा पृथक् कि जहा एक सम्पूर्ण उपनिषद्—**गरुड़**—सापो को वश मे करने के लिए एक अचूक नुस्खा है जिसे केवल सपेरे लोग ही समझ सकते है।

औपनिषदिक दर्शन की चर्चा करते हुए इन सब बातो को हम भुला न दे, क्योकि उपनिषदो मे दार्शनिको के गम्भीर अनुचिन्तन भी, 'ही' नही, यत्र-तत्र प्रकीर्ण है। इस दृष्टि से हम शायद ही किसी उपनिषद् को एक स्वतन्त्र दर्शन का नाम दे सके, क्योकि—किसी भी उपनिषद मे न तो किसी प्रसिद्ध दार्शनिक के सिद्धान्तो का प्रतिपादन है, न किसी विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय का, किसी भी परम्परा का अविच्छिन्न रूप इनमे मिलता हो—यह भी नही कहा जा सकता, और न-ही इनमे कुछेक युगो को एकसूत्रित करने का प्रयत्न ही कही इनमे दृष्टि-गोचर होता है।

अस्तु, हमारा विषय, यहा, अब उपनिषदो के उन मूल विचारो का परिचय देना होगा जो कि मूल वेदान्त के आधारभूत सिद्धान्तो के रूप मे प्राय सर्वसम्मत है।

इन्ही सिद्धान्तो को हम, एक प्रकार से, उपनिषदो का अपना दर्शन कह सकते है। ये पक्तिया हम इसलिए लिख रहे है कि कही विद्यार्थी उपनिषदो के प्रत्येक शब्द की, प्रत्येक अध्याय की, तुलना प्लेटो-सरीखे मान्य दार्शनिको के सवादो अथवा विवेचनो से न कर बैठे, यद्यपि—यह सच है कि ग्रीक संस्कृति के उस युग मे सदियो पूर्व भारत मे वही उडान, वही कवित्वमयता, और वही सूक्ष्म-गम्भीर अन्तर्दृष्टि हमे यहा मिलती है, और यह भी सच है कि जिस प्रकार प्लेटो के सवादो

मे प्राचीन यूनान का जीता-जागता चित्र सामने आ जाता है, उसी प्रकार याज्ञवल्क्य के विवादो मे भी प्राचीन भारत की वे राजसभाए, जगलो मे रमते-राम वे अभय तपोधन, वे अन्तर्विध विदुषिया, फिर मे जाग उठती है—हमे अपने तीव्र प्रश्नो से एकबार फिर हतप्रभ कर देती हैं, उन उपनिषदो मे सचमुच वह प्राचीन जीवन, वह उत्सुकता, वह अनासक्ति, वह नम्रता, वह अगेह वृत्ति—समुद्र मे एकीभूत होती हुई वे दिग्दिगन्त मे आती धाराए, सवत्सर की महानता मे अदृष्ट होती हुई वे ऋतुए और वे मास-परिक्रमाए आज भी अपनी मूल गतिविधि मे, अपनी सजीवता मे, प्रत्यक्ष हो आती है। किन्तु, इनके साथ ही—अर्थात् इस उदात्त और भव्य कल्पना-लोक मे—बहुत कुछ ऐसा भी है जिसे दार्शनिकता अपिवा साहित्य की दृष्टि मे कुछ बहुत-ऊचा नही कहा जा सकता।

१ Beitrage zur indischen Kulturgeschichte, 6.
२ छान्दोग्य ४ १ ३
३ छान्दोग्य ५. ३, बृहदा ६ २, कौशीतकी I. 1
४ छान्दोग्य ५ ११ , शतपथ १ ६ १
५ S. Dasgupta Hist of Ind Phil, I, 33ff.
६ Oldenberg *Die Lehre der Upanisheden*, 5.

उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य

जिस सिद्धान्त को उपनिषदो का मूल प्रतिपाद्य—अर्थात् सभी उपनिषदो मे प्राय एक ही रूप मे प्रस्तुत महान् आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में—स्वीकार किया गया है, उसे एक वाक्य मे इस प्रकार सहृत किया जा सकता है .

"यह विश्व ही ब्रह्म है :

और ब्रह्म और कुछ नहीं—हमारा अपना ही अन्तर-तम है ।"

इसी का यदि पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे उलथा करना हो तो हम कहेगे कि 'कुछ-है-जो (परमेश्वर) विश्व मे भी समाया हुआ है और अन्तरात्मा मे भी ।'

इस प्रकार उपनिषदो के मूलभूत सिद्धान्त तो है—**ब्रह्म** और **आत्मा** जिन पर कि उपनिषदो की फिलासफी का भव्य प्रासाद खडा है । पहला प्रश्न 'ब्रह्म' की व्युत्पत्ति का है जिसे 'सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी' मे इस प्रकार समझाया गया है . 'ब्रह्म भक्ति का वह स्वरूप है जिसे हम आत्मा की स्पन्दना, प्रवृत्ति एव परिपूर्णता कह सकते है, और इस प्रवृत्ति का अर्थ होता है—मनुष्य के अन्दर दैवी प्रवृत्ति का जागरण', जबकि डाऊसन के शब्दो मे वही ब्रह्म 'मनुष्य की देवाभिमुखी अदम्य-आकाक्षा' है । शब्द के ये अर्थ प्राय यहूदी (और ईसाई) धर्म के परमेश्वर-सम्बन्धी विश्वासो से प्रसूत प्रतीत होते है, क्योकि—सहिताओ और ब्राह्मणो मे देवो और मनुष्यो के बीच जो सम्बन्ध चित्रित हुआ है वह पाश्चात्य दृष्टि से कतई मेल नही खाता, दोनो दृष्टिया परस्परविरोधी-सी जान पडती है । शब्द की व्युत्पत्ति यद्यपि सन्देहास्पद है, तथापि स्वय वेद मे कितनी बार **स्तुति**, **मन्त्र**, **उपासना** को **ब्रह्म** का पर्यायवाची-सा मान लिया गया है, भक्ति का तो—और खास कर 'भक्ति की मनुष्य को अपने-आप मे न रखे-रखने की प्रवृत्ति' का—इन मन्त्रो मे, अपिवा मन्त्राशो मे, कही भी कोई सकेत उपलब्ध नही होता । वैदिक मन्त्रो और मन्त्राशो मे शुरू से ही कुछ अद्भुत शक्ति ('ब्रह्म' मे) केन्द्रित है ऐसा (वैदिक याज्ञिको का) विश्वास चला आता है—यह शक्ति देवताओ तक को (पुजारी की स्वार्थ-पूर्ति के लिए) मजबूर कर सकती है । पीछे चल कर जब इन मन्त्रो और मन्त्राशो को, एक 'तन्त्र' करके, सहिताओ मे सकलित कर दिया गया, तब—इन्हे एक और नाम दे भी दिया गया—**त्रयी विद्या** (अथवा ब्रह्म)। किन्तु—क्योकि वेद अथवा ब्रह्म को वही भारतीय परम्परा सृष्टि के आदि से अपौरुषेय (अर्थात् ईश्वर-कृत) मानती आई है, और क्योकि वही वेद (अपिवा ब्रह्म) शब्द पुन **यज्ञ** अथवा **यज्ञ** की **अतिमानव शक्ति** के लिए भी प्रयुक्त होता था—यह यज्ञ-

प्रक्रिया भी तो मूलत. वेद-प्रसूत (अपिवा ब्रह्म-प्रसूत) थी ही—ब्रह्म को ही सृष्टि के विकास मे प्रथम-ज मानते हुए उसे स्वयं-भू—अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता, संहर्त्ता—स्वभावत माना जाने लगा। इसी दृष्टि से, ब्रह्म एक दैवी सिद्धान्त भी है, याज्ञिकों की तथाकथित दार्शनिकता का आश्रय भी है. क्योंकि—इसकी व्याख्या यज्ञ के पुराने रीतिरिवाजो के आधार पर एक तरह से की भी जा सकती है।

'आत्मा' शब्द का इतिहास, अलबत्ता, इतना जटिल नही है यद्यपि व्युत्पत्ति इसकी भी शायद उतनी ही सन्देहपूर्ण है। प्राय इस शब्द का सम्बन्ध √अन् धातु से किया जाता है —अर्थात् **प्राण, उच्छ्वास**। दाऊसन की प्रवृत्ति दो मूल शब्दो के मिश्रण से आ-त्मन् शब्द को सिद्ध करने की प्रतीत होती है—'अग अह'। कुछ हो, प्रयोग की दृष्टि से 'आत्मा' जहा एक दार्शनिक परिभाषा है, वहा लौकिक सस्कृत मे भी उसका अर्थ कुछ-न-कुछ स्पष्ट है ही। 'आत्मा' का अर्थ होता है अन्त करण—जो मूल मे सर्वनाम होता हुआ भी अन्त करण तथा बाह्य-करण, अगी तथा अगाग—के (परस्पर-विरोधी किन्तु व्यवच्छेदक)—अर्थो मे (लौकिक सस्कृत मे) सामान्यत प्रयुक्त होता भी है।

उपनिषदो मे **ब्रह्म और आत्मा (की इन दो कल्पनाओ) का समन्वय** कर दिया गया है। **शाण्डिल्य** के प्रसिद्ध दर्शन का प्रतिपादन इन शब्दो के साथ आरम्भ होता है 'सचमुच यह सब ब्रह्म ही है', और, आत्मा का विवेचन करते हुए, उपसहार इन शब्दो मे होता है कि 'सच पूछो तो, ब्रह्म और आत्मा एक ही है'

> **"यह आत्मा, जिसे मै अपना आपा (स्व-रूप) मानता हूं, वास्तव में मेरा अन्तःकरण ही है जो चावल, जौ, सरसो, किसी भी चीज (के बीज) से छोटा है। किन्तु साथ ही मुझे अनुभव होता है कि यह मेरा अन्तर्बिन्दु इस पृथ्वी से भी बडा है आकाश से भी बडा है, लोकलोकान्तर से भी, नक्षत्रादि से भी—कहीं—बड़ा है। वह मेरे सब क्रिया-कलापों का, मेरी इच्छाओं का, रस, गन्ध, स्पर्श आदि (सब) ऐन्द्रिय प्रवृत्तियो का—स्रोत है, आधार है। सब-कुछ उसी में समाया हुआ है। वह न बोलता है और न कोई चेष्टा करता है। यह आत्मा, जो मेरा अन्तःकरण है, ब्रह्म भी (वही) है। मृत्यु की घड़ी मे, अन्त मे, मै अपनी लघुता से मुक्त हो कर उसी (की महिमा) में विलीन हो जाऊंगा। यही एक परम ज्ञान है जो सब संशयों को विच्छिन्न कर देता है, मर्त्य को अमर कर देता है, कर सकता है।"**

दाऊसन पुन. उपनिषदों के मूल सिद्धान्त को अपने शब्दो मे इस प्रकार और-भी सक्षिप्त कर देता है "अमूर्त ब्रह्म का ही मूर्त स्वरूप यह चर-अचर विश्व है जो सम्पूर्ण सृष्टि मे हो रही जन्म, मरण तथा मृत्यु आदि परिवर्तन-प्रक्रियाओ का आधार है, स्रोत है। बाह्य आवरणो एव सीमाओ मे मुक्त हो कर

हमारी लघु-आत्मा भी अपने सच्चे स्वरूप को पहचान सकती है, वह भी अनन्त बन सकती है, ब्रह्ममय हो सकती है। स्वयं उपनिषदों के शब्दों को ही उद्धृत करना हो तो **तत् त्वमसि** की अनुभूति विश्व में तथा अन्तरात्मा में एक निस्सीम एकात्मता की स्वानुभूति के अतिरिक्त और क्या है ? क्योंकि—उतने ही विश्व को हम 'अपना', अपने तई, समझ सकते हैं जितने के साथ कि हमारा तादात्म्य सिद्ध हो चुका है। उपनिषदों की इसी कवित्व-संस्पृष्ट दार्शनिकता पर ही तो शोपनहा'र मुग्ध था।" **छान्दोग्य** ६ १ का उपाख्यान यहां अप्रासंगिक न होगा :

"उद्दालक आरुणि का एक पुत्र था—श्वेतकेतु। पिताने उससे कहा —'देखो, बेटा ! किसी आचार्य के पास जा कर वेदों का अध्ययन शुरू कर दो, क्योंकि—हमारे घर निरे (जन्म) से ब्राह्मण होने पर गर्व करने की प्रथा नहीं है।'

"श्वेतकेतु उस समय बारह वर्ष का था।

"बारह वर्ष विद्याध्ययन करके गर्व से फूला-न-समाता—वह घर आया ! उसकी यह अवस्था देख कर, पिता ने उससे पूछा—'चेहरे से तुम्हारे अभिमान टपक रहा है; पर, क्या तुम—अपने ब्रह्मज्ञान के बल पर—'अनाहत' की ध्वनि को सुन सकते हो ?' श्वेतकेतु चकित रह गया 'भला ऐसी भी कोई विद्या हो सकती है ?' पिता ने समझाना शुरू किया—'मिट्टी (के एक ढेले) से कोई भी मिट्टी की चीज बना लो; आखिर रहेगी तो वह मिट्टी ही। 'मूर्ति' या 'घड़ा' नाम दे कर उसकी मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। और जिस प्रकार—तांबे, सोने, लोहे वगैरह की भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनाकर भी सोने, तांबे, लोहे की मूल प्रकृति को हम बदल नहीं सकते—नाम-भेद से वस्तु की प्रकृति में भेद नहीं आ जाता ; यही अवस्था 'अश्रुत से श्रुत' ध्वनि सम्बन्धिनी इस विद्या की है।' लेकिन, पिता जी, श्वेतकेतु ने उत्तर में कहा . 'लगता ऐसा है जैसे मेरे गुरुजनों को इस विद्या का ज्ञान नहीं था, अन्यथा, वे मुझे यह विद्या सिखा न देते ?'

"सो, पिता ने पुत्र के कहने पर उसे उपदेश देना शुरू किया—

"आरम्भ में सब एक-रूप ही था और उस एक-रूप का नाम था—सत्। यद्यपि कुछ का कहना है कि आरम्भ में असत् ही असत् था, किन्तु हम पूछते हैं कि—उस अ-सत् से सत् की उत्पत्ति फिर किस प्रकार सम्भव थी ? अ-विद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।' इसके अनन्तर अरुणि ने समझाना शुरू किया कि किस प्रकार सत् से तपस्, तपस् से आपः, आपः से अन्न—की उत्पत्ति हुई। यह सत् ही था जो अपनी त्रिगुणात्मकता द्वारा पार्थिव विश्व में व्यापक होता गया। स्वप्न हो, भूख

हो, प्यास हो, कोई अवस्था हो—प्रत्येक वस्तु की सत्ता, तपस्, जल, अन्न—इन तीन मूल तत्वों पर ही आश्रित है, जबकि यह (अन्नादि की) त्रयी स्वयं सत् पर निर्भर करती है। इस सत् की आत्मा ही थी जो भूत-मात्र में समा गई—मनुष्यों में भी अन्तरात्मा बन कर समा गई,; मृत्यु के समय यही प्रक्रिया उलट जाती है—प्रत्येक वस्तु उसी मूल-तत्त्व सत् में पुनः-विलीन हो जाती है।' (इसके अनन्तर उद्दालक ने उपमाओं द्वारा यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार विश्व की विविधता में तथा मनुष्य की अन्तरात्मा में एक-रूपता है, एक-सूत्रता है।) ....

"जिस प्रकार तरह-तरह के फूलों से रस लेकर मधुमक्खियां शहद का निर्माण करती हैं, और सब रसों को एक-रस कर देती हैं—उसी प्रकार, देहान्त के समय, उस आदि सत् में विलय के अनन्तर प्राणि-प्राणि में वह दृष्ट पूर्व विविधता फिर दिखाई नहीं देती : उसी प्रकार—जैसे कि शहद में विभिन्न फूलों की खुशबू और मिठास को अलग कर सकना असम्भव होता है। यहां रूप कुछ हो—शेर, चीते, भेड़िये, पक्षी, कीड़े-मकोड़े—मूल में (और अन्त में)—सब एक ही थे, एक ही हो जाएंगे।'

"और इस एकता का ही नाम दर्शनों में आत्मा है।

"किन्तु श्वेतकेतु ने कहा—'अभी मुझे कुछ और अधिक स्पष्ट कीजिये। तब पिता ने उसे सामने खड़े अजीर का फल तोड़ लाने को कहा। 'इसे तोड़ो'। तोड़ने पर उसके बीज बिखर गए। पिता ने कहा, 'इन बीजों को भी फोड़ दो ;' और जब बीज भी फूट चुके, तब—उसने पूछा : 'अब बताओ—क्या बचा ?' पुत्र ने कहा 'कुछ भी तो नहीं !'

आरुणि ने शान्तिपूर्वक कहा 'पुत्र, ये बीज ही तो सब कुछ थे, जिनका 'पल्लवित' रूप—वह वृक्ष—अब भी हमारे सामने खड़ा है। यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी इसी प्रकार सूक्ष्म है। उसी (एक-आत्मा) का एक रूप तू है जो मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष बैठा है !'

"किन्तु श्वेतकेतु को अभी तक बात पूरी तरह स्पष्ट न हो पाई थी। पिता ने कहा—'जाओ, नमक की एक डली ले आओ।' 'लो, इसे जरा पानी में डालो तो : और जब वह पानी में घुल गई, तो आरुणि ने पुत्र को उसे चखने को कहा। जिधर से भी उसने चखा, स्वाद उसका नमकीन ही था। जिस भी चीज को वह उसके साथ खाता, वह भी नमकीन हो जाती ! तब पिता ने अन्त में कहा, 'पुत्र यही अवस्था हमारे जीवन की है। आत्मा के हम इन आंखों द्वारा दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु (पानी में घुली नमक की डली की तरह) है

वह—सर्वान्तर्यामी : सभी कहीं, मुझ मे और—तुम में भी, एक-रूप से अन्तर्व्याप्त है वह !"

इन सवादो मे सबसे आकर्षक वस्तु जो हमे आकृष्ट करती है, वह है, इतने गम्भीर, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयो मे उन प्राचीन भारतीयो की पर्युत्सुक **अन्वेषण-वृत्ति**, जो सदा(वस्तु के) बहिरग तक मीमित न रह कर वस्तु के अन्तस्तत्व तक पहुंचने के लिए कुतूहलता से भरी होती थी । कौशीतकी[४] तथा बृहदारण्यक २.१मे हम एक ही सवाद के दो रूप पाते है जहा एक अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्यबालाकि वाराणसी के राजा अजातशत्रु के पास पहुचता है और दावे के साथ कहता है कि 'मैं तुम्हे ब्रह्म का प्रत्यक्ष करा सकता हू' । एक के बाद एक—(पुरुष के) शरीर में, सूर्य मे,चन्द्रमा मे, विद्युत् मे, आकाश मे, वायुमण्डल मे, अग्नि मे, जल मे, और जल मे पडते प्रतिबिम्ब मे, धूप मे और छाह मे, ध्वनि मे—प्रतिध्वनि मे, स्वप्न मे—जागरण मे और जागने वाले की आख मे—**अन्तर्व्याप्त पुरुष तत्व** को ही वह 'ब्रह्म' नाम देता है । किन्तु इस सबमे अजातशत्रु को सन्तोष नही होता । ब्राह्मण का अभिमान चूर हो जाता है और अन्त मे, राजा की शिष्यता स्वीकार करके ही वह जान पाता है, उसे सचमुच अनुभव होता है, कि —"**ब्रह्म सचमुच आत्मानुभव के निरन्तर विकास के अतिरिक्त, आत्मबोध के अतिरिक्त, और कुछ नही ।**" यह सृष्टि की विविधता, यह अनेकता, तो सचमुच ऐसे ही है जैसे कही जलती-आग से फूटती चिगारिया दिशा-दिशा मे फैल जाए, कोई मकडी अपने गिर्द अपनी-ही उगली-थूक से एक जाली-सी बुन दे । आत्म-बोध की परिसमाप्ति भी एक इसी अनुभव मे जाकर हो जाती है कि—"यह सब चराचर जगत्, ये सारे लोक-लोकान्तर —मानव, दानव—किसी एक तत्व की ही बाह्य-लीला है—एक ही आत्मा के बोध-विस्तार है" ।

छान्दोग्य ८-७-१२ मे इसी विषय को लेकर **आत्मा के झूठे और सच्चे**, दोनो, **रूपों मे मौलिक भेद** को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है —

"जीवन मे यदि सचमुच कुछ ज्ञातव्य है, कुछ अनुसन्धेय है, तो वह है—आत्मा : 'आत्मा—जो पाप से मुक्त हो चुकी है, जो बुढापे से, मौत, फिक्र, भूख-प्यास से मुक्त हो कर अपनी इच्छा-शक्ति को शोधित कर चुकी है, जिसमे इच्छा करते ही इच्छापूर्ति तत्क्षण सम्भव हो जाती है . . .।'

"मूल समस्या के रूप का यह विवेचन प्रजापति के मुख से देवताओं ने भी सुना, असुरो ने भी, क्योंकि दोनो को ही इस(आत्मबोध)मे लोकलोकान्तर पर विजयी होने का मूल-मन्त्र जो नजर आ गया था !

"वर्षों—देवताओ मे इन्द्र, और असुरो मे विरोचन—प्रजापति के चरणों में विधिवत् (समिधादान-विधि पूर्वक) शिष्यवत् बैठे । पूछे जाने पर

(प्रजापति से उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की) उन्होंने कहा कि 'हमारा ध्येय इन ३२ वर्षों यहां ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का यह था कि इस प्रकार शायद हम उस 'आत्मतत्व के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगें जो स्वयं आपके कथनानुसार हमारे सभी मनोरथों की चरमपूर्ति 'होता' है।' प्रजापति ने दोनों की परीक्षा लेने के लिए कहा कि 'जब दो व्यक्ति परस्परापेक्षी होते हैं तो उनकी आंखों मे पड़ रही प्रतिच्छाया ही क्या वह 'आत्मा' नहीं होती ?' विरोचन को जैसे आत्म-लाभ हो गया !—आत्म-विभोर वह हंसता-कूदता अपने भाइयों में आ मिला और उनको समझाने लगा कि 'इस शरीर की देख-भाल ही सब-कुछ है : यही-एक आत्मविद्या का अथ है और इति है।"

"किन्तु इन्द्र जानता था कि प्रजापति मजाक कर रहे हैं; उसने कुछ चिन्तन किया—३२ वर्ष और ध्यान में बिता दिए, और फिर आचार्य के सम्मुख आ कर अपने सन्देह प्रकट किये। प्रजापति ने इस बार कहा—'आत्मा—शरीर मे नहीं, आंख मे पड़ती छाया में नहीं—स्वप्न में प्रत्यक्षवत्-दृष्ट कोई अभय-अमर तत्त्व है जिसे कुछ लोग 'ब्रह्म' भी कह लेते है।' इससे कुछ सन्तोष हुआ किन्तु, अभी वह देवताओं के खेमे तक पहुंचा भी न था कि, उसे सशय ने रोक दिया : 'आत्मा स्वप्न की तरह कोई अनित्य वस्तु नहीं हो सकती।' वह लौट आया, और ३२ वर्ष और बिता कर प्रजापति के मुख से उसने इतना सुना कि 'आत्मा के दर्शन मनुष्य (गहरी) नींद मे ही कर सकता है—उस नींद मे जिस मे कि स्वप्नों का कोई नामोनिशान न रह गया हो।'

"किन्तु—इस शून्यता से भी इन्द्र को सन्तोष न हुआ।

"पांच वर्ष और ब्रह्मचर्य में बीत गए।

"प्रजापति का इस बार 'दीक्षान्त' था : 'यह शरीर सचमुच मर्त्य है—मृत्यु का निधान है; किन्तु साथ— ही अ-मर, और अ-शरीर आत्मा का निवास स्थान भी है!' 'जब तक आत्मा इस शरीर में लिप्त रहती है वह आजीवन सुख और दुख का अनुभव करती-रहती है, सुख-दुख से उसे मुक्ति (कदापि) नहीं मिल सकती। किन्तु जब उसे परिज्ञान हो जाता है कि मेरा स्व-धर्म यह शरीर नहीं, तो–सुख और दुख से वह जैसे एक ही क्षण में ऊपर उठ जाती है !.... यह आंख उसी पुरुष तत्त्व के हाथ में (आत्मा के हाथ में) एक साधन है जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व को वह स्व-गत कर सकता है। यही अवस्था सभी इन्द्रियों की है। इन्द्रियां साधन हैं किन्तु सच्चा श्रोता, सच्चा घ्राता, सच्चा द्रष्टा इन इन्द्रियों के झीने आवरण में चुपचाप नि-गूढ़ (आत्मा) है ! चक्षु-आदि इन्द्रियों की बाह्य शक्ति का मूल-स्रोत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान कुछ और दिव्य शक्ति होती है जिसके बिना ये इन्द्रियां

बिल्कुल निकम्मी होती है। यह अन्तःशक्ति—यही अन्तरात्मा है जिसकी कि देवता भी पूजा करते हैं; इसकी अदम्य इच्छा ही सभी मनोरथों की चरम पूर्ति है; आत्मा का अन्तर्बल (ही) लोक-लोकान्तर को वशंवद कर सकता है।"

आत्मबोध की इस इतिकर्त्तव्यता को, (अन्तःशक्ति को) ही उपनिषदों में **प्रजापति-विद्या** के नाम से अंकित किया गया है जिसका एक और रूपान्तर हम **यज्ञ-याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी** के सुन्दर संवाद मे, बृहदारण्यक २.४ मे, संग्रथित पाते है। याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम समाप्त करके वानप्रस्थ के लिए उत्सुक है, और वह अपनी यह उत्सुकता अपनी दोनों पत्नियों के सम्मुख प्रकट कर देता है—

"किन्तु—मैत्रेयी चौंक उठती है: 'स्वामी, क्या सम्पत्ति के इस बटवारे में यदि आप धन-धान्य, रत्न-आदि से परिपूर्ण धरती ही मुझे दे दें, तो क्या—मैं उससे अ-मृत हो जाऊंगी? उससे अ-जर, अ-मर हो जाऊंगी?'

"नहीं तो: धनधान्य और सम्पत्ति से तो मनुष्य अमीर ही बन सकता है; अमृत का उससे क्या सम्बन्ध?'

"तो—'मैं यह सब लेकर फिर क्या करूंगी? इतने दिन अमृत की खोज करके यदि आपने कुछ पाया हो तो मुझे तो, बस, उसी की दो-बूंदें चाहिएं; मैं और कुछ नहीं मांगती।"

"याज्ञवल्क्य ने स्वीकार किया कि दुनिया में यह—'पति-पत्नी को एक कर देने वाला 'प्रेम, यह बाप-बेटे का प्रेम, भक्त-भगवान् का प्रेम, प्राणिमात्र में परस्पर प्रेम—सब झूठ है, ढकोसला है, स्वार्थ है; और मजा यह है—कि इस स्वार्थ को भी, इस छोटी-सी चीज को भी 'बिल-मुकाबिल' देखने का हममें साहस नहीं होता! हम अपने ही घृणित स्वार्थ का यदि कुछ मनोयोग के साथ विश्लेषण कर सकें, खुद को अपनी नग्नता में एक बार देख लें: जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि—यह अन्तर्दृष्टि स्वार्थ को स्वार्थ नहीं रहने देती—हमें अपनी सीमाओं में, हमारी पुरानी संकुचितता में, नहीं रहने देगी। स्वार्थ ही, 'निः-स्वार्थ' होता-होता, हमारी कायाकल्प कर सकता है। स्वार्थ-विश्लेषण के रूप मे यह आत्म-बोध ही है जो इन्सान के लिए सर्वथा सम्भव है: सभव और वांछनीय। आत्मबोध—अथवा ब्रह्म-ज्ञान—इसी स्वार्थ-विश्लेषण की परिसमाप्ति के अतिरिक्त, अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त, कुछ नहीं है।"

कहीं-कहीं उपनिषदों मे इसी आत्मा का **प्राण** (अर्थात् **जीवन-तत्व**) नाम भी दिया गया है। किन्तु ऐसे स्थलों पर उस प्राण को **चैतन्य** के साथ एकात्म कर दिया गया है। प्राण शब्द—एक वचन भी है बहुवचन भी। एक वचन 'आत्मा'

के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, तो बहुवचन इन्द्रियों के (तथा शरीर के अग-प्रत्यग के) प्रसग मे। यही नही; वाणी, श्वास, दृष्टि, श्रुति और चिन्तन—का सम्बन्ध बाह्य प्रकृति मे अग्नि,वायु, सूर्य, दिशाओ तथा चन्द्रमा मे प्रतिमूर्त्त पाच महाशक्तियो के साथ भी स्थापित किया जाता है। व्यक्तिगत तथा लोकगत—ये पाच शक्तियां परस्पर प्रभाव डालती है ऐसा भी 'अनुभव-सिद्ध' कहा गया है। इस दृष्टि मे, विशुद्ध आध्यात्मिकता के अतिरिक्त, कुछ हद तक मनोवैज्ञानिक अनुभूति भी इष्ट प्रतीत होती है। एक स्थल पर तो सचमुच इन प्राण-शक्तियों में एक सग्राम ही उठ खडा हुआ है और वहा हर इन्द्रिय का दावा है कि 'म ही सबसे महान् हूं' —जिसके निर्णय के लिए प्रजापति को एक मति मे मध्यस्थ नियुक्त किया जाता है। (छान्दोग्य ५ १, बृहदारण्यक ६ १ ७-१४) —

"प्रजापति ने कहा—'मुझे क्यो व्यर्थ मे ही बीच में लाते हो ?—आपस में ही फैसला क्यों नहीं कर लेते ?' 'महान् वह है जिसकी आवश्यकता, घर छोड़ बाहर निकल जाने पर, घर वालों के लिए और भी बढ़ जाती है।"

"सबसे पहले—वाणी विदा हुई। एक वर्ष तक रूठी रही। किन्तु शरीर का काम वैसे ही, यथापूर्व, चलता रहा! जैसे कि पहले चलता आया था, चलता रहा। आखिर, गूगे भी तो जी ही लेते है!

"आख गई; फिर कान चला गया, यहां तक कि—मनोमय भी विदा हो गया! किन्तु—जीवन मे इससे बाधाए आईं, मृत्यु नहीं। क्योकि—अन्धे-बहरे भी तो जी ही लेते हैं। और तो और—विचार-शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य आत्म-हत्या नहीं कर लिया करते!

"सभी इन्द्रियां लोट आईं, और—जीवन मे इस परीक्षण से कुछ नम्रता, परिणामतः, आ गई।

"अब प्राण की बारी थी। उसने भी जाने की तैयारी की, पर—जैसे कोई घोड़ा बलपूर्वक रस्सी को खीच कर भागने की करे और जमीन में गडा किल्ला उधर-से उखड़ने लगे: वही अवस्था उससे बाकी इन्द्रियो की हो गई।

"और यही बात है कि शेष इन्द्रियो को (बहुवचन मे सामान्य) प्राण नाम तो दिया जाता है, लेकिन (इसके विपरीत)—'गिराएं, आखें, श्रवासि, मनांसि, उन्हें कोई नही कहता।"

इन्द्रियों की इस मनोवैज्ञानिक गाथा के अतिरिक्त, आत्मा की मूल अन्तर्दृष्टि को सर्व-सुलभ करने के लिए उपनिषदों के रचयिता अपनी दार्शनिकता मे कवित्व का योग भी समय-समय पर कर देते है। ऐसे स्थलों मे प्राय **जागरित, स्वप्नमय, सुषुप्तिमय अवस्थाओं में से आत्मा की गति-अगति-प्रत्यावृत्ति के प्रत्यक्ष उदाहरणो द्वारा मृत्यु एवं परलोक मुक्ति और मुक्ति से पुनरावृत्ति—के स्वानुभव को**

उपनिषदों के कवि—उपदेशों-युक्तियों द्वारा सिद्ध नहीं करने लगते—उसे वैयक्तिक अनुभव-परीक्षण पर ही छोड़ देते हैं। बृहदारण्यक ४ ३-४ की इस परीक्षणात्मकता पर दाऊसन' कितना मुग्ध है "यह परिच्छेद भारतीय साहित्य मे तो अन्यत्र मिलता ही नही, स्वानुभव की वही भव्यता, वही सहृदयता, संवेदना की वही संक्रमणी-शक्ति क्या विश्व-साहित्य मे भी कहीं और मिल सकती है ?" इसी प्रसंग मे पहली बार (बृहदारण्यक ३ २ १३–) **पुनर्जन्म तथा कर्म** की विवेचना हम पाते है कि किस प्रकार **मनुष्य भी सृष्टि के प्राकृत नियमों से स्वतन्त्र नहीं है।** इसी सिद्धान्त का बौद्धो ने गली-गली जा कर प्रचार किया, किन्तु उपनिषदों के युग मे उसके रहस्य को सब के सम्मुख उद्घोषित करने की आवश्यकता अभी अनुभव हुई प्रतीत नही होती —

"आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा मुझे यह बताओ कि जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो लोग उसे चिता पर रख कर मुखाग्नि दे देते हैं; उसकी वाणी ज्वालामय हो उठती है,—उसकी प्राण-शक्ति इस विस्तृत वायुमण्डल में विलीन हो जाती है, उसकी दृष्टि सूर्य मे जाकर कही छुप जाती है; उसका मन (कहते है) चन्द्रमा में एकीभूत हो जाता है, श्रवण-शक्ति यहीं-कही दिशाओ में भटक जाती है, और यह मिट्टी का पुतला भस्म के एक ढेरी के सिवा कुछ नही रह जाता; सुनते हैं—इसके बाद—उसकी आत्मा तो आकाश मे यहीं-कहीं मडराती रहती है जबकि उसके केश-आदि वनस्पति के रूप में उसी राख से फिर फूट निकलते है; उसको जीवित रखने वाला उसका वह रक्त और वीर्य इन बहती धाराओ में अपना वह स्व-रूप खो देता है; तब—मैं पूछता हूं 'क्या यही मानव-जीवन का अन्त है ? या—इस विशरण के बाद भी, मनुष्य नष्ट नहीं होता ?'

"याज्ञवल्क्य ने प्रेमपूर्वक आर्तभाग का हाथ अपने हाथ मे दबा लिया, और कहा—'देखो, ऐसे प्रश्नों को भरी-सभा मे पूछने से तुम्हारा समाधान नहीं हो जाएगा।' और, उसे एक ओर ले जाकर, याज्ञवल्क्य ने सारे प्रश्न को एक शब्द में पुनरुक्त कर ही एक-तरफ कर दिया : 'समस्या न मृत्यु पर आकर समाप्त हो जाती है न कोई नई समस्या मृत्यु से उठनी चाहिए। हमारे लिए यहां (इस-जीवन मे) यदि कुछ महत्त्वपूर्ण है, तो वह—ऐसी समस्याओं का समाधान कदापि नहीं (हो सकता)। हम तो बस अच्छे और बुरे कर्मों में कुछ भेद-भर कर सकते है—कुछ अच्छे कर्म ही अपने पीछे छोड सकते हैं।"

बृहदारण्यक ४ ४ २-५ मे कर्म के इस सिद्धान्त की कुछ विस्तृत विवेचना, मृत्यु के चरम अनुभव का क्रमश प्रस्तुत करते हुए, इस प्रकार की गई है .—

"और अन्त में सारी ज्योति जीवन की हृदय में आकर केन्द्रित हो जाती है—जिसकी सहायता से आत्मा आंखों के रास्ते, सिर फाड़ कर या किसी और मार्ग से, इस शरीर के बाहर निकल आती है। प्राण-शक्ति उसके पीछे-पीछे हो लेती है और, प्राणशक्ति के साथ ही, अन्य इन्द्रियां (और चेतना) भी शरीर को छोड़ देती हैं। किन्तु—आत्मा स्वयं चैतन्य है, चित्-स्वरुप है: जो-कुछ उसने इस जीवन में किया था वह सब एक अनश्वर अनुभूति बन कर सदा उसी का यात्रा-संगी रहेगा।

"घास पर चलने वाला जैसे कोई कीड़ा एक पत्ती से दूसरी पत्ती तक पहुंचता-पहुंचता आगे, और, और-आगे, निरन्तर बढता चलता है, उसी प्रकार—आत्मा एक जड़ शरीर से मुक्त हो कर दूसरे जड़ शरीर को प्रत्युज्जीवित करता हुआ निरन्तर बढता-हो चलता है। या फिर—कशीदाकारी में जिस तरह स्त्रियां कला के एक रूप पूर्ण करके दूसरा (और) सुन्दर-तर रूप बनाती चलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (शरीर-गत) अज्ञान से विमुक्त हो कर नया शरीर, नए अनुभव, प्राप्त करता चलता है: पितृ-लोक, गन्धर्व-लोक, ब्रह्म-लोक, प्रजापति-लोक, या किसी अन्य लोक के—अनुभव को स्व-गत करता चलता है।

"किन्तु इस यात्रा में उसका पाथेय, उसका मूल-धन, पिछले जीवन में किए-गए उसके अच्छे-बुरे कर्म ही होते हैं : 'जैसी करनी, वैसी भरनी।' सब कर्मों के मूल में सदा मनुष्य की अपनी ही इच्छा सक्रिय हुआ करती है। इच्छा के अनुसार प्राणी कर्म करता है और, पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही, फल भी पाता है—'नवजीवन' पाता है।"

कर्म के इस सिद्धान्त पर ही ब्राह्मणों तथा उपनिषदों का पाप-पुण्य भावना आधारित है, किन्तु—इस मनोवैज्ञानिक दृष्टि को हमें वैदिक अध्यात्म दृष्टि की संगति में ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि सच यह है कि जीवन में हम प्राणियों में परस्पर-व्यवहार एक ही बात में प्रेरित हुआ करता है कि हममें सर्वात्मभाव भनि कितनी है—प्रेम का वह हमारे अन्दर उमड़ता स्रोत हमें किस हद तक नि-सीम कर सका है। और सच तो यह है कि, इस **सर्वात्मभाव** के अतिरिक्त इन वानप्रस्थ जोगियों के पास—हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस प्रश्न पर विश्लेषण अथवा दिशा-निर्देश के लिए—प्रसाद-रूप में देने को और कुछ-भी-तो नहीं! **तैत्तिरीय** १ ११ में **दीक्षान्त**-समारोह पर पढ़ा जाने वाला यह मूल प्रवचन शायद उपनिषद्-वाङ्मय में एक अपवाद ही है जो वस्तुतः गृहस्थाश्रम में प्रवेश हो रहे जीवन-यात्री के लिए एक आदर्श स्थापित कर सकता है —

"अब तुम संसार में प्रविष्ट होने चले हो; किन्तु, खूब समझ लो—लोक-व्यवहार में भी सचाई से मुख मोड़ना आवश्यक नहीं, कर्त्तव्य-विमुख होना आवश्यक नहीं, स्वाध्याय-विमुख होना आवश्यक नहीं; और—ना-ही इतनी आसक्ति गुरुकुल से बनाए रखना कि जो धन कमाओ, घर वालों की परवा न करके, लाकर सारा आचार्य के चरणों में अर्पित कर दो ! पितृ-पूजा, देव-पूजा—तुम्हें सचमुच करनी ही चाहिए—यह तुम्हारा कर्त्तव्य है, परन्तु—देवता और पितर कहीं दूसरे लोकों में नहीं रहते ; तुम्हारी आंखें हैं तो माता-पिता में ही, गुरु-जनों में ही, अतिथि-जनों में ही—तुम देवताओं के दर्शन कर सकते हो !"

हमें क्या करना चाहिए क्या नहीं—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में एक और छोटा-सा कथानक बृहदारण्यक ५. २ में इन थोड़े-से शब्दों में इस प्रकार सकलित है :—

"प्रजापति के तीन सन्तान थी—देव, मनुष्य और असुर । प्रजापति ही तीनों के जन्म और दीक्षा के गुरु थे । दीक्षान्त के समय तीनों ने आचार्य से 'अन्तिम उपदेश' सुनना चाहा; और तीनों को ही प्रजापति ने वही एकाक्षर उपदेश दिया—'द' । किन्तु प्रजापति ने जानना चाहा कि तीनों ने इस (मेरे एक-अक्षर) से क्या-कुछ समझा है । देवताओं ने उत्तर दिया, 'आपने हमें दमन की दीक्षा दी है' इसी प्रकार—मनुष्यों ने उसी एकाक्षर से दान की दीक्षा ली और असुरों ने दया की ।

"—यह प्रजापति और कोई नहीं, बादलों में कड़कती बिजली है जिसकी चमक कभी-कभी हमारे पाप को इस तरह नगा कर के रख देती है—हमें आत्म-बोध देती हुई-सी, हमारी कमजोरियों को दिखलाती हुई-सी हमारे लिए दमन, दान और दया का जैसे दिशा-संकेत-सा कर रही हो !"

उपनिषदों में, सचमुच, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रश्न पर विवेचन बहुत कम हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि, उपनिषदों के अनुसार, जीवन का परम ध्येय ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करके 'ब्रह्म-भूय' सिद्धि को प्राप्त करना है—बस । और मुक्ति भी सचमुच उसी को मिल सकती है जो यह एकात्मता प्राणिमात्र के साथ, इसी जीवन में, अपने-तई स्वगत कर चुका है । और इस एकात्मता में पूर्णता भी तो तभी आ सकती है जब हम, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विकार को सर्वथा भुला कर, अपने हृदय को प्रेम से उद्गूर्ण कर लें। यज्ञकाण्ड अपितु पुण्यार्जन का फल सीमित हुआ करता है और, कर्म-फल क्षीण होने पर, जन्म-जन्मान्तर का वही पुराना सिलसिला अवश्यम्भावी होता है, अपरिहेय होता है। ज्ञान द्वारा स्वानुभाव

ही एकमात्र ऐसा उपाय है जो हमे, इस अनित्यता से मुक्त करा कर, अनेकता मे मुक्त करा कर, और असत्यता मे मुक्त कराकर, विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द प्रदान कर सकता है . "मुक्ति" का अर्थ यह कदापि नही होता कि दुनिया छोड दो। कमल के पत्र को जिस प्रकार जल या कीचड छू नही सकता, उसी प्रकार ज्ञानी यहा रहता हुआ भी जीवन्मुक्त ही होता है (छान्दोग्य ४ १४ ३, कौशीनकी ४. ३ ८) । ब्राह्मणो मे तथा आरण्यको में स्थान-स्थान पर **आत्मबोध** की इस महिमा को गाया गया है—**'य एवं वेद'** । उपनिषदो के अनुसार तो जीवन मे ही निरन्त सुख, असीम आनन्द ऐसा 'य एव वेद' पुरुष ही **स्व-त** प्राप्त कर सकता है । इसीलिए—सभी उपनिषदो मे आत्मज्ञान को ही जीवन का परम ध्येय कहा गया है । प्रजापति (आचार्य) के यहा, इन्द्र ही नही, हमारे जैसे साधारण पुरुष भी अपने जीवन मे कुछ सार्थकता करने के लिए (इसी परम विद्या का कुछ अंश—ज्ञानाग्नि की एक चिनगारी—अधिगत करने के लिए) रहा करते थे । जीवन की सफलता वे इसी मे ही मनाते थे कि इह-जीवन मे ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है । यह आत्म-ज्ञान हजारो-सैकडो गौए दे कर, हीरे जवाहरात के ढेर भेट कर, प्राप्त नही किया जा सकता; इसके लिए ही तो स्वय ब्राह्मण आत्मज्ञानी राजाओ की शिष्यता स्वीकार किया करते थे, अमीर लोग भिखारियो के आगे नतमस्तक देखे गए है । आत्मज्ञान के प्रति इस उन्मुकता का एक सुन्दर नमूना कठोपनिषद् मे सकलित **नचिकेता** की यह सुन्दर **कहानी** है —

"आखिर, नचिकेता को पाताल जाना पडा—वहां, जहां मृत्यु का साम्राज्य है । यम उस समय घर पर नही था, लौटने पर इस धृष्टता के लिए नचिकेता से उसने क्षमा मांगी और बदले में उसे तीन वर मांगने को भी कहा। नचिकेता को पहली (और सबसे बडी चिन्ता) तो यह थी कि पिता का क्रोध शान्त हो जाए और वह मुझे फिर से घर में वापिस स्वीकार कर ले । फिर उसने सोचा 'क्या जीवन मे कुछ शान्ति, कुछ स्वर्गिक विभूति भी, आ सकती है ?' किन्तु ये दोनो वर यम की दृष्टि में मामूली-ही थे, इसलिए जब जीवन-मरण के मूल प्रश्न पर ही नचिकेता की उंगली आखिर टिक गई कि—

"पृथ्वी पर अभी यह सन्देह ही बना हुआ है कि मरने के बाद प्राणी की कुछ सत्ता रह भी जाती है या नहीं': —अभी तीसरा वर मैंने आपसे मांगना है, तो—क्यों "न उसकी पूर्ति मे आप मुझे इसी एक प्रश्न का समाधान ही दे-दें ?—

यही एक प्रश्न था जिससे यम भी घबराता था । देवता भी मृत्यु के

प्रश्न से कतराते हैं, और यहां एक नन्हा-सा छोकरा है कि इसी एक सवाल (के जवाब) के लिए जिद्द पकड़े है !

"यम ने उसे तरह-तरह के झांसे दिए, प्रलोभन दिए, अद्भुत वैभव दिखलाए—वंश, सम्पत्ति, कीर्ति, जिस भी चीज पर दुनिया मरती है—उसका दस-गुना यम उसे देने को तैयार था। सचमुच यह मनोरथ-पूर्ति सांसारिक जनों के लिए कितनी दुर्लभ वस्तु होती है ! परियों के साथ रथों में यात्रा, उद्यान, वीणा-वन्दन, नृत्य—सखियों—नचिकेता, (चाहता तो) अनुभव कर सकता था।...

"लेकिन सब—ठुकरा दिया उसने ! जीवन बीस साल का हो, दो-सौ साल का हो, दो हजार साल का हो, क्षणिक ही होता है—एक-न-एक दिन, यह सब-कुछ अन्त ही हो रहेगा। उसने शान्तिपूर्वक कहा—

"यमराज,
ये सब क्षणिक वस्तुएं—
यह क्षणिक वैभव,
यह क्षणिक आनन्द और सुख
—किस को दिखा रहे हो ?
इस रथ, गीत, वाद्य, नृत्य को लेकर
आखिर में करूंगा क्या ?
इस सब का भी तो अन्त ही कर दोगे न तुम—?।
—तुम अन्त-क हो, ना ?
"मुझे यह कुछ-नहीं चाहिए।
इस छोटी उम्र में भी
संसार की निस्सारता
तुमने मेरे लिए खुद प्रत्यक्ष कर दी।
मेरे लिए तो एक ही समस्या (शेष) है—
(मौत से मैं नहीं डरता)
—मैं तो बस यही पूछना चाहता हूं
कि मनुष्य मर कर भी
मरता है या नहीं।
'क्या मर कर वह अमर नहीं हो जाता ?'

यम नचिकेता की बाल-बुद्धि पर और बाल आग्रह पर मुग्ध हो कर, अन्त मे, उसे आत्म-ज्ञान का वह प्रसाद दे ही देता है। आत्म-ज्ञान अर्थात् 'अमृत'—कितनी सरल विद्या है !

किन्तु ब्रह्मविद्या के प्रति यह भक्ति-भाव किस प्रकार मनुष्य को सासारिक सुखो से (विमुख ही नही) पराङमुख'' कर देता है · **मंत्रायणी** १ २-४ के निम्न उद्धरण मे सम्भवतः पहली ही बार अंकित हुआ है, यद्यपि 'जीवन मे निराशा की ओर यह प्रवृत्ति' परतर भारतीय साहित्य तथा दर्शन में पग-पग पर हम प्रत्यक्ष पाते है .

'राजा बृहद्रथ अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन-भार सौंप, इस देह की क्षण-भंगुरता को हृद्गत कर, बानप्रस्थ हो गए और वन में आ कर—उन्होंने घोर से घोर तपस्या शुरू कर दी।

बाहें फैला कर सारा दिन सूर्याभिमुख खड़े रहते।

इसी अवस्था में उनके एक हजार दिन बीत गए।

उधर से एक आत्मवेदी पुरुष आता दिखाई दिया। यह सत्यकाम था। सत्यकाम ने तपोधन के तप से सन्तुष्ट हो कर उसे वर मांगने को कहा। बड़े विनम्र और शोकाकुल भाव से राजा ने कहा, 'महाराज! मुझे आत्मबोध नहीं। क्या आप मुझ पर कृपा करेंगे?' सत्यकाम ने बतेरी कोशिश की कि बृहद्रथ यह जिद्द न करे; किन्तु वह तो, उलटे, फूट पड़ा · 'भगवन्! मल, मूत्र, अस्थि, मज्जा के इस पुतले को ले कर मै क्या करूंगा? संसार की सब घृणित वस्तुओ का—वासना, क्रोध, भ्रांति, भय, ईर्ष्या, विरह, आसक्ति, भूख, प्यास, बुढापा, मृत्यु, रोग और तरह-तरह के कष्टों का—निधान यह शरीर किस काम का? संसार क्षणिक है—उतना ही क्षणिक जितने कि ये फूल, पौधे, ये कीड़े मकौड़े, रोज पैदा होने वाले—रोज मरने वाले प्राणी: मैं यह खूब समझ चुका हूं। कौन प्राचीन राजा है, या वीर-पुरुष ऐसा हुआ है, या देवता ऐसा हुआ है, असुर हुआ है—जो मृत्यु का ग्रास न बना हो? छोटी-मोटी चीजो की तो कुछ बिसात ही नहीं; समुद्र तक सूख जाते हैं, पर्वतों-तक का नामोनिशान नहीं रह जाता। ध्रुव नक्षत्र भी अपनी न-क्षत्र वृत्ति को छोड़ देता है, देवता अपने परम-पद से च्युत हो जाते हैं: इसी का नाम ही तो संसार है, ना? इसमें—भला सुख का अवकाश ही कहां है? जिसका मनोरथ पूर्ण भी हो जाता है—पुण्य क्षीण होने पर वह भी लौटकर फिर इसी दुखसागर में आएगा। मैं तो यहां रहते हुए सदा ऐसे अनुभव करता हूं जैसे किसी सूखे कुएं में घिरा पड़ा हूं। आप ही अब मेरी शरण बनिये।''

इस प्रकरण की तुलना परतर बौद्ध'' एव सस्कृत साहित्य मे कितनी ही बार की भी गई है, और स्वय **मैत्रायणी** है भी तो एक अर्वाचीन उपनिषद् ही। भाषा और शैली भी इस उपनिषद् की शेष लौकिक वाङमय से कोई बहुत-भिन्न नही है। निश्चय-ही यह एक उत्तर-बौद्ध युग की रचना है। कुछ हो, भारतीय निराशावाद

एवं ससार की असारता के बीज यहा मौजूद है। "(इस असार)संसार मे यदि कोई वस्तु यथार्थ है, सारवान् है, महत्त्वपूर्ण है तो बस—अजर, अमर आत्मा ही: एक ब्रह्म ही है जो भूख-प्यास से, दुःख और भ्रान्ति से, मुक्त कोई परतर वस्तु है।" इसके अतिरिक्त अन्य सब-कुछ कष्टमय है (बृहदारण्यक ३ ५)। "जो-कुछ भी, ब्रह्म के अतिरिक्त, हम यहा प्रत्यक्ष करते है, वह सत्य नही है, अर्थात्—सासारिक जीवन का यह दुख-सुख सब असत्य है, अनित्य है. जिसने यह अनुभव कर लिया, वह सम्पूर्ण विश्व से एकात्म हो जाता है—उसे भय, कष्ट, शोक, मोह सताते नही। ब्रह्म-विद् के लिए सब कुछ एक-ही रूप है, सब-कुछ आनन्द-रूप है, सब-कुछ आत्ममय है, और यहा आ कर निराशा छिन्न-भिन्न हो जाती है, और आशा का सूर्य (स्वय ?) उदित हो आता है। यह आशा की किरण ही—ब्रह्म है, आत्मा है जो सब सृष्टि-चक्र का मूल एव निलय है।" (तै० २ ९, ३ ६, ईशा० ७)

उपनिषदो की विचारधारा, इस प्रकार, किंचित् निराशाजनक प्रतीत होती है। सासारिक जीवन को असत्य समझने के बाद उससे विमुखता एवं विद्वेष—एक ही कदम की तो दूरी रह जाती है दोनो मे, और, जब ब्रह्मानन्द का अनुभव करके तपोधन अतिशयोक्तियो मे इठलाने लगता है, तब ससार का वह माया-'स्वरूप' उसे और भी निरर्थक प्रतीत होने लगता है।[१२] उपनिषदो की यही अनुभूति ही थी जो आगे चल कर कभी भारतीय दर्शनो की (असासारिकता-दृष्टि की) मूल-प्रेरणा बनी थी।

निराशावाद ही नही, सम्पूर्ण दर्शन-वाङ्मय, भारतीयो का, उपनिषदो की विचार-धारा मे प्रसूत है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र का आधार भी तो उपनिषदो के मूल सिद्धान्त ही है। मधुसूदन सरस्वती[१३] ने एक स्थान पर इन सूत्रो को सम्पूर्ण दर्शन-परम्परा मे प्रमुख स्थान दिया है और कहा है, "जिसे भी मुक्ति इष्ट होगी वह इन ब्रह्मसूत्रो की प्रशसा तो करेगा ही।" शकर और रामानुज का 'धार्मिक दर्शन' इसी ब्रह्मसूत्र से प्रेरणा पा कर लाखो के लिए एक जीवन-दर्शन खोल गया। भारत मे जितने भी दार्शनिक एव धार्मिक सम्प्रदायो का अभ्युदय आगे चल कर हुआ—प्राचीन ब्राह्मणधर्म का पुनर्जन्म भी और (उससे पूर्व) बौद्ध-प्रतिक्रिया भी—सभी की जन्मभूमि उपनिषदो की यही उर्वरा वनस्थलिया है।

दूसरी ओर—उपनिषदो को भी दैवी श्रुति स्वीकार कर लेने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय दर्शन के प्रवाह मे जो स्वतन्त्रता आ सकती थी—नही आई, क्योकि—उपनिषदो मे जो उद्धलता, विचार-शक्ति की जो स्वतन्त्रता, अन्तर्दृष्टि की, कृतित्व की, पदे-पदे नवलता हम पग-पग पर पाते है वह दर्शनो के अभ्युदय के साथ, क्रमश, क्षीण हो होती गई, जिसके दो कारण है—एक तो यहा प्राचीनता

में लोगो का अन्धविश्वास, अन्य देशों की धर्मान्धता की तुलना में, कुछ कम नही; और दूसरे—वही अन्धविश्वास उनका उपनिषदो के शब्दों को ही दैवी श्रुति मानता है और मानता रहेगा।

किन्तु बात यह नही है कि उपनिषदो की कवित्वमयता मे दैवी श्रुति का आभास इस अन्धविश्वास के कारण हुआ हो। कितने ही मूर्खता से भरे (ब्राह्मण ग्रन्थों में आए) प्रकरणो मे भी वही आस्था हिन्दुओ की है; सो, इनका प्रभाव लोगों के जीवन में इस अन्धविश्वास के कारण हुआ हो, बात वैसी नही। वहां, अलबत्ता, इन उद्गारो की कवित्वमयता मे कुछ है जो हृदय को भी उसी प्रकार से अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है जैसे कि बुद्धि को। भले ही शोपनहा'र इनकी प्रशसा यह कह कर क्यो न करे कि 'इनमे मानवीय चेतना का परम उत्कर्ष निहित है, विकास निहित है', और यह भी हम आधुनिको की बुद्धि कभी स्वीकार नही कर सकती कि 'हजारो वर्षों तक इनकी अर्थ-पूर्णता वही बनी चलेगी'। न-ही हम दाऊसन के इस विचार से सहमत हो सकते है कि 'भले ही आज का वैज्ञानिक इन्हे पूर्ण रूप से विज्ञान-सम्मत अंगीकार न कर सके, फिर भी—सृष्टि के (मूल)'अन्तर्-रहस्य' को 'आत्मा की विशुद्ध अन्तर्ज्योति की छाया मे' उपनिषदो के ऋषियो ने ही भापा है। आगे चल कर, वेदान्त की व्याख्या करते हुए, दाऊसन ने प्राय उपनिषदो की ईश्वरीयता को समर्थित करने का प्रयत्न भी किया है (यह कह कर कि 'इनकी दर्शन-धारा मे जो गम्भीरता है, जो उदात्तता है वह न भारत मे कभी फिर मिलती है, न विश्व मे और कही मिलती है)।' ऐसे उद्गार प्राय, सब, अतिशयोक्तिपूर्ण है। सत्य सिर्फ इतना है कि भारत के इन प्राचीन दार्शनिकों मे वह अदम्य उत्साह है, वह प्रथम कुतूहल है, उत्कटता है —जो बुझने मे ही नही आती! उपनिषदो मे अतिमानव तत्व कुछ भी नही है, अपितु उनके विचारो की यह निपट मानवीयता ही है जिसका कि हमारे यहा आज भी, और सदा के लिए ही, महत्त्व कम नही हो सकता।

ऐतिहासिक जब विश्व की कथा लिखते हुए मानव चिन्तन-धारा का अनुसरण करता है तो वह भी इनके महत्त्व से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। उपनिषदो के रहस्यवाद ही का एक स्व-रूप पारसियो के सूफी धर्म मे हम देखते है, तो उसी की दूसरी धारा हम धर्म की रहस्यमयता के प्रसग मे, पश्चिम मे निओप्लैटानिको तथा एलैग्जेन्ड्रियन क्रिश्चनो के ज्ञान-योग की राह चल कर एक्-हार्ट तथा टौलर सरीखे, रहस्यवादियो के जीवन मे प्रवहमान देखते है, और अन्त मे—किस प्रकार वही प्राचीन प्रवाह १९वी सदी के जर्मन रहस्यवादी शोपनहा'र[१४] के दर्शन को प्रेरित कर गया। यह किसको अविदित है? शोपनहा'र भारतीयो का, और उपनिषदो का, कितना ऋणी है—यह हम स्वय उसी के मुख

से सुन चुके हैं। प्लेटो, कैण्ट, और वेद-वाङ्मय को शोपनहा'र न अपना 'गुरु' स्वीकार किया है। अपने 'युनिवर्सिटी लैक्चर' की पाण्डुलिपि में उसने कभी लिखा भी था कि 'जिन निष्कर्षों को मै आपके सामने उपस्थित कर रहा हू—आपको जान कर, शायद आश्चर्य होगा कि किस प्रकार वे (मेरे विचार) 'जीवन दर्शन' पर अभिव्यक्त किए-गए प्राचीनतम विचारो से अक्षरश मेल खाते है।' जब पहले-पहल सस्कृत-वाङमय के स्रोत मे एक मलय पश्चिम की ओर बही थी तब भी शोपनहा'र ने यह भविष्यवाणी की थी कि '१९ वी सदी का विश्व को यह सबसे-अमूल्य उपहार है—जिसका **सर्वात्मवाद** समय आएगा, पश्चिम मे भी लोक-साधारण का एकमात्र विश्वास, एक मात्र जीवन-सिद्धान्त बन जाएगा, अनुभव बन जाएगा, धर्म बन जाएगा।' उपनिषदो की विचारधारा के साथ स्वय अपने विचारो की सगति देख कर शोपनहा'र चकित था और उसका कहना था कि 'मेरे विचारो को ये उपनिषदें अपने छोटे-छोटे वाक्यो मे उपसहृत कर देती है, यद्यपि सम्पूर्ण उपनिषद्-वाङमय को पढ कर मुझे कभी-भी यह प्रतीत नही हुआ कि मेरे-ही विचार-सूत्रो को लेकर उपनिषदो के ऋषि इन परिणामो पर पहुचे होगे।' और यह तो सुविदित है ही कि उपनिषदो के पन्ने शोपनहा'र की मेज पर हमेशा फड-फडाते रहा करते थे। उन्ही को पढते-पढते शोपनहा'र को नीद आ जाती.. उन्ही से स्वप्न मे उसे नूतन आध्यात्मिक प्रेरणाए मिलती। एक स्थान पर शोपनहा'र ने कहा भी है कि, मूल सस्कृत को छोड कर शायद, दुनिया मे कोई भी इतनी उदात्त वस्तु मुमकिन नही हो सकती। उपनिषदो के पृष्ठ मेरे लिए—जीवन मे सान्त्वना का एक अक्षय स्रोत रहे है, और मृत्यु की वेला मे भी रहगे।' 'उपनिषदो के मौलिक सिद्धान्त—**अहं ब्रह्मास्मि**—पर बेवकूफ हमेशा मे हसते आए है—ओर सयाने उसी चीज पर मुग्ध होते आए है। एक शब्द मे—उपनिषदो का वह सिद्धान्त अ-द्वैत है, जिसका अर्थ यह होता है कि 'ससार मे यह प्रत्यक्ष-सी दीखती अनेकता माया है, भ्रान्ति है। हम व्यक्तियो की असख्य स्वार्थ-दृष्टियो मे भी, सच पूछिए तो, एक ही जीवन की प्रवृत्ति है जो अपनी निरन्तरता मे न समाती हुई, मानो, इस प्रकार बाहर बिखर जाती है। यदि लुडविग स्टाइन[७] की इस उक्ति मे—कि 'वर्तमान दर्शन का स्वरूप एकतावाद ही है, जो विश्व के सब रहस्यो का समाधान कर सकता है'—कुछ सचाई है, तो—वर्तमान दर्शन की इस एकता का प्रत्यक्ष (स्वानुभव) भारत मे आज से तीन हजार साल पहले ही, उस बाबा आदम के जमाने मे कभी, हो चुका था।

७ A. E Gough · *The Phil. of the Upanishads,* Deussen : *The Phil. of the Upanishads* (AGPh, 1, 2); Barua : *A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy.*

८ *System des Vedanta*, 128; AGPh 241f.
९ Sechzig *Upanishads*, 463.
१० Regnaud : *Le Pessimisme Brahmanique* (Annales, du Musée Gaimet, t. I, 101 A).
११ मैत्रायणी ७. ८.—; Oldenberg : *Zur Geschichte der altindischen Prosa*, 33.
१२ M. K. Hecker · *Schopenhauer und die inaische Philosophie*, 116-20.
१३ प्रस्थान-भेद.
१४ Parerga und Paralipomena, II, 417 L§ 185, Hecker, *loc. cit.*, 6ff. *Grundlage der Moral* IV, 268ff
१५ Naue Freie Presse, Suppl (July 10th 1904).

वेदांग साहित्य

मुण्डक उपनिषद् मे एक स्थान पर सम्भवत. सर्वप्रथम **परा और अपरा** दो विद्याओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है । परा से अभिप्रेत (भारत के लिए) ऋषियों को ब्रह्मविद्या थी जबकि अपरा से वे 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष' का ग्रहण (मुण्डक १ १ ५)' किया करते थे । इसी प्रकरण मे, सम्भवत., सर्वप्रथम वेदागो का सकेत मिलता है । आरम्भ मे 'वेदाग' न किसी विशिष्ट पुस्तक का, और न ही किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की, सज्ञा थी, अपितु वेदार्थ समझाने के लिए एक प्रकार की अध्ययन-प्रणाली अथवा कुछ-एक विषयो का समावेश इसमे हुआ करता था। वेदाग मे परिगणित विषयो का पूर्वाभास हमे ब्राह्मणो तथा आरण्यको मे मिलता है जहा, यज्ञ-प्रक्रिया की व्याख्या करते करते मुनि शिक्षा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, निरुक्त शास्त्र, छन्द शास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र का आश्रय लेता है । ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, इन प्रारम्भिक कल्पनाओ का वैज्ञानिक विकास होता गया और वेदार्थ के सम्प्रदायो मे इन छ उपागो की भी स्वतत्र स्थिति बन गई । इनकी रचना सूत्र-शैली मे हुई जो भारतीय साहित्य मे गद्य शैली का सम्भवत' सर्व-प्रथम उदाहरण है । ये सूत्र-- स्मृति को सहायता देने के लिए लिखे गए थे, प्रतीत ऐसा ही होता है ।

सूत्र का शब्दार्थ है 'धागा', साहित्य मे इसका लाक्षणिक अर्थ होता है— 'विचार का सक्षिप्त प्रस्ताव' । जिस प्रकार सूक्ष्म ततुओ के ताने-बाने से हम एक वस्त्र का निर्माण करते है, उसी प्रकार विचारो मे व्यवस्था, परस्पर-सगति, ला कर कल्पना को भी अनुसूत्रित' किया जा सकता है । इस प्रकार के सूत्रो के समुदाय को '**सूत्र**' **ग्रन्थ** नाम दिया जाता है; इनकी रचना विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से हुआ करती थी कि 'सूत्र' के द्वारा वज्ञानिक तथ्यो को, उनके 'इस' प्रस्तुत (सक्षिप्त) रूप मे, विद्यार्थी आसानी मे याद कर सके । विश्व के इतिहास मे भारतीय सूत्र-प्रणाली का निदर्शन अन्यत्र ढूंढना व्यर्थ है । कितनी ही बार सूत्रकर्त्ता अपनी सक्षिप्तता मे स्पष्टता को एव बुद्धि-गम्यता को भी तिलाजलि दे देता है । पतजलि के समय से तो विशेषकर भारतीय वैयाकरणो मे एक विश्वास ही चला आता है कि आधी-मात्रा यदि बचाई जा सके, तो वैज्ञानिक को उससे पुत्रोत्पत्ति का आनन्द होता है । सूत्र-शैली को, बिना उदाहरण के, समझ सकना असम्भव है। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** तथा **गोभिल गृह्यसूत्र** के ये दो उदाहरण पर्याप्त होने चाहिए :—

आपस्तम्ब (१ १ १.४-८)

सूत्र ४ : वर्ण चार होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ।

सूत्र ५ : वर्णों में महिमा अथवा प्रभुता इसी क्रम से घटती जाती है (जो वस्तुतः जन्म पर आश्रित होती है) ।

सूत्र ६ : (शूद्रों के अतिरिक्त) अन्य वर्णों के कर्त्तव्य ये तीन हैं—दीक्षा, वेदों का अध्ययन, अग्निचयन; इन (कर्त्तव्यों) से मनुष्य का परलोक बनता है ।

सूत्र ७ : शूद्र का कर्त्तव्य है वह शेष तीन वर्णों की आज्ञा का पालन करे ।

सूत्र ८ : शूद्र जितने ऊंचे वर्ण की सेवा करेगा, उतना ही अधिक फल उसे मिलेगा ।

गोभिल (१ ५ १-५, ८-९)

सूत्र १ : दर्श तथा पूर्णमास की वेला में निम्न कर्त्तव्य गृहस्थ को करने चाहिएं—

सूत्र २ : प्रतिपदा की संध्या में उपवास ; . . . . ।

सूत्र ३ : कई आचार्यों का मत है कि उपवास चन्द्रमा के दर्शन के कुछ बाद करना चाहिए ।

सूत्र ४ : इसके अतिरिक्त, जिस दिन चन्द्रमा न निकले उस दिन भी, इसी प्रकार उपवास का विधान है ।

सूत्र ५ : पक्ष के अन्त में उपवास का, और पक्ष के शुरू में यज्ञ का, विधान किया गया है ।

सूत्र ८ : कृष्ण पक्ष में भी, प्रतिपदा की तरह ही, उपवास विहित है ।

सूत्र ९ : चन्द्रमा की झलक ही इन कार्यों के लिए पर्याप्त समझी जानी चाहिए ।

मूल संस्कृत में कई शब्द नहीं है जिन्हें स्पष्ट करने के लिए अनुवाद में कुछ छूट से काम लिया गया है। आज भी परम्परा इन सूत्रों को याद कर लेने की है, अर्थ इनका बाद में गुरुदेव स्वयं, समय आने पर, समझा ही देंगे। पीछे चल कर इन सूत्रों की व्याख्या को भी लिपिबद्ध कर दिया गया—जिसके अभाव में हम आज शायद एक पग भी न चल सकें। सूत्र-शैली का उद्भव ब्राह्मणग्रंथों के साथ होता है जहां छोटे-छोटे वाक्यों में सब-कुछ कह दिया गया है। वाक्य सरल होने है मिश्रित नहीं, न घुमा-फिरा कर कुछ कहना ही उन्हें आता है; और, यदि वाक्यपूरक दो चार पद संदर्भ में न लायें जायं, तो शायद सब कुछ ही विरस हो जाए। ब्राह्मणों में आवृत्तियां भी हुई है, किन्तु उन आवृत्तियों के बावजूद बहुत-कुछ वहां अस्पष्ट रह गया है—जिसकी पूर्ति मौखिक परम्परा द्वारा ही हो सकती थी। छोटे-छोटे वाक्य लिखने में एक कठिनाई भी आती है, वह यह कि इसमें वाक्य प्रायः परस्पर-असंगत होने लग जाते है और कई बार तो अर्थ लुप्त ही हो जाता है।

वाक्यों को और भी संक्षिप्त करने के लिए हम ब्राह्मण ग्रन्थों मे समास का प्रयोग भी पहली-बार पाते हैं—जिसका दुरुपयोग शैली के रूप में, एक युग मे—भारत के लौकिक वाङ्मय युग में, बहुत अधिक हुआ। खैर; यह सूत्र शैली[२] ब्राह्मण ग्रंथों मे प्रवर्तित हो चुकी थी : इसका प्रमाण हमें (सूत्र-ग्रंथों मे) ब्राह्मण ग्रन्थो से उद्धृत छोटे-छोटे वाक्यों मे स्वयं मिल जाता है।

१ W. Garbe : *Geschichte der chinesischen Literatur*, Leipzig 1902 31

२ Lobbecke : *Uber das Verhältnis der Brāhmanas und Śrauta-sutren* Dss., 1908.

कल्पशास्त्र

सूत्रशैली का सर्वप्रथम रूप हमे ब्राह्मणो तथा आरण्यको मे सम्बद्ध यज्ञ याग आदि के प्रसगों मे मिलता है। ऐतरेय आरण्यक मे सचमुच कितने ही स्थल ऐसे है जिन्हे आश्वलायन, शौनक आदि सूत्रकारो की कृति माना गया है। इसी प्रकार सामवेद के कुछ ब्राह्मण विषय की दृष्टि से भी सूत्र अधिक है ब्राह्मण कम। ब्राह्मणो का मुख्य विषय कल्प-विधान है, सो, सर्वप्रथम सूत्र-ग्रथ सम्भवत (भारत मे) ये कल्पशास्त्र ही थे। पुरोहितो के सुभीते के लिए कर्मकाण्ड परक लघु-ग्रथो की आवश्यकता देर से चली आती थी जिसे इन 'पौरुषेय' कृतियो ने पूर्ण कर दिया। कल्प सूत्रो के दो भाग होते है—**श्रौत** सूत्र तथा **गृह्य** सूत्र—जिनके विषय, क्रमश, श्रौत एव गृह्य कर्म होते है।

श्रौत सूत्रो मे तीनो अग्नियो के चयन पर, **अग्निहोत्र** पर, दर्श तथा पूर्णमास की प्रक्रिया पर, आर्तव यज्ञो पर, पशुमेध पर तथा **सोमसत्र** के विभिन्न-रूपो मे विधि-आदेश सकलित है। भारतीय यज्ञ-प्रणाली को समझने के लिए इनका महत्त्व बहुत है। इसी प्रकार, विश्व के इतिहास मे भी यज्ञ का महत्त्व क्या है—इस समस्या पर भी इनसे पर्याप्त प्रकाश पडता है।[*]

गृह्य सूत्रो का विषय श्रौत सूत्रो की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है, और उसका हमारे लौकिक जीवन मे सम्बन्ध भी कही अधिक होता है। गृह्य सूत्रो मे भी भारतीय पारिवारिक जीवन का महत्त्व बहुत बढ-चढ कर आया है। इनमे गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त **सोलह संस्कारों** मे सम्पूर्ण जीवन को विभक्त कर दिया गया है—मानो, यह जीवन, आत्मा की लोकलोकान्तर (निरन्तर) यात्रा के अतिरिक्त कुछ न हो! नवजात के जन्म पर, नामकरण पर, अन्नप्राशन पर, चूडाकर्म पर, उपनयन पर, वेदारम्भ पर, दीक्षान्त पर—क्या-क्या रीतिरिवाज, उन दिनो, प्रचलित थे, इसका विस्तृत ब्योरा हमे इन गृह्य सूत्रों मे मिलता है। माता-पिता के **कर्त्तव्य** क्या हो, आचार्य का कर्त्तव्य क्या है, और पति-पत्नी का परस्पर-जीवन कैसे बीतना चाहिए—इन विषयो पर भी यहा निर्देश है, विशेषत, कन्यादान तथा विवाह पर एक विस्तृत अध्याय ही इनमे अर्पित है। अन्यथा, शतपथ ब्राह्मण (११ ५ ६) के सकेतो को लेकर गृह्य सूत्रो मे प्रत्येक गृहस्थ के लिए **पांच दैनिक महायज्ञ** आवश्यक उद्घोषित किए गए है। ये किस प्रकार महायज्ञ बने—इसका उल्लेख कही नही किया गया, क्योकि—इनमे छोटी-

छोटी बातों का ही उल्लेख अधिक मिलता है। इन दैनिक यज्ञों का सम्बन्ध देवों-असुरों और पितरों से माना जाता है; परन्तु विधान इनका बहुत सरल है—**अग्नि-समिन्धन, अन्न की आहुति, आचमन, अतिथि-सत्कार और स्वाध्याय**। स्वाध्याय को तो विशेषत ब्रह्मयज्ञ (अपिवा ऋषि-यज्ञ) कहने की प्रथा से स्पष्ट है कि वेद के अध्ययन को कितना पवित्र समझा जाता था। इन महायज्ञों के अतिरिक्त, गृह्य सूत्रों मे दर्श, पूर्णमास तथा अन्यान्य **वार्षिक उत्सव** भी संगृहीत है जिससे अनुमान होता है कि अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, तथा चातुर्मास्य आदि यज्ञों का उद्भव सभवत इन वार्षिक उत्सवों मे ही हुआ हो, साथ ही, **उन दिनों के सब रीति-रिवाज** गृह-निर्माण, पशुपालन, कृषि, रोग-निवारण, तथा शकुन-शान्ति आदि के लिए तथा अभिशापो से मुक्ति पाने के लिए भी कितने ही रहस्यमय उपाय इन सूत्रों मे बताए गए है। सस्कारो की समाप्ति **अन्त्येष्टि** के साथ होती है यद्यपि जीवनयात्रा अभी प्राणी की समाप्त नही हुई—देहान्त के पश्चात् आत्मा की सुख-शान्ति के लिए **श्राद्ध**-सस्कारो को 'श्राद्ध कल्प' नामक ग्रन्थ में पृथक् सकलित कर दिया गया है[४]।

इस प्रकार हम देखते है कि गृह्य सूत्रो का महत्त्व साहित्य की दृष्टि से भले ही नगण्य हो, समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए वे सचमुच अद्भुत निधि है। ऐतिहासिक जानते है कि यूरोपीय जातियों के पुराने रीति-रिवाजों को इतिहास में सगत बिठाने के लिए उन्हे किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, और भारत मे—इन छोटी-छोटी पुस्तको मे (जिनका महत्त्व हमे शुरू मे कुछ भी प्रतीत नही होता) प्राचीन भारतीयो का जीवन अपनी पूर्णता मे अकित है। ऐसा लगता है जैसे हम उस युग का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हों। ये गृह्य सूत्र तथा कल्प सूत्र प्राचीन भारत के **वैयक्तिक तथा सामाजिक लोक-जीवन का एक सच्चा चित्र** उपस्थित करते है, यद्यपि—सूत्रकारों की मुख्य दृष्टि धार्मिक ही थी। किन्तु भारत मे धर्म और जीवन मे एक विभाजक-रेखा कभी खीची ही नही जा सकी। लौकिक रीति-रिवाज—प्रात काल से सायकाल तक दैनिक जीवन का कोई भी अश—धर्म-बाह्य नही समझा जाता था। यही नही, इन रीति-रिवाजो से सम्पूर्ण इण्डो-यूरोपियन वश की जैसे एक 'दैनन्दिनी' आत्म-कथा-सी स्पष्ट हो आती है। ग्रीक, रोमन, टाइटन, तथा स्लाव जातियो मे प्रचलित वैवाहिक प्रथाओ के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा एकदम स्पष्ट हो जाता है कि **विभिन्न इण्डो-यूरोपियन जातियों में परस्पर-साम्य निरा भावागत ही नहीं था**[५]।

गृह्य सूत्रों के साथ सम्बद्ध सूत्र-श्रेणी के एक और वाङ्मय-अंश की उपेक्षा भी हम नही कर सकते। इस वाङ्मय को सज्ञा दी गई है—**धर्म-सूत्र** 'धर्म' का अर्थ

होता है—कर्त्तव्य भी और रीति-रिवाज भी। भारतीय धर्म में जीवन को—पार्थिव तथा अपार्थिव—दो पृथक् भागो मे कभी विभक्त नही किया गया। इन सूत्रो मे भारतीय जीवन की (वर्णाश्रम-धर्म की दृष्टि से) संगति बिठाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ब्राह्मणो ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रयोग अपनी स्वार्थ वृत्ति के लिए किया, सो—इनकी गणना कानूनी साहित्य मे की जाने लगी, यद्यपि—इनका मौलिक सम्बन्ध वैदिक सम्प्रदायो के विभिन्न श्रौत तथा गृह्य कल्पसूत्रों मे था।

अन्त मे हम शुल्व सूत्रो को लेते है जिनकी उपयोगिता, ज्यामिति की दृष्टि से अथवा वेदि-निर्माण की दृष्टि से कुछ हो तो हो, वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ नही है। 'शुल्व' का शब्दार्थ होता है—'मापने की रस्सी'। किन्तु—क्या इस रस्सी का उपयोग केवल यज्ञ के प्रकरण मे ही (इन सूत्रकारो को) इष्ट था ?

इसके अतिरिक्त, श्रौत तथा गृह्यसूत्र वेदार्थ-प्रतिपादन मे भी पर्याप्त सहायक है, क्योंकि—यज्ञ-आदि के लिए इनमे कुछ नियम ही निर्दिष्ट हों, ऐसी बात नही, ये मन्त्रों का उचित विनियोग भी निर्धारित करते है। वैदिक संहिताओ से यजुष् तथा ऋचाए लेकर उन्हे यज्ञ की सगति देना इनका मुख्य ध्येय प्रतीत होता है। कई बार तो, आपातत, इनका यज्ञ-प्रक्रिया से कोई सीधा सम्बन्ध ही प्रतीत नही होता—पाठक सचमुच दग रह जाता है कि मूल प्रार्थनाओ का क्या दुरुपयोग हो रहा है और, कही-कही तो, मूल पाठ को स्वार्थ-सिद्धि के लिए पुरोहित ने कितना दूषित कर दिया है—यह देखकर तबीयत ऊबने लगती है। किन्तु, साथ ही, जब वे वेद के कुछेक गूढ स्थलो को स्पष्ट करने लगते है तब, अलबत्ता, हमे इन्ही सूत्रकारो का कृतज्ञ होना पड़ता है। सूत्रो के बीच-बीच मन्त्र अथवा मन्त्राश उद्धृत मिलते है, किन्तु प्राय मन्त्रो के प्रारम्भिक दो-एक पदो का सकेत ही पर्याप्त समझ लिया गया है।

आश्चर्य तो यह है कि मूल मन्त्रो द्वारा ही कल्प सूत्रो का विविध वैदिक सम्प्रदायो के साथ सम्बन्ध निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ—कृष्ण यजुर्वेद के गृह्य एवं श्रौत सूत्रो मे मत्र उसी रूप मे प्रस्तुत है जिस रूप मे कि हम तत्सम्बद्ध यजुर्वेदीय संहिताओ मे उन्हे पाते है। यजुर्वेद के यजुषों का तो केवल सकेत ही इनमे निर्दिष्ट है (क्योकि पुरोहित को, तथा यजमान को, यजुर्वेद की अपनी-अपनी शाखा का परिज्ञान होना ही चाहिए) जबकि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मंत्रो को पूर्ण रूप मे ही उद्धृत किया गया है, कही-कही तो ऐसे मन्त्र भी हम इन सूत्र-ग्रन्थो मे पातेहै जो हमे उपलब्ध किसी भी संहिता मे नही मिलते। दो गृह्य सूत्रों—गोभिल, से सम्बद्ध 'मन्त्र ब्राह्मण' तथा आपस्तम्ब से सम्बद्ध 'मन्त्र पाठ'—मे तो मूल संहिता

मे आने वाले मन्त्रो को, पृथक्, एक परिशिष्ट के रूप मे, सम्पादित भी कर दिया गया है जो कि उनके नाम से ही स्पष्ट है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **बौधायन** तथा **आपस्तम्ब** सम्प्रदायों मे ही हमे श्रौत, गृह्य, धर्म, तथा शुल्व (चारो प्रकार के) सूत्र-ग्रथ एक साथ मिलते है, और उनकी आतरिक सगति से भी स्पष्ट है कि ये चारो ग्रथ, मूल मे, जैसे किसी एक-ही महान् ग्रथ के परम्परित भाग-विभाग हो। बौधायन तथा आपस्तम्ब इस सूत्रमाला के, सभव है, लेखक हो। ऐसा न भी हो, तब भी—कम-से-कम यजुर्वेद की (इन दो शाखाओ के सूत्र-वाङमय मे) परस्पर-सगति अप्रत्याख्येय है।

आपस्तम्ब सूत्र-वाङमय से निकट-सम्बद्ध **भारद्वाज** तथा (**सत्याषाढ़**) **हिरण्यकेशी** शाखाओ के सूत्रग्रथ है। भारद्वाजो के श्रौत सूत्र अभी हस्तलिखित रूप मे ही मिलते है, जबकि उनके गृह्य सूत्र प्रकाशित हो चुके है, हिरण्यकेशियो के श्रौत तथा गृह्य (दोनो) सूत्र-ग्रथ प्रकाशित हो चुके है, यद्यपि आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी धर्म-सूत्रो मे परस्पर-भेद बहुत नही है।

इन सूत्रो के साथ हम प्राय अज्ञात **वाधूलो** तथा **वैखानसो** को भी ले सकते है जिनका **तैत्तिरीय** सहिता के साथ अति-निकट सम्बन्ध है। सूत्र-वाङमय मे कालदृष्टि से बौधायन सबसे पहले आता है और भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी क्रमश उसके बाद। **मानव** शाखा के श्रौत-गृह्य सूत्रो का, तथा **काठक** गृह्यसूत्र का, सम्बन्ध मैत्रायणी सहिता से है।

क्या सभी वैदिक सहिताओ अथवा सहिता-शाखाओ के पृथक्-पृथक् चतुर्विध कल्पसूत्र थे (जैसे कि बौधायन तथा आपस्तम्ब के हमे मिलते भी है)—इस विषय मे निश्चय से कुछ नही कहा जा सकता। कृष्ण यजुर्वेद के अतिरिक्त अन्य सहिताओ मे किसी का गृह्य सूत्र उपलब्ध है, तो किसी का श्रौत सूत्र। ऋग्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद के साथ कुछ एक धर्मसूत्र जोड दिये गये है, परन्तु वस्तुत उनका सम्बन्ध इन सहिताओ से था भी या नही—एक समस्या ही है। शुक्ल सहिता से सम्बद्ध **कात्यायन** श्रौत सूत्र, **पारस्कर** गृह्य सूत्र, **कात्यायन** शुल्व सूत्र है, तो **आश्वलायन** श्रौत सूत्र, **आश्वलायन** गृह्यसूत्र तथा **शांखायन** गृह्य एव श्रौत सूत्र ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसी प्रकार, सामवेद के **लाट्यायन** तथा **द्राह्यायन** श्रौत सूत्र **जैमिनीय** श्रौत एव गृह्य सूत्र, तथा **गोभिल** और **खादिर** गृह्यसूत्रो मे भी बडा निकट परस्पर-सम्बन्ध है। सामवेद वाङमय मे **आर्षेय कल्प** (अथवा **मशक** कल्प सूत्र) की उपेक्षा भी नही की जा सकती, क्योकि—इसमे सोम-सत्रो के प्रसग मे गेय विभिन्न गीतो, लयो की शिक्षा विहित है। इस सूत्र का सम्बन्ध पचविंश ब्राह्मण से किया जाता है, और इसकी रचना निस्सन्देह लाट्यायन सूत्र से पूर्व हो चुकी थी।

और, अन्त मे, अथर्ववेद वाङमय मे एक बडे अर्वाचीन श्रौतसूत्र **वैतान** का उल्लेख, तथा प्राचीन **कौशिक** सूत्र का उल्लेख, अप्रासगिक न होगा। कौशिक सूत्र को हम अशत ही एक गृह्यसूत्र कह सकते है, क्योकि, गृह्य विधियों के अतिरिक्त, अथर्ववेदीय अभिचार मत्रों में आई जादूगीरी (अथवा ऐन्द्रजालिक विधि) का बडा ही सूक्ष्म विवेचन (बडे-पैमाने पर) इसमे मिलता है। इस प्रकार अथर्ववेदीय 'मन्त्र विद्या' को स्पष्ट करने के लिए कौशिक सूत्र का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी प्रकार का एक मत्र-विद्यात्मक सूत्र-ग्रथ सामवेद से सम्पृक्त भी मिलता है जिसका नाम **सामविधान-ब्राह्मण** यद्यपि कुछ भ्रामक प्रतीत होता है।

इन मुख्य सूत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त, कुछ उपसूत्र—श्राद्धकल्प तथा पितृकल्प सूत्र के नाम से मिलते हैं जिनमे कुछ का सम्बन्ध तो वैदिक महिताओ से किया जाता है जबकि अधिकाश उनमे वस्तुत अर्वाचीन है। यह सूत्र-वाङमय परम्परा किसी विशेष युग मे समाप्त हो गई प्रतीत नही होती; उपनिषदो की भाति प्राय आज तक सूत्र-वाङमय पल्लवित हो(ता) रहा है। श्रौत और गृह्यसूत्रो के कुछ अस्पष्ट अथवा अर्ध-स्पष्ट प्रसगो पर प्रकाश डालने के लिए कुछ **परिशिष्ट** भी लिखे गए जिनमे गोभिल गृह्य सूत्र से सम्बन्ध **गोभिलपुत्र-कृत गृह्य-संग्रह परिशिष्ट** मिलता है और एक **धर्मप्रदीप** भी। धर्म के इतिहास मे अथर्ववेद के एक परिशिष्ट का महत्त्व अभिचार-विधि, शकुन-विधि, एव स्वस्ति-विधि की दृष्टि मे बहुत अधिक है। वैतान सूत्र के अविभाज्य अग के रूप मे एक बडा प्राचीन '**प्रायश्चित्त सूत्र**' भी उपलब्ध हुआ है। उत्तर सूत्र-वाङमय मे कुछेक **प्रयोग**, **पद्धति** तथा **कारिका** नामक ग्रथो का उल्लेख किया जा सकता है। ये प्राय वैदिक सहिताओ से सम्बद्ध पूर्ण सस्कारविधिया-ही है, या फिर—इनका विषय कुछेक विशेष सस्कार ही है जिनमे विशेष महत्त्व विवाह, समाधि-चयन तथा श्राद्धपरक निबधो का है।

३ Hubert und manss *Essai sur la nature et la fonction du sacrifice* (Annè : Sociologiqe, Paris, 1897-98, 29-138)

४ Caland: *Über Totenverehrung bei einigen der indo-germanischen Volker*, 1188, *Altindischen Ahnenkult*, 1893; *Die altindischen Tolden-und Bestattungsgebrauche*, 1896; Winternitz : *Notes on Śraddhas*, WLKM, 41, 1890, 189ff

५ Haas und Weber (*Die Heiratsgebrauche der allen Inder, nach den Esten und einiger finnisch-ugrischer Volkerschaften im Vargleichung mit denen der indogermanischen Volker* 1888, Leist (*Altarischen Jus gentium*, 1889); Winternitz (International Folk Congress, 1891, '*Papers and Transactions*, 1892', 267-91); Schroeder : *Reallexikon der indogermanischen Altertumskunde*, 1901, 353ff), Th. Zachariae. *Zum altindischen Hockzeitsritual*, WZKM, XVII. 135ff. 211 ff.

वेदार्थ में सहायक वेदांग ग्रंथ

शिक्षा-ग्रंथ भी काल दृष्टि से प्रायः कल्पसूत्रों के समकालीन ही ठहरते हैं : कल्पसूत्रों का सम्बन्ध वेदों के ब्राह्मण भाग से था, तो शिक्षा-सूत्रों का सीधा सम्बन्ध वेद की संहिताओं से होता है। शिक्षा का अर्थ होता है—'वैदिक मंत्रों (शब्दों) के सही उच्चारण सिखाने वाला लघु ग्रंथ'। शिक्षा का वेदांग रूप में परिगणन सबसे पहले सम्भवतः **तैत्तिरीय उपनिषद्** १ २ में हुआ है जहां अक्षर-विज्ञान स्वर-विज्ञान, मात्रा-विज्ञान, लय-विज्ञान, सन्धि-विज्ञान, तथा निवृत्ति-विज्ञान, को शिक्षा के छः अध्याय बताया गया है। शिक्षा की युक्ति भी, धर्मसूत्रों की भांति, धार्मिक कृत्यों से प्रसूत हुई थी, क्योंकि—किसी भी धार्मिक कृत्य के निष्पादन के लिए उस कृत्य के विधि-विधान का ज्ञान तो आवश्यक होता ही था, साथ ही उसमें आये मंत्रों आदि के, (प्राचीन परम्परा के अनुसार) यथावत् उच्चारण आदि की भी उपेक्षा न की जा सकती थी। इससे स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि शिक्षा-ग्रंथों का जब निर्माण हुआ, संहिताओं के प्रति भारतीय जन-साधारण की आस्था बद्ध मूल हो चुकी थी। उदाहरणतया—ऋग्वेद संहिता के सम्बन्ध में तो यह सप्रमाण सिद्ध किया ही जा सकता है कि लिखित मंत्रों में प्राचीन परम्परा सुरक्षित नहीं है, क्योंकि—सम्पादकों ने संकलन करते-करते वैदिक शब्दों में यद्यपि बहुत हेर-फेर नहीं किया, तथापि शिक्षा के सिद्धान्तों के अनुसार सन्धि-नियमों का पालन करते हुए उन्होंने मूल शब्दों के आदि और अन्त में प्रायः कुछ परिवर्तन कर ही दिये थे। मूल रूप '**त्वं हि अग्ने**' का जो रूप संहिताओं में '**त्व ह्यग्ने**' मिलता है, वह (परिवर्तन) निश्चय ही शिक्षाकारों ने किया होगा। संहितापाठ के अतिरिक्त प्रत्येक मंत्र का पदपाठ भी इन ग्रंथों में मिलता है जिसमें मन्त्र के अंगभूत पदों को पृथक्—अर्थात् सन्धि और स्वर की दृष्टि से स्वतन्त्र-अंकित करने की प्रथा है —

अग्नि पूर्वेभिर् ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥

का पाठ इस प्रकार होगा —

अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत ।
सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥

यह पदपाठ बिना शिक्षा एवं व्याकरण के ज्ञान के असम्भव है। ऋग्वेदीय

पद-पाठ-विश्लेषण ऐतरेय आरण्यक मे अभिपूजित आचार्य **शाकल्य** के नाम से प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार **संहिता** पाठ अथवा **पद** पाठ शिक्षा-विधान के पुराण फल है। इन शिक्षा-सम्प्रदायों का जो-कुछ रूप वेदाग-वाङ्मय के रूप मे हमे मिलता है, उसे **प्रतिशाख्य** की सामान्य संज्ञा दी जाती है। प्रतिशाख्यो में सहितापाठ तथा पदपाठ के परस्पर-परिवर्तन के नियम निर्दिष्ट है अर्थात्–प्रतिशाख्यों का विषय भी—शिक्षा-ग्रन्थो की भाति—उच्चारण, स्वर, सन्धि आदि का परिज्ञान कराना ही है। कही-कही वेदो मे, अ-कारण, स्वर को दीर्घ रूप मे उच्चारण करना होता है ऐसे नियमो को भी यहा एकत्रित कर दिया गया है। प्रत्येक सहिता की अपनी-अपनी पृथक् शाखा होती है, अपना-अपना पृथक् प्रतिशाख्य होता है। **ऋग्वेद** प्राति-शाख्य को आश्वलायन के गुरु **शौनक** की कृति माना जाता है। प्राचीन सूत्रों मे इसे एक सूत्र कहा गया है, सो—सम्भव है शौनक का यह ग्रथ वास्तव मे किसी प्राचीन सूत्र का एक नवीन-सस्करण मात्र ही हो। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध **तैत्तिरीय** प्रातिशाख्यसूत्र भी मिलता है, तथा **वाजसनेयि संहिता तथा अथर्ववेद संहिता** के पृथक्-पृथक् **प्रातिशाख्य सूत्र** भी मिलते है जिनमे **वाजसनेयिसूत्र** को कात्यायन कृत्य माना जाता है। एक **सामप्रातिशाख्य**, तथा सामवेद के उत्तर-गान के सम्बन्ध मे एक **पुष्पसूत्र** भी उपलब्ध हुआ है, जब कि यज्ञ मे 'सामगान' के विषय पर एक अलग **'पंच-विध-सूत्र'** भी प्राप्त हुआ है ।

इन प्रातिशाख्यों का महत्त्व दो दृष्टियों से है : एक तो—भारत मे **व्याकरण** का वैज्ञानिक अध्ययन इन प्रातिशाख्यो के साथ ही शुरू होता है यद्यपि यह सच है कि इन्हे व्याकरण-ग्रंथ नही कहा जा सकता; किन्तु जिन विषयो का विवेचन इनमे होता है वे प्रायः **व्याकरण** के विषय भी है—और स्वयं व्याकरण के कर्त्ता मनीषियो ने भी प्रातिशाख्यकारो का नाम-मे-उल्लेख अपने ग्रन्थो में किया है; दूसरे—इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी कुछ कम नही कि हम आज दृढ विश्वास के साथ यह कह सकते है कि **वैदिक संहिताओं का मूल स्वरूप** यदि आज तक यथावत् सुरक्षित है, तो इन प्रातिशाख्यो के कारण ही। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की साक्षी है कि न केवल ऋग्वेद का मण्डलो मे विभाजन ही उन दिनो तक हो चुका था, अपितु सूक्तो का क्रम भी अक्षरशः, उस प्राचीन युग मे, वही था जिस रूप मे हमारी आज की छपी पुस्तको मे वह मिलता है ! यह सब शौनक महर्षि के निर्धारित नियमो की कृपा से ही सभव हो सका था ।

ये प्रातिशाख्य वस्तुतः **शिक्षा** वेदाग के प्राचीनतम अवशेष है, यद्यपि—स्वयं शिक्षा के नाम से प्रचलित लघु-ग्रथ जो **भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य** के नाम

से प्रचलित आज मिलते है, बहुत पीछे लिखे गए प्रतीत होते है। उनकी रचना प्रायः प्रातिशाख्यो के अनुकरण पर, पद्य मे, उसी प्रकार हुई है जैसे प्राचीन वैदिक धर्म-सूत्रो के आधार पर मनुस्मृति आदि की रचना। इन मे **व्यास-शिक्षा** का सम्बन्ध **तैत्तिरीय** प्रातिशाख्य से किया जाता है और, यद्यपि शेष शिक्षा-ग्रंथों का सम्बन्ध भी उसी प्रकार किसी न किसी प्रातिशाख्य के साथ करने की प्रथा है, तथापि—प्राचीनता की दृष्टि से उनका वह महत्त्व नही जो व्यास-कृत शिक्षा का है।

शौनक तथा कात्यायन ही दो प्रमुख प्रातिशाख्यकार हैं। जिनके नाम से वैदिक सहिताओ पर कुछ अन्य वेदाग सरीखे **उपांग** भी प्रसिद्ध हैं। इन उपागो का पारिभाषिक नाम **अनुक्रमणी** होता है—जिनमे वैदिक सहिताओ के सूक्तो और मन्त्रो की सख्या, क्रम आदि का निर्देश किया जाता है और साथ ही देवता, ऋषि, छन्द आदि का भी। **शौनक** की **अनुक्रमणी** ऋग्वेद-परक है जबकि **कात्यायन** की **सर्वानुक्रमणी** मे ऋग्वेद मे सम्बद्ध प्राय सभी सूक्ष्म विषयो को, मत्रो के प्रथम शब्द ही अकित करते हुए, एकत्र उपस्थित कर दिया गया है। शौनक के नाम से दो पद्यबद्ध ग्रथ **बृहद्देवता** तथा **ऋग्विधान** भी प्रसिद्ध है जिनकी रचना —स्वय शौनक ने नही, अपितु—शौनक-सम्प्रदाय के किसी उत्तरकालीन शिष्य ने की प्रतीत होती है। बृहद्देवता का ध्येय है—ऋग्वेद मे आये एक-ही देवता परक सूक्तो को एक-ही स्थान पर सूचित कर देना। साथ ही इसमे इन देवी-देवताओ के सम्बन्ध मे लोक-विश्रुत उपाख्यानो को भी सगृहीत कर दिया गया है। इसलिए **बृहद्देवता का महत्त्व भारतीय आख्यायन-साहित्य की दृष्टि से भी कुछ कम नहीं है।** बृहद्देवता मे प्रयुक्त 'श्लोक' एव 'त्रिष्टुभ्' वेदो और महाकाव्यो के छन्दो मे बीच की कडी है। बृहद्देवता मे आये उपाख्यान कई बार महाभारत मे एक नये सस्करण मे प्रस्तुत हुए है। **ऋग्विधान** भी एक सूचि-परक ग्रथ है जिसमे ऋग्वेद सहिता के क्रम एव मन्त्र-बल पर बल अधिक है, अर्थात्—इसकी रचना उपरि-उल्लिखित **साम-विधान ब्राह्मण** के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है।

<u>इन अनुक्रमणियो का महत्त्व कम-से-कम इतना तो है ही कि हमे इन्ही के कारण यह सान्त्वना मिलती है कि भारतीय वैदिक वाङ्मय, विशेषतः सहिता वाङ्मय, आज भी अपने उसी प्राचीन रूप मे—मत्रो के क्रम-सख्या-स्वर एव विनियोग आदि (सभी) दृष्टियों मे अपने मूल रूप मे—विद्यमान है!</u>

यास्क के **निरुक्त** के विषय मे भी यही कुछ कहा जा सकता है। यह भी अपनी श्रेणी के वेदाग का एकमात्र अवशेष रह गया है, जिसकी साक्षी भी ऋग्वेद की सम्पादकीय प्रामाणिकता का एक और पोषक प्रमाण दे सकती है। वैदिक परम्परा

में गलती से निघण्टुओ को भी यास्क-कृत मान लिया गया है, जबकि सच्चाई यह है कि इन **निघण्टुओं** में आये पदो का सकलन तथा क्रम-बन्धन प्राचीन ऋषियों के वशजो अथवा मुनियों ने वेदार्थ-बोध की सहायता के लिए किया था। और इन्ही परम्परागत सूची-ग्रथो पर यास्क ने अपना यह निर्वचनात्मक ग्रथ लिखा। निघण्टु मे पदो को तीन अध्यायो में विभक्त किया गया है—पहले अध्याय मे जिसे **नैघण्टुक काण्ड** कहा जाता है, तीन उपविभाग है (जिनमे 'पृथ्वी' अर्थ वाले २१, 'स्वर्ण' अर्थ वाले १५, 'वायु' अर्थ वाले १६, 'जल' अर्थ वाले १०१, √कृ धातु-अर्थक १२२ पदो का, तथा 'शीघ्र' अर्थ वाले २६ विशेषणो एव क्रिया-विशेषणो का सग्रह एकत्र उपस्थित है, **नैगम काण्ड** अपिवा **ऐकपदिक** नामक द्वितीय अध्याय मे कुछ अस्पष्ट एव दुर्बोध शब्दो का सग्रह है, तो **दैवत काण्ड** (नामक अन्तिम अध्याय) मे पृथ्वी पर, अन्तरिक्ष मे, और आकाश मे रहने वाले देवी-देवताओ का यथा-स्थान विवेचन हुआ है। वैदिक निरुक्त-शास्त्र का आरम्भ सम्भवत इसी प्रकार की सूचियो के सम्पादन के साथ हुआ था, पुन., इन शब्दो पर निरुक्त की शैली मे विश्लेषण-विवेचन वैदिक ऋचाओ के उद्धरणो के साथ प्रस्तुत करना वेद-व्याख्यान मे एक नया पग था जिसका अनुसरण एक स्वतन्त्र वाङ्मय के रूप मे सायण आदि ने आगे चल कर किया भी। कुछ हो, इसमे सन्देह की गुजाइश नही रह जाती कि यास्क से पूर्व भी कितने ही निरुक्त-कार हो चुके थे, यद्यपि स्वात्मनि परिपूर्णता के कारण आज यास्क का ग्रथ ही बच रहा है।

छन्द तथा **ज्योतिष**परक वेदागो की रचना वेदाग युग का सम्भवत अर्वाचीनतम अग है। सामवेद के साथ सम्बद्ध वेदाग-सूत्र मे छन्दो की विवेचना के अतिरिक्त उक्थ, स्तोम तथा गान का वैज्ञानिक विश्लेषण भी मिलता है। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका पर्याप्त महत्त्व है, यद्यपि—भारतीय प्रथा मे इसे भी पतजलि-कृत मान लिया गया है। वही भारतीय परम्परा पुन **पिंगल के छन्द-सूत्र** को ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से सम्बन्धित करती है। पिगल-सूत्र के जो दो रूपान्तर हमे मिलते है, भाषा और शैली की दृष्टि से स्पष्ट ही किसी परतर युग की रचना है, क्योकि—इनमे लौकिक-सस्कृत छन्दो का ही अध्ययन हुआ है। एक छोटा-सा पद्यमय लघु-ग्रथ **ज्योतिष-वेदांग** के नाम से भी मिलता है जिसके यजुर्वेदीय सस्करण मे ४३ पद्य है तो ऋग्वेदीय मे ३६। ज्योतिष-वेदाग का मुख्य विषय उत्तरायण तथा दक्षिणायन के समय सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति, विविध राशियो के प्रसंग मे २७ नक्षत्रो के अपने-अपने मण्डल, और उन वृत्तो मे पुन प्रतिपदा तथा पूर्णिमा की अवस्थिति, अथवा एतद्-विषयक गणना के सम्बन्ध मे कुछ-और निर्देश भी है। इस ग्रथ की रचना पद्य मे ही हुई, इसका अर्थ भी स्पष्ट है कि यह किसी परतर युग

की रचना है और, हां—इसकी कोई परिपूर्ण व्याख्या भी सही-अर्थो में आज तक नही हो सकी ।

व्याकरण परक प्राचीन वेदांग ग्रंथ सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। प्रारम्भ में व्याकरण-विज्ञान की रचना भी, वैदिक परिषदों के अनुसार वेदार्थ को सुगम करने के लिए हुई होगी, क्योकि—आरण्यक ग्रथो मे भी व्याकरण-शास्त्र की थोडी-बहुत परिभाषाए जहा-तहा बिखरी मिलती है । व्याकरण-शास्त्र के प्राचीन-तम ग्रथ पाणिनीय अष्टाध्यायी मे वैदिक प्रकरण को बहुत ही कम छुआ गया है; पाणिनि का सम्बन्ध न किसी वैदिक सहिता से है, न किसी सम्प्रदाय से है । इसकी रचना भी किसी ऐसे युग मे हुई थी जबकि व्याकरण-शास्त्र की धार्मिक सम्प्रदायो से सर्वथा पृथक्, कुछ स्वतत्र, परम्पराए, निर्धारित हो चुकी थी । और भारत में अध्ययन-अध्यापन की यह एक 'राष्ट्रिय' विशेषता ही रही है कि एक 'विज्ञान' का (या उस विज्ञान के एक अश का) सूक्ष्म विवेचन शुरू-शुरू मे एक धार्मिक-अध्ययन का अंग बन कर हुआ तो, आगे चल कर, उसका विकास प्राय एक स्वतत्र दिशा ही पकड़ गया !

वेदों का काल-निर्णय

वेदो से आरम्भ करके वेदागो तक—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का परिचय हो लिया। अब इसके काल-सम्बन्धी प्रश्न को और स्थगित नही किया जा सकता। इस सम्बन्ध मे हम पहले ही बता दे कि यदि किसी प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्राचीन सूक्तो को ही हम कुछ निश्चित शतियो के अन्दर भी निर्धारित कर सकते तो वेद के काल के सम्बन्ध मे एक अलग अध्याय लिखने की आवश्यकता ही न रह जाती? किन्तु खेद इस बात का है कि बडे-से-बडे वैदिक-विद्वानो मे इस विषय पर (शतियो नही सहस्राब्दियों-तक का वैमत्य है। कुछ के अनुसार ऋग्वेद के सूक्तो का निर्माण एक हजार ई० पू० मे हुआ तो दूसरे उन्ही सूक्तो को ३०००-२००० ई० पू० मे निर्मित मानते है। जब प्रसिद्ध विद्वानों की यह अवस्था हो, तो साधारण-पाठक के लिये कुछ अनिश्चित-सी तिथिया प्रस्तुत कर देने से वेद की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता के विषय मे, बिना ऐसे मतो की समर्थक युक्तिया उपस्थित किये, बात कुछ बनती नही। किन्तु वेद भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम कृति है, इण्डो-आर्यन सभ्यता का मूल आधार एव स्रोत है; सो, प्रस्तुत प्रश्न का किंचित् समाधान ऐतिहासिको, पुरातत्वविदो, अपिच भाषाविदो के लिए भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। और सचमुच, यदि इण्डो-आर्यन तथा इण्डो-यूरोपियन सस्कृतियो के ऐतिहासिक युगो का कुछ निश्चित क्रम बिठाया जा सकता है, तो वह भी भारतवर्ष मे निष्पन्न आर्य-सस्कृति के प्राचीनतम अवशेषो के विभिन्न कालो को यथाक्रम स्थिर करके ही (सिद्ध किया जा सकता है), अन्यथा नही।

—इन परिस्थितियो मे, विशेषत अ-विशेषज्ञ साधारण-जन के सम्मुख, लेखक अपनी अज्ञता एव सीमा प्रारम्भ मे ही प्रकट कर दे, यह भी आवश्यक प्रतीत होता है।

आरम्भ मे जब भारतीय वाङ्मय से पाश्चात्य विद्वानो का कुछ-कुछ परिचय हुआ था, तो उनकी प्रथम प्रतिक्रिया प्राचीन 'आर्य वाङ्मय' को बाबा-आदम के युग से यथावत् सुरक्षित, परम्परित ग्रहण करने की थी। श्लीगल ने क्या, सचमुच, यह आशा प्रकट नही की थी कि इस वाङ्मय के प्रकाश मे आने से प्राचीन विश्व के अन्धकारमय इतिहास मे कुछ स्पष्टता आने लगेगी? वेबर ने भी अपने इतिहास के प्रथम सस्करण (१८५२ मे) प्रकट किया था कि भारतीय वाङ्मय ही विश्व वाङ्मय का प्राचीनतम रूप है (यद्यपि १८७६ मे अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण मे उसने यह माना था कि मिश्र के प्राचीन अभिलेख तथा अमीरियन

साहित्य के अवशेष, जो हाल ही मे प्रकाश में आये है, *शायद हमारी वेद-सम्बन्धी* प्राचीन स्थापनाओं को सदिग्ध कर दे)। **वेबर** के इस निर्णय का आधार मुख्यतया भूगोल तथा धर्म के इतिहास की युक्ति थी। ऋग्वेद के प्राचीन अशो में हम भारतीयो को पंजाब के आसपास बस गया पाते है। बहुत धीरे-धीरे उन्होने उत्तर-भारत मे गंगा की ओर प्रगति की—इसके प्रमाण हमे परतर वैदिक साहित्य मे मिलते है। महाभारत तथा रामायण के वीरगाथा युग मे ब्राह्मण-धर्म के इस विकास की दिशा दक्षिणाभिमुख हो चुकी है। यह विकास प्राचीन आदिवासियो को कुचले बिना असभव था। इसके लिए सदिया चाहिये। यही नही, ऋग्वेद की प्रकृति-पूजा को उपनिषदो की दार्शनिकता मे परिणत होने के लिये भी कितनी ही शतियां अपेक्षित है; और तीन सौ ईसवी तक पहुचते-पहुचते—मेगास्थनीज ने किस धार्मिक पतन का प्रत्यक्ष आर्यो के अन्धविश्वासो मे तथा मूर्तिपूजा आदि मे किया था? ऐसी स्थिति मे वेबर वैदिक काल-निर्णय को अनिवार्य उद्‌घोषित न करता, तो उसके पास और चारा भी क्या था? सचमुच उसने एक बार स्वीकार भी किया था कि इस दिशा मे सब प्रयत्न व्यर्थ है[1]।—

प्राचीन भारतीय वाङमय की कुछ निश्चित अनुक्रमणी प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न शायद, १८५९ मे, **मैक्समूलर** ने किया था। मैक्समूलर के 'सस्कृत साहित्य के इतिहास' मे केन्द्रीय तिथि-बिन्दु—सिकन्दर का भारत मे आक्रमण तथा भारत मे बौद्धधर्म का उदय है। संक्षेप मे मैक्समूलर की युक्ति यह है कि बौद्धधर्म का जन्म ब्राह्मण-धर्म के यज्ञयागीय आडम्बर की प्रतिक्रिया मे हुआ था। इसलिए यह असदिग्ध ही है कि सहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ तथा उपनिषद्-ग्रन्थ—अर्थात् (सम्पूर्ण) वैदिक वाङमय के सभी अश—तब तक अपने विनिश्चित रूप मे आ चुके थे। अर्थात् वैदिक वाङमय की शृखला को ५०० ई० पू० तक यदि सुनिश्चित मान लिया जाय तो वेदाग अथवा सूत्र वाङमय को प्राय बौद्धधर्म के आदि युग मे ही निष्पन्न हुआ समझना चाहिये। इन 'सूत्रो' की रचना शेष ब्राह्मण-साहित्य के आधार पर ही प्रवृत्त होती है—जिसका काल मैक्समूलर की कल्पना मे ६००-२०० ई० पू० मे मान लिया गया है। (यही कल्पना, किसी निश्चित-आधार पर टिकी न होने के कारण, मैक्समूलर की युक्ति को बहुत दुर्बल कर देती है।) ब्राह्मणग्रन्थो मे भी प्राचीन तथा अर्वाचीन अश मिलते है; इन ग्रन्थो मे स्वय प्राचीन वशावलिया परिगणित है जिनके विकास के लिए—२०० वर्ष की अवधि कुछ उपयुक्त नही जचती। इन ब्राह्मणो का काल मैक्समूलर की स्थापना के अनुसार ८००-६०० ई० पू० निश्चित होता है। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ स्वय किसी आधार पर खड़े हुए थे, और यह आधार उनका-वेद-चतुष्पदी थी। चारों संहिताओ की रचना को, अपिवा उनके सम्पादन-सकलन को, दो-सौ साल और देकर

मैक्समूलर १००० ईसवी पू० तक जा पहुंचता है। किन्तु संहिताओं के ग्रथित होने से पूर्व—अर्थात् वेदों के कर्मकाण्ड का अविभाज्य अंग बनने से पूर्व—वैदिक कविता के स्वतन्त्र-विकास के लिए भी तो एक युग चाहिये। सो, इस काव्य-युग के लिए भी मैक्समूलर बडी उदारता के साथ २०० वर्ष और जोड कर, १२०० ई० पू० से वैदिक वाङ्मय का उदय शुरू कर देता है।

इस सिद्धान्त (की आलोचना) के सम्बन्ध मे हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि दो-दो सौ वर्ष की यह अवधि केवल कल्पना पर ही आधारित प्रतीत होती है। (**स्वयं मैक्समूलर ने भी यही-कुछ लिखा है कि कम-से-कम इतना अन्तर तो हमें वैदिक साहित्य के दो युगों में मान ही लेना चाहिये।**) इसीलिए १८८९ मे गिफर्ड लैक्चर्स के दौरान मे उसने स्पष्ट कहा भी था कि "एक हजार ईसवी पूर्व तक वेद बन चुके थे, १५०० या २०००, या ३००० ई०पू०—कब प्रथम वैदिक कविता सुनी गई—इसे जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं"। और सचमुच—विज्ञान के क्षेत्र में कोई कल्पना कितनी दूर तक बद्धमूल हो सकती है—इसका एक अद्भुत प्रमाण मैक्समूलर के बाद आने वाले गवेषकों द्वारा इस स्थापना को बिना किसी नई युक्ति के आंख मूंद कर मान लेना है। ह्विट्नी ने[1] मैक्समूलर की इस अन्ध-परम्परा की एक बार स्पष्ट शब्दों मे निन्दा भी की थी; श्रेडर[2] आदि विद्वानों ने डरते-डरते ही १५०० या २००० ई० पू० तक वैदिक वाङ्मय को पहुचाने का परामर्श दिया था, और तभी—**याकोबी** ने जब एकाएक ज्योतिष-विज्ञान की गणना के आधार पर वेदों को चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में स्थापित करने की एक नई युक्ति दी, तब पाश्चात्य जगत् मे उसका कितना विरोध हुआ था—जैसे याकोबी की वह 'युक्ति' एक महान् अतिशयोक्ति ही हो ? —याकोबी के विरोधी कितनी सुगमता के साथ यह भूल ही गये थे कि जिस सिद्धान्त को (मैक्समूलर के) वे आज तक मानते आये थे उसका आधार भी कितना अस्थिर था !

नक्षत्र-गणना के आधार पर वैदिक-युग की कालगणना करना कोई बहुत नया विचार नहीं है। **लुड्विग** ने सूर्य ग्रहण[3] के आधार पर एक ऐसा प्रयत्न इससे पूर्व किया भी था। बात यह है कि भारतवर्ष मे भी, रोम के पादरियों की तरह, पुरोहितों का कर्त्तव्य होता था कि वे यज्ञ-सम्बन्धी घडियों को गिन कर पंचांग तय्यार कर दें। सम्पूर्ण ग्रहमण्डल की परिस्थिति का परिज्ञान यज्ञ-पूर्ति के लिए आवश्यक होता था। ब्राह्मणों तथा सूत्रों मे पंचाग-संबन्धी असंख्य निर्देश इस सम्बन्ध में मिलते भी है—जिनमें तारा-ग्रहों ('नक्षत्रों') का महत्त्व अ-प्रत्याख्येय होता है। प्राचीन भारतीय गणनाविदों को यह ज्ञात था कि चन्द्रमा को एक मण्डल से दूसरी मण्डल मे संक्रमण के लिए २७ दिन और २७ रात की अवधि अपेक्षित होती है। माण्डलिक मास की हर रात चन्द्रमा की स्थिति विभिन्न नक्षत्र मे (मण्डल में)

होती है। चन्द्रमा के वृत्त से कुछ ही दूरी पर 'माण्डलिक' इन २७ नक्षत्रों के अपने-अपने क्षेत्र होते हैं, अपनी-अपनी राशि होती है—जिसके आधार पर किसी भी विशिष्ट क्षण मे चन्द्रमा की आपेक्षिक स्थिति बड़ी सुगमता से जानी जा सकती है[1]। किस नक्षत्र के योग मे अमुक यज्ञ किया जाय—इसका विधान प्राचीन विधि-पुस्तकों में (भारत मे) प्रायः निर्दिष्ट मिलता है। कही-कही तो इस 'योग' का अर्थ होता है—दर्श तथा पूर्णमास के अवसर पर उन-उन नक्षत्रो की राशिगत स्थिति। पुराने वैदिक साहित्य मे एक और आधार नक्षत्र-गणना के विषय मे—वर्ष के बारह मास—भी कही-कही प्रचलित था, जिसके लिए २७ के स्थान पर पहले कभी केवल १२ नक्षत्रो का चन्द्र-योग ही अकित मिलता है। वर्ष का विभाजन चान्द्र मासो पर आश्रित हो कर पुन: सौर मासो के नाम से भी बिना किसी परिवतन के होने लग गया। परिणामतः—वैदिक काल मे भी इन सौर एव चान्द्र तिथियो मे सगति बिठाना, किसी न किसी प्रकार, आवश्यक था, और, सो, स्वभावत. **प्रश्न उठता है—पूर्णिमा म विशिष्ट-नक्षत्रों के आधार पर वर्ष के आरम्भ अथवा ऋतुओं के योग की युक्ति पर स्वयं इन काल-गणना सम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार ही क्यों न निश्चित कर लिया जाय** ? हमारा अभिप्राय कहने का यह है कि कालगणना के ये सिद्धान्त किसी विशिष्ट समय की किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो पर आश्रित है। और इस प्रकार जिस-जिस ने भी इन गणनाओ को आधार मान कर कुछ निश्चित परिणाम निकालने की की है उनकी तिथियों मे परस्पर आसमान-पाताल का अन्तर है।—ऐसा क्यो ? **याकोबी** बॉन मे, तथा बाल गगाधर **तिलक** बम्बई मे, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र, दिशाओ से एक ही निष्कर्ष पर पहुचे कि ब्राह्मण-युग मे कृत्तिकाओ की स्थिति ('नक्षत्र-अभियान' की दृष्टि मे) उत्तरायण मे थी—जबकि कुछ वैदिक स्थलो मे उत्तरायण का योग (किसी प्राचीन पचाग के अनुसार) मृगशिरा के साथ पडता था[1]—कृत्तिकाओ की ये दो प्रारभिक-स्थितिया ज्योतिर्गणना मे—अनुवर्तन के आधार पर—क्रमश २५०० ई० पू० तथा ४५००ई० पू० स्थिर होती है। यहा तक दोनो विद्वानो का निष्कर्ष एक है; किन्तु याकोबी, ऋग्वेद के सूक्तो को, वैदिक सभ्यता की परिपक्वावस्था मे रचित मानते हुए, उनका काल ४५०० ई० पू० मे मान कर ही सन्तुष्ट है, तिलक उसी नक्षत्र-स्थिति को १५०० वर्ष और-पीछे ले जाता है। याकोबी के अनुसार वैदिक-सूक्तो की रचना ४५००-२५०० ई० पू० मे होती रही—जिसके समर्थन मे विवाह के प्रकरण मे (गृह-प्रवेश के समय गृह्यसूत्रो मे) विहित वर द्वारा वधू को 'ध्रुव' नक्षत्र दिखाने का प्रसग लाता है. विवाह-विधि मे पति-पत्नी के अटूट सम्बन्ध के प्रतीक जिस 'उज्ज्वल नक्षत्र' को दिखाया जाता है उसका उदय गृह्यसूत्र के युग मे '**ब्रह्माण्ड-ध्रुव**' के इतना निकट होता था कि जैसे वह स्थिर ही हो!

किन्तु ग्रह-गणना के निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर हम यह जानते हैं कि ज्यो-ज्यों नक्षत्र-मण्डल की यह अक्ष-रेखा अपनी दिशा बदलती चलती है, ब्रह्माण्ड-'ध्रुव' नक्षत्र भी स्वय अपना स्थान क्रमश: बदलता चलता है—जिस परिवर्तन मे उसे ब्रह्माण्ड-वृत्त के ध्रुव-बिन्दु के गिर्द २३½° व्यासार्ध का एक चक्कर पूरा करने मे २६००० साल लग जाते है, अर्थात्—हर सितारा धीरे-धीरे प्रगति-मार्ग मे उत्तराभिमुख बढ़ता है और, अपने समय मे, सम्पूर्ण ग्रहमण्डल के लिए अ-चल ('ध्रुव') बन जाता है। किन्तु यह अवस्था बहुत कम ही आती है कि कोई चमकता हुआ सितारा 'मूल ध्रुव' के इतना निकट आजाय कि 'नि-ध्रुवि' मे और उसमे कोई अन्तर ही हम न जान सके ! आजकल ब्रह्माण्ड के 'उत्तरार्ध' मे एल्फा नाम का एक 'गौण' नक्षत्र 'ध्रुव-पुच्छ' से पृथक् हो कर हमारे लिए ध्रुव बना हुआ है। इस नक्षत्र को हम वैदिक युग का ध्रुव नही मान सकते, क्योंकि—आज से दो हजार वर्ष पूर्व—यह मूल ध्रुव से पर्याप्त दूरी पर था, (सो, उसे ध्रुव कहने की सम्भावना तब हो ही न सकती थी)। इस सम्भावना के लिए हमारी 'निकट तिथि' यदि कोई हो सकती है तो वह है २७८०ई०पू०—क्योकि तब एल्फा ड्रैकोनिस प्राय ५०० वर्ष लगातार अपनी उसी नि-ध्रुवि स्थिति मे अविचल स्थितिमान् रहा ! इसलिए, ध्रुव का नामकरण तथा विवाह मे ध्रुव का प्रत्यक्ष-दर्शन · इस प्रथा को हम ३००० ई० पू० के प्रथमार्ध मे नक्षत्र-गणना के आधार पर डाल सकते है। ऋग्वेद के विवाह-मन्त्रों मे अभी ध्रुव दिखाने की इस प्रथा का जन्म ही नही हुआ था, इसीलिए—याकोबी की स्थापना भी यही है कि ऋग्वेद की इस ध्रुव-मूल-क वैवाहिक प्रथा का काल मानव सभ्यता के इतिहास में ३००० ई० से पूर्व ही होना चाहिए[७]।

हम ऊपर बतला चुके है कि याकोबी और तिलक के इन निष्कर्षों का विरोध तब कितना हुआ था। कृत्तिकाओ की युक्ति के विरुद्ध भी सबसे बडा आक्षेप हमारा यही था कि—बाबाआदम के उस जमाने मे भारतीयो को नक्षत्रो की स्थिति से अभिप्रेत उनकी चन्द्रमापेक्षया, सूर्य की अपेक्षा से नही, दूरी व निकटता होती भी थी? और यह भी अब तो सिद्ध हो चुका है कि उस जमाने मे भारतीयो के उत्तरायण-दक्षिणायण विषयक ज्ञान का कोई प्रमाण—इन ग्रन्थो मे तो—नही मिलता। **शतपथ** २ १ २ ३ के जिस प्रकारण का अर्थ किया जाता है कि **ये कृत्तिकाए पूर्व से विचलित नहीं होतीं**, सम्भवत, कुल-पुरोहित का अभिप्राय वहा यही था कि ये कृत्तिकाए पूर्व मे उदित होती है, (जिसके लिए तीसरी सहस्राब्दी मे उन दिनो केवल उत्तरायण का ज्ञान ही आवश्यक सिद्ध होता है)। सही अर्थ इस वाक्य का यह भी हो सकता है कि पूर्व में पर्याप्त समय तक हर-रात इनको हर-कोई तब प्रत्यक्ष देख सकता था; **और यह स्थिति—११००ई०पू० पूर्व में थी**। नव-वर्ष की युक्ति के सम्बन्ध

में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि—क्योंकि भिन्न-भिन्न सहस्राब्दियो में कभी नव वर्ष का विधान वसन्त के साथ किया गया है तो कभी शरत् के साथ, वर्षा के साथ (और ये ऋतुएं भी वर्ष मे कभी तीन है कभी ५, ६): सो, इसमें भी उलझने की आवश्यकता नही ध्रुव नक्षत्र की युक्ति के सम्बन्ध मे भी भारी आक्षेप समय-समय पर उठते रहे है। हमारे कहने का अभिप्राय यह नही कि उन दिनो भारतवर्ष के नभोमण्डल पर ध्रुवपुच्छ-सप्तक मे से किसी एक नक्षत्र की सम्भावना ध्रुववत् स्थिर होने की थी ही नही। १२५० ई० के आसपास, और उसके बहुत देर बाद तक, ऐसे किसी-न-किसी ध्रुव की प्रामाणिकता हम स्वय सिद्ध कर सकते हैं। खैर, और न-ही ऋग्वेद मे ध्रुव-दर्शन की प्रथा का उल्लेख-न-होना हमे किसी निश्चित परिणाम की ओर पहुचा सकता है, क्योंकि—ब्राह्मणो मे तथा गृह्यसूत्रो मे आई सभी वैवाहिक प्रथाओ का सकेत ऋग्वेद मे आवश्यक नही। सो, इसी एक प्रथा के बारे मे किसी अपवाद की अपेक्षा हम क्यो करे ?

नक्षत्र-विज्ञान की इन युक्तियो के द्वारा तिलक और याकोबी वह सिद्ध न कर सके जो-कुछ सिद्ध करने के लिए कि वे चले थे, यद्यपि उनके विमर्शों का परिणाम इतना अवश्य हुआ कि आज विद्वज्जगत् उक्त समस्या पर सचमुच नये सिरे से सोचने लगा है कि क्या वैदिक सस्कृति को प्राचीनतर सिद्ध करने के लिए कोई अन्य प्रमाण भी सुझाये जा सकते है ; और, सचमुच, भारतीय इतिहास की व्यापक दृष्टि मे सोचने पर हमे कोई ऐसी युक्ति नही मिलती जो वैदिक वाङमय को तीसरी सहस्राब्दी, और भारतीय सस्कृति को चौथी सहस्राब्दी, ईसवी पूर्व पीछे धकेलने से हमे रोक सके। यदि कुछ निश्चित तथ्य आज हम इस काल-गणना के सम्बन्ध मे, कुछ निश्चित रूप मे, प्रस्तुत कर सकते है, तो वह यही कि—भारतीय इतिहास की राजनैतिक, साहित्यिक एव धार्मिक प्रगति के सम्बन्ध मे हमारा आधुनिक परिज्ञान मैक्समूलर की १२०० या १५०० ई० पू० की कल्पना का समर्थित नही कर सकता। जार्ज ब्यूलर के निष्कर्षो के बाद अब उक्त सिद्धान्त को यही ठप कर देना ही उचित प्रतीत होता है।'

अभिलेखो के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि तीसरी सदी ईसवी-पूर्व मे दक्षिण भारत आर्यो की राजनीतिक एव सास्कृतिक अधीनता मे आ चुका था। **बौधायन** तथा **आपस्तम्ब** आदि वैदिक सम्प्रदायो का जन्म दक्षिण मे हुआ। यह बात, उलटे, आर्यों की उक्त विजय को सातवी, आठवी सदी ईसवी पूर्व तक ले जाती प्रतीत होती है, क्योकि—सम्पूर्ण भारत पर आर्य अथवा ब्राह्मण सस्कृति रातो-रात यहा तक छा जाय कि सुदूर दक्षिण मे नवीन वैदिक वेदागो का प्रवर्तन उ चले—बुद्धि नही मानती। परन्तु, जैसा कि **ब्यूलर**' ने कहा है, "७००-६०० ई० पू०

में आर्यों की यह दक्षिण-विजय इस सिद्धान्त को (कि १२०० या १५०० ई० पू० मे वे भारत के उत्तरीय छोर पर और पूर्वी अफगानिस्तान मे बस चुके थे) सर्वथा उन्मूलित कर देती है, और यह कल्पना भी—कि इण्डो-आर्यन लोगों का वह कबीला जो वैदिक युग में आन्तरिक द्वेष-विद्वेष से सर्वथा शिथिल पड चुका था—विशीर्ण हो चुका था, पंजाब, आसाम और बर्मा के अतिरिक्त भारत के एक-लाख तेईस-हजार वर्ग मील क्षेत्र पर हावी हो गया, और जगह-जगह राज्यो की स्थापना करते हुए ५-७ सदियो की लघ्ववधि मे सम्पूर्ण भारत को एक-रूप कर गया : उपहासास्पद प्रतीत होती है। सबसे बड़ी मुश्किल शायद इस तथाकथित विजय की राह मे यह थी कि इन प्रदेशों मे बसने वाले लोग जंगली नही थे अपितु, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से, आर्यो की अपेक्षा किसी-दर्जे कम भी न थे। इस सफलता के लिए जो समय पर्याप्त समझ लिया गया है उससे दुगुने समय मे भी उसकी सिद्धि आसान नही लगती।"

इस सम्बन्ध मे कोई कह सकता है, और ओल्डनबर्ग[१०] ने सचमुच कहा भी है, कि ७०० वर्ष की अवधि, इस प्रकार, किसी भी राष्ट्र-व्यापी प्रगति के लिए पर्याप्त है : 'हम क्यो बडी आसानी से भुला देते है कि उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के विपुल भूखण्ड की काया इस ४०० साल मे कितनी पलट चुकी है ?" यह तुलना भी कुछ उपयुक्त नही जचती, क्योंकि—जिन जातियो और सभ्यताओं की मुठभेड अमेरिका में हुई थी, उनकी स्थिति भारतीय आर्यो-अनार्यो के उस प्राचीन सग्राम से बहुत भिन्न थी। **राजनीतिक स्थिति** भारत मे तब क्या थी—इसका कुछ परिचय ऋग्वेद में तथा **महाभारत-रामायण** मे उपवर्णित आर्यो के परस्पर कलहो, युद्धो के नैरन्तर्य मे हमे आज भी मिल सकता है। इन परिस्थितियों मे भारत की राष्ट्र-विजय उन दिनो बडी धीमी रफ्तार के साथ, एक कदम के बाद दूसरा उठाते हुए, ही सिद्ध हो सकती थी, और सचमुच यदि भारतीय इतिहास के दो प्राचीन युगो की हम परस्पर तुलना करे, तो—आर्यो की पूर्व की ओर और दक्षिण की ओर प्रगतियो मे भी हम आकाश-पाताल का अन्तर पाते है। ऋग्वेद के सूक्तो मे ये इण्डो-आर्यन लोग अभी भारत के सुदूर उत्तर-पश्चिम मे, और पूर्वी अफगानिस्तान मे, ही अपना [कुछ ठिकाना बना पाये थे, किन्तु—ऋग्वेद के उन्ही सूक्तो के विकास के लिए एक 'सदियो की' अवधि अपेक्षित है। भाषा की अकाट्य युक्ति की कसौटी पर ऋग्वेद मे भी पूर्व और उत्तर युग स्पष्ट है, क्योंकि—कुछ तथा-कथित ऋषियो की परिगणना अनुक्रमणियो मे ही नही, ब्राह्मणो मे भी, प्राचीन ऋषियो मे होने लग चुकी है। स्वय सूक्तों में ही पुरानी शैली का, पुराने सूक्तो तथा (पुराने) ऋषियों का, स्मरण किया गया है। ब्लूमफील्ड—ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि ऋग्वेद के४००००पदो मे ५००० आवृत्ति-मात्र है, जिसका अर्थ भी यही निकलता है कि—जब ऋग्वेद

का सम्पादन शुरू हुआ, उस युग के 'आधुनिक' कवि जहां-कहीं से पंक्तियां सुन कर उन्हें अपनी स्वतन्त्र रचनाओ मे समाविष्ट कर लिया करते थे ; सवाल अपनी-अपनी रुचि का है। इसके अतिरिक्त, ऋग्वेद मे तथा शेष वैदिक वाङ्मय में कितना अन्तर है—इसको एक बार फिर से सिद्ध करने की आवश्यकता नही। वही महान् अन्तर हम पुनः वैदिक गद्य और पद्य मे पाते हैं। दोनों युगों की सभ्यता में, संस्कृति मे, कितना परस्पर-भेद है। ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् युग का मूलाधार, वैदिक ऋचाएं ही नही, अन्य संहिताओं के 'अति प्राचीन' मन्त्र-तन्त्र भी है। बात यह है कि प्राचीन उपाख्यानो, गीतो एव 'मन्त्रो' की उस मूल भावना को लोक-परम्परा सर्वथा भुला चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऋग्वेद के सूक्तों मे संकलित एक ही उपाख्यान (शुन शेप) के दो रूपो की परस्पर तुलना ही इस प्रसग मे पर्याप्त होनी चाहिए।

तब ग्रन्थो को मौखिक परम्परा मे सुरक्षित रखा जाता था; न लिखने के साधन थे, न उसकी प्रथा थी। सो, इस सुरक्षा के लिए भी पर्याप्त समय चाहिए। गुरु-शिष्यो की कितनी परम्पराएं, कितनी पीढिया, महाकाल के गर्त मे विलुप्त हो चुकी होगी, जब—'युगान्तर' के उस विस्मृत लोक-वाङ्मय ने वैदिक परिषदो मे कुछ निश्चित रूप धारण किया होगा। **सार यह कि भाषा, साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से कितनी ही शतियों का अन्तर अपेक्षित है—पूर्व इसके कि जहां-तहां बिखरे वाङ्मय को संहृत करके सुरक्षित किया जा सके।** ऋग्वेद संहिता एक ऐसे ही युग का अवसान है, और, इसी प्रकार, ऋग्वेद मे और शेष संहिताओ तथा ब्राह्मणो मे एक और मन्वन्तर अपेक्षित प्रतीत होता है। स्वयं ब्राह्मणो मे ही—एक ब्राह्मण के एक ही सम्प्रदाय को अथवा उपसम्प्रदाय को ले लीजिये—गुरु शिष्यो की परम्परा (ओं) का अन्त होने मे ही नही आता, एक उन्ही के उदय और विकास के लिए भी कितनी सदिया चाहिए, .. इस वाङ्मय के प्रसार के लिए—ब्राह्मण-संस्कृति के प्रसार के लिए, धर्म-विज्ञान के प्रसार के लिए, और ब्राह्मण वर्ण के सर्वातिशायी आधिपत्य के लिए—एक पूरे युग की अपेक्षा है। स्वय उपनिषदो मे ही हम कितने युगान्तरो, कितनी पीढ़ियो—के संकेत सुरक्षित पाते हैं। इस प्रकार, **वेदों की उत प्रयत्न उषा से आरम्भ करके उपनिषदों की निशामुखी लालिमा में निलीयमान जिस महायुग को हम वैदिक वाङ्मय के नाम से जानते है,** उसमे—अर्थात् उस विपुल अवधि मे भी—सिंध और गगा के मध्य का कितना भारतीय प्रदेश हमारे इण्डो-आर्यन अपनी प्रभुता मे ला सके थे? **यदि उत्तर-पश्चिम से पूर्व में गगा के मैदान तक पहुंचने में इतनी देर लग सकती है तो मध्य-भारत और दक्षिण भारत को विजित करने के लिए कितना समय और चाहिए!** साराश यह कि—७०० साल की अवधि राष्ट्रो की सांस्कृतिक विजय-पराजय के लिए कोई पर्याप्त अवधि नही है।

कुछ और युक्तियां भी इनके अतिरिक्त दी जा सकती है। पांचवीं सदी ईसवी पूर्व में बौद्ध धर्म के अभ्युदय को इतिहास की एक निश्चित तिथि के रूप में निर्धारित करके, सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को बुद्ध से पूर्व निष्पन्न दिखलाने के लिए हम मैक्समूलर के सदा ऋणी रहेंगे। कुछ विद्वानों का विचार यह (रहा) है[12] कि प्राचीनतम उपनिषदों को छठी सदी ईसवी पूर्व से और पीछे ले जाने की आवश्यकता नहीं है; यद्यपि ओल्डनबर्ग[13] ने इस स्थापना का खण्डन करते हुए बड़े स्पष्ट रूप मे दिखाया है कि प्राचीनतम उपनिषदों मे तथा प्राचीनतम बौद्धवाङमय मे सदियों का अन्तर अपेक्षित है, और यह तो बौद्ध-वाङमय ही स्वयं कितनी-ही-बार स्वीकार कर चुका है कि न केवल ऋग्वेद और शेष तीन संहिताएं ही अपितु छहों वेदांग भी, और ब्राह्मण-ग्रन्थों में संग्रथित विपुल वाङमय एवं विज्ञान भी, बुद्ध से पूर्व अपने परिनिष्ठित रूप में आ चुका था। इसके अतिरिक्त, आज कितने ही नूतन अनुसन्धान प्राचीन भारत की धार्मिक दशा के सम्बन्ध मे नया प्रकाश डाल चुके है, जब कि—**मैक्समूलर के दिनों में हमारा ज्ञान ही इस क्षेत्र में इतना नगण्य था कि भारत की सम्पूर्ण धर्म-परम्परा को बुद्ध के जन्म तक उदित, विकसित, विस्मृत कर देने के लिए ७०० साल की संक्षिप्त अवधि को पर्याप्त समझा जा सकता था!** वेदो के विरुद्ध प्रतिक्रिया बुद्ध से सदियो पूर्व शुरू हो चुकी थी। कम-से-कम जैनों की परम्परा मे इस प्रतिक्रिया के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं; और जैन धर्म की संस्थापना ७५० ई०पू० मे हो चुकी थी—इस विषय मे जैनों की अन्यथा-विश्वसनीय कालबुद्धि और कालगणना को यहां (और यहीं पर?) झुठलाने की आवश्यकता नहीं। ब्यू'लर का तो यह विश्वास था ही कि वेदों (और ब्राह्मण-धर्म) की प्रगति तथा वेद-विरोध की प्रगति, दोनो, प्रायः समानान्तर ही होती रही है। दुर्भाग्यवश, एक निश्चित सिद्धान्त के रूप मे यह साधित करने से पूर्व ही ब्यू'लर की मृत्यु हो गई।

१९०७ में एशिया-माइनर के अन्तर्गत **बोगाज़कोई**[14] मे ह्यूगो विकलर की खुदाइयों ने ऋग्वेद तथा वैदिक संस्कृति के प्रश्न पर वाद-विवाद को जैसे फिर से जगा दिया है। प्राचीन हित्ती साम्राज्य की राजधानी के दबे 'प्राच्य' अवशेषों मे कुछ मिट्टी की मुद्राएं भी मिली है जिन पर १४वीं सदी ई० पू० के शुरू मे **हित्तियों और मितन्नियों के बीच हुई एक सन्धि** का उल्लेख एक राजकीय अनुशासन के रूप मे मिलता है। सन्धिपत्र पर, शपथ खाते हुए, दोनों जातियों ने प्राचीन बेबिलोनियन तथा हित्ती देवताओं के साथ मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्या को भी पुकारा है। प्रश्न उठता है कि—एशिया-माइनर के मितन्नियों मे ये वैदिक देवता कहां से पहुंच गये, और कैसे पहुंच गये? विद्वानों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक एडवर्ड मेयर के अनुसार ये देवता अविभक्त इण्डो-ईरानियन आर्यों के समय के अवशेष और है, (मेयर के ही अनुसार) भाषा और धर्म की एकता

को लिये थे, 'आर्यन' उन दिनो पश्चिमी मेसोपोटामिया और सीरिया के क्षितिज पर प्रकट हो चुके थे जबकि साथ ही साथ, दूसरी ओर—प्राय: समानान्तर, उत्तर-पश्चिम भारत मे भी आर्यों की एक शाखा पृथक्-रूप से विकसित हो चुकी थी—जिसका प्रमाण १५०० ई० पू० के आसपास रचित अथवा संकलित वैदिक सूक्तों मे हम पा सकते है। प्राय इसी प्रकार का ही एक विचार प्रो० जाइल्स ने भी प्रकट किया है, जब कि —ओल्डनबर्ग के मत मे—सन्धिपत्र में उल्लिखित ये देवता भारतीयो मे मिलती-जुलती किसी पश्चिमीय आर्य-जाति के देवता थे (दोनों 'आर्यों' का मूल स्रोत सम्भवत कोई **एक और प्राचीन परम्परा** रही होगी)। ओल्डनबर्ग ने इस प्रश्न को, अलबत्ता, नही छुआ कि ये आर्य लोग जरथुष्ट्र से पूर्व युग के ईरानी लोग थे अथवा कोई तीसरी ही जाति; कुछ हो, ओल्डनबर्ग की धारणा अडिग है कि 'बोगाजकोई के वर्तमान अनुसन्धान के आधार पर' वेदों को प्राचीनतर मानने की कोई नवीन आवश्यकता नही उठती।

अलबत्ता, यह सच है कि **वरुण, मित्र, इन्द्र और नासत्या** के इस संयोग की गवेषणा यदि कही हो सकती है तो वह भारतीयो के वेद-वाङमय मे ही। इसलिए हम याकोबी, कोनो और हिल्लीब्राट के इस विचार से सर्वथा सहमत है कि ये देवता विशुद्ध भारतीय वैदिक देवता ही हैं, इन्हे किसी और राष्ट्र या देश के देवता मानने की आवश्यकता नही। हा, इसके लिए—जैसे कि आर्य लोग पश्चिम की ओर से भारत मे आये, उसी प्रकार—हमे यह भी मानना ही पड़ेगा कि कुछेक टुकड़िया इन आर्यों की समय-समय पर वापिस (पश्चिम की ओर) भी जाती रही। इस वापसी का कारण युद्ध या बदला या वैवाहिक सम्बन्ध—कुछ भी हो सकता है। और हा, हम यह भी न भुला दे कि ऋग्वेद **के समय में भारत के आर्य भौगोलिक दृष्टि से भी, पूर्व की अपेक्षा, पश्चिम के निकट अधिक थे।** ऐतिहासिक काल गणना मे बोगाजकोई के अभिलेखो से जो-कुछ तथ्य हमे मिलता है, वह इतना ही है कि प्राय दूसरी सहस्राब्दी ईसवी पूर्व मे वैदिक देवताओ को पूजने वाले ये आर्य भारत के उत्तर-पश्चिम मे काफी समय से बस चुके होंगे क्योंकि इनकी कितनी ही उपजातिया १४०० ई० पू० के आसपास पश्चिम की ओर वापिस जा चुकी थीं, यह चीज ऊपर-ऊपर से देखने मे, बहुत मामूली-सी लगती है, किन्तु—एक निर्णायक युक्ति के तौर पर इसका महत्त्व बहुत है (यदि भावी अनुसन्धानो से बोगाजकोई के लेखो मे भारतीय 'गणना-ऽङ्क' हमे सयोगवश कल मिल जाए[15]!

वेद के सम्बन्ध में ३००० ई० पू० की इस तिथि का कुछभी आधार नहीं रह जाएगा यदि किसी तरह यह सिद्ध किया जा सके कि इण्डो-यूरोपियन जनगणों का वह मूल-वंश अभी उस तीसरी सहस्राब्दी में तितर-बितर नहीं हुआ था। इस कल्पना का सिरा प्राय उन्ही विद्वानो ने पकडा है जो भारतीय संस्कृति को अर्वाचीन-

से-अर्वाचीन सिद्ध करना ही अपना जीवन-ध्येय समझते है। हर्टल[15] का दावा है कि ऋग्वेद का निर्माण, उत्तर-पश्चिमी भारत में नही, ईरान मे हुआ था और कि उसके काल को जरथुष्ट्र (हर्टल द्वारा गृहीत तिथि ५०० ई० पू०) से बहुत इधर-उधर नही किया जा सकता। ह्यूमिङ[17] का दावा, तो इसमे भी कही बढ़-चढ कर है, क्योंकि—प्राचीन क्यूनिफार्म अभिलेखो मे आये राजाओं के नामों को वह इस हद तक तोड-मरोड देता है कि वे सचमुच भारतीय प्रतीत होने लगते हैं, और इन स्थापनाओं की 'सत्यता' पर वह निष्कर्ष निकालता है कि १००० ई० पू० के लगभग 'भारतीय लोग' आर्मीनिया की ओर से अफगानिस्तान मे आ बसे थे—जहा उन्होने ऋग्वेद की रचना की और, एक और युगान्तर मे, उन्हे भारत की ओर दुम दबा कर आगे-भागना पडा! ब्रुनहाफर की एक कल्पना का सहारा ले कर ह्यूमिङ्ग बडी आसानी से यह भी मान लेता है कि एक ग्रीक अभिलेख मे उल्लिखित सीथियनो का राजा कनितास (दूसरी सदी ईसवी पूर्व) और कोई नही ऋग्वेद का 'कानीत पृथुश्रवस्' (ऋग्वेद ८ ४ ६ २१; शाखा श्रौत० १६. २ २३) ही है—जिसका अर्थ दो शब्दो मे यह हुआ कि इन सूक्तो को सहिता का रूप, पूर्णरूपेण, अभी दूसरी सदी ईसवी पूर्व मे नही दिया जा सका था! (क्या वैदिक काल को अथवा ऋग्वेद की रचना को इससे भी अधिक अर्वाचीन सिद्ध किया जा सकता है?)

वेदों की अर्वाचीनता के सम्बन्ध मे यदि कोई निश्चित युक्ति उपस्थित की जा सकती है तो वह है वेद और **अवस्ता** का भाषागत एव धर्मगत परस्पर सम्बन्ध[18] धार्मिक समानताओ के साथ उधर असमानताए भी, उसी प्रकार की, कुछ कम नही है और, इसके अतिरिक्त—इन समानताओं की व्याख्या तो बडी आसानी से यह कह कर की जा सकती है कि भारतीय और ईरानी कितना लम्बा-अरसा किसी पूर्व-वैदिक, (पूर्व-अवस्तिक) युग मे एक अविभक्त परिवार के रूप मे—और फिर पडोसियो के रूप मे भी—रहते आये थे। भाषाओं की समानताओ की दृष्टि मे किसी भी नूतन परिवर्तन के लिए कोई निश्चित अवधिया नही बाधी जा सकती, क्योकि—भाषा-भाषा पर एक ही नियम लागू नही हो सकता। कुछ भाषाए ऐसी होती है जो अपना रूप बहुत जल्दी बदल लेती है, और कुछ ऐसी होती है जिनमे सदियो कुछ अन्तर नही आता। और यह अपरिवर्तन-शीलता[19] हम विशिष्ट धर्मों की अपनायी (ईश्वरीय!) भाषाओ मे विशेष रूप से साक्षित देखते भी है।

खैर, अन्य भाषाओ तथा उपभाशाओ के इतिहास से जो-कुछ विचार हमारे स्थिर हो पाये है, उनके आधार पर—हमे यह विश्वसनीय प्रतीत नही होता कि भाषाए दस, बीस, तीस सहस्राब्द बिल्कुल-ही न-बदले[20]। इस दृष्टि से—**भूगर्भ**

विद्या के व्यपदेश से, अथवा ग्रह-गणना की कल्पना से—वेदों को सोलह-हज़ार या पच्चीस-हज़ार ईसवी पूर्व तक पहुंचा देना महज एक खिलवाड़-सा प्रतीत होता है। इन तिथियों को स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा कि—**इतने विपुल मन्वन्तरों में भारतीयों की-सी प्रतिभा से सम्पन्न उस प्राचीन युग में व राष्ट्र में कुछ भी सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं हुआ !** इन गणनाओं की निस्सारता पुनः वैदिक संस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति की परस्पर तुलना में भी स्वतः-सिद्ध हो जाती है। और, इसके अतिरिक्त, मुख्यतया ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा के आधार पर निर्धारित पाणिनीय व्याकरण की तुलना अशोक के तीसरी सदी ईसवी पूर्व के अभिलेखों की भाषा के साथ जब हम करते हैं, तो दोनों की परस्पर-निकटता दोनों के बीच (गवेषकों द्वारा व्यर्थ प्र-क्षिप्त) सहस्राब्दियों के इस व्यवधान को एक-दम छूमन्तर कर देती है।

अन्त में, वैदिक काल-गणना के विषय में, परिणामतः, हमारे निष्कर्ष इन शब्दों में उपस्थित किये जा सकते हैं —

१. नक्षत्र-विज्ञान के आधार पर वैदिक काल-निर्णय कुछ निश्चित नहीं हो पाता, क्योंकि—ऐसे प्रकरणों की व्याख्या के सम्बन्ध में ही अभी तक पर्याप्त मतभेद है। सो—वैज्ञानिक दृष्टि से ये तिथियां कितनी-ही सही हों, काल-निर्धारण के लिए उनका मूल्य तब तक कुछ-भी नहीं—जब तक कि उक्त प्रकरणों के सम्बन्ध में विद्वान् एक-मत नहीं हो जाते।

२. क्यूनिफार्म अभिलेखों में अथवा बोगजकोई के सिक्कों में आये ऐतिहासिक तथ्य अपने आप में इतने अनिश्चित हैं, और वैदिक प्राचीनता का इण्डो-यूरोपियन युग के साथ परस्पर-सम्बन्ध भी एक ऐसी अस्थिर सी युक्ति है—कि जिसके आधार पर विद्वान् अद्यावधि नितान्त-विभिन्न निष्कर्षों पर पहुंचते रहे हैं। हां, एशिया-माइनर तथा पश्चिमी-एशिया के साथ भारतीयों के सम्बन्ध की युक्ति, अलबत्ता, वैदिक युग को दूसरी सहस्राब्दी ईसवी पूर्व से बहुत इधर नहीं ला सकती।

३. वेद और अवस्ता में, वैदिक और लौकिक में, (भाषा-गत) परस्पर सादृश्य-विभेद की युक्ति भी हमें किन्हीं निश्चित तथ्यों पर पहुंचाती प्रतीत नहीं होती।

४. अलबत्ता, भाषा की यही युक्ति हमें सचेत अवश्य कर देती है कि—व्यर्थ ही हम भूगर्भ-विद्या अथवा हिरण्यगर्भ-विद्या के झांसे में आकर वेदों को कहीं बीस-चालीस हज़ार साल ईसवी पूर्व तक लेजाने न लग जायं।

५. और, अन्त में, जब सभी युक्तियां—सभी साक्षियां—व्यर्थ सिद्ध हो जाती हैं, तब—वेद की तिथि के सम्बन्ध में एक ही प्रमाण बच रहता है—और वह

(प्रमाण) हैं: भारतीय वाङमय की ऐतिहासिक परम्परा का स्वतो-ऽभ्युदय: भारत के ऐतिहासिक पुराणपुरुष पार्श्व, महावीर, बुद्ध—सम्पूर्ण वैदिक वाङमय की सत्ता को अपने से पूर्व 'विनिश्चित' स्वीकार करते हैं, अर्थात् वैदिक वाङमय के किसी भी अंग को हम ५०० ई० पू० से इधर (किसी भी हालत में) नहीं ला सकते; और सुविधा के लिए यदि १२०० या १५०० ई० पू० को हम वैदिक वाङमय का अराम्भ-बिन्दु मान लें, तो—शेष साहित्य की विपुलता को हम ७०० वर्षों की छोटी-सी अवधि में फलता-फूलता नहीं देख सकते। सो, इस महान् साहित्यिक युग का श्रीगणेश २५००।२००० ई० पू० में हुआ और अन्त ७५०।५०० ई० पू० में—ऐसा मानने से हम दोनों प्रकार की अतियो से भी बच जाते हैं: इससे न तो वेद इतने प्राचीन हो जाते हैं कि उनमे पौरुषेयता का अंश निपट दुर्लभ हो जाय और न इतने अर्वाचीन ही कि उनकी साहित्यिक संगति निपट-'आधुनिक' प्रतीत होने लगे—'अ-वैदिक' ही प्रतीत होने लगे।

१ Weber · HIL, 2ff, 6ff.
२ *Oriental and Linguistic studies*, First Series, N. Y. 1872, 78.
३ *Indian Literatur and Kultur*, 291f.
४ *Uber die Erwahnung Sonnenfinsternissen im Rigveda.*
५ Thibaut · *Astronomie* (Grundriss III, 9), 12ff, Oldenberg : *Nakṣatra und Sieou*, NGGW 1909, 544ff, Macdonell and Keith *Vedic Index*, I, 527ff, Hommel ZDMG, 54, 1891, 592ff.
६ *Festgruss an Roth*, 68-93, Thibaut : *Ind. Ant*, 24, 85ff, Barth JA, 1894. 156ff; Tilak, *Report*, 1883-84, 38, etc , etc.
७ ZDMG, 50, p. 71.
८ *Ind. Ant.*, 23, 1894, 245ff.
९ *Ind. Ant*, 23, 247 ff.
१० ZDMG, 49, 479.
११ *Vedic Concordance, Rigveda Repetitions*, JAOS (29, 1908, 287ff, 31, 1910, 49ff).
१२ Hopkins JAOS, 22, 336n; Rapson : *Ancient India*, 181.
१३ *Die Lehre der Upanishaden und die Aufange des Buddhismus*, 288. 359.
१४ Garbe . Beitrage Zur indischen Kulturgeschichte, 27ff; Winckler : *Mitteilungen der Deutschen Orient Gesellschaft*, 35, 1907, 51; *Orientalist (Literaturzeitung*, 13, 1910, 289ff), *Mitteilungen der Vorderasiatischen Gesellschaft* 18, 1913, 114, 75ff).

१५ Rv, 8. 26.8 (cf. *Calcutta Review*, May 1924, 287ff). किन्तु क्या व्रात्यों और आर्यो में कोई 'ऐतिहासिक' सम्बन्ध तब (बन चुका) था ?

१६ *Indogerman* (Forschungen 41, 1923), 1923; *Die Zeit zoroaster*, 1924; *Die Himmelstore im Veda und im Avesta*, 7ff; Clemen : *Die Griechischen und lateinischen Nachrichten über die persische Religion*, 11 ft; Reichelt : *Festschrift fur Streitberg*, 282.

१७ Die Inder in Boghazkoi, in Prace Linguistyczne oflarowane Janowi Baudouinowi de Courtenay, 151ff.

१८ Macdonell ERE, 7, 1914, 49 ff

१९ Procedings of the Indian Oriental Conference, I xviiff, II 20ff; Quarterly Journal of the Mythic Society, XII, 1, p. 4.

२० A. C. Das · *Rigvedic India*, I, *Calcutta Review*, March 1924 (540ff). Mukhopadhyaya. *Journal of the Department of Science*, Cal Uni, 1923 ("The Hindu Naksatra").

अनुक्रम

अणुर्वै भूमा

'पद-वाक्य-प्रमाण'त्वात् (त्रि-तोऽपि सन्)

स उ आप्त्यः